प्रकाशक की ओर से

अट्ठाईसवीं किरण 'नारी-जीवन' के रूप में पाठकों के कर-कमलों में उपस्थित है। इसमें पूज्य श्री के नारी-जाति सम्बन्धी प्रवचनों के आधार पर विचारों, उपदेशों, शिक्षाओं और उदाहरणों का सकलन किया गया है। इसकी एक विशेषता यह भी है कि इसका सकलन और सम्पादन श्री कमला जैन 'जीजी' के द्वारा हुआ है। कमला 'जीजी' जैन समाज की एक उदीयमान लेखिका और कवयित्री हैं। उन्होंने इस, पुस्तक में समग्र नारी-जीवन सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। आशा है यह पुस्तक हमारे राष्ट्र और समाज की महिलाओं के लिए अत्यन्त उपयोगी साबित होगी।

पिछली पचीसवीं, छब्बीसवीं और सत्ताईसवीं किरण की भाँति यह अट्ठाईसवीं किरण भी समाज के अग्रगण्य श्रीमान् सेठ इन्द्रचन्द्रजी साहब गेलड़ा की पुण्यश्लोका मातेश्वरी श्रीमती गणेशबाई की स्मृति में उनके द्वारा प्रदान की हुई रकम से प्रकाशित हो रही है। श्री जवाहर विद्यापीठ के विशिष्ट उत्सव पर आपने ११११११) रु० प्रदान किये थे, जिसमें ६०१०) रु० साहित्य प्रकाशन के निमित्त थे और ५१०१) रु० जवाहर स्मृति-भवन के लिए। उस मूल रकम को कायम रखते हुए उससे नया-साहित्य प्रकाशित करने की हमारी नीति है, जिससे थ्[illegible] रकम से अधिकाधिक कार्य किया जा सके। इसी नी[illegible]

दो शब्द

ज्यादा कुछ कहना नहीं है। यह पुस्तक 'नारी जीवन' जिनके प्रवचनों के आधार पर लिखी गई है उन महात्मा पुरुष का परिचय किरणावली के पाठकों को देने की आवश्यकता नहीं है। पिछली सत्ताईस किरणें और दूसरा साहित्य ही उनकी महत्ता उदारता चिन्तनशीलता और मानव जीवन के प्रति उनके सर्वांगीण दृष्टिकोण का परिचायक है।

भारत के अधिकांश विचारक और विशेषतः आध्यात्मिक तत्त्वद्रष्टा नारी-जाति के प्रति उपेक्षा और घृणा का दृष्टिकोण लेकर चलते रहे हैं और आज भी उसका असर कुछ अंशों में, समाज में देखा जाता है। पर कहना चाहिए, स्व. आचार्य पू. श्री जवाहरलालजी महाराज ने विचारक और अध्यात्मवादी होते हुए भी नारी जाति के प्रति बड़ा ही सहानुभूति का रुख अपनाया है। उन्होंने मुक्त कंठ से नारी-जाति की महत्ता और विशिष्टता का प्रतिपादन किया है। पर जहाँ उन्होंने ऐसा किया वहीं नारी जाति की निर्बलताओं का भी दिग्दर्शन कराने में कोई कसर नहीं रक्खी और साथ ही उनके लिए प्रशस्त पथ का भी प्रदर्शन किया।

आचार्य श्री के प्रवचनों में, यह सब सामग्री बिखरी पड़ी है। प्रस्तुत पुस्तक में उसको संगृहीत करने का प्रयत्न किया गया है। यह न समझिए कि इसमें उस सब सामग्री का संकलन हो गया है। उनका प्रवचन-साहित्य इतना बिखरा और विशाल है कि उसमें से किसी भी एक विषय का पूरा संकलन करना आसान नहीं। फिर उसका बहुत-सा भाग तो अब भी अप्रकाशित पड़ा है और वह सब मुझे उपलब्ध भी नहीं था। इसके अतिरिक्त पुस्तक का क्रम भी तो काफी बड़ा-सा हो गया है। अधिक संकलन किया जाता तो पुस्तक और भी बड़ी हो जाती। अतएव जो कुछ भी लिखा जा सका है, उसी पर मुझे संतोष है और हमारी बहिनों ने इससे लाभ उठाया तो वह उनके जीवन के लिए बहुत कुछ दे सकता है।

संयोग अनुकूल हुए तो भविष्य में इस ओर फिर एक बार प्रयत्न किया जायगा।

यहाँ एक चीज स्पष्ट कर देना आवश्यक है। प्रस्तुत पुस्तक में जो भी विचार हैं, उन सबका उत्तरदायित्व प्रवचनकार आचार्य श्री पर नहीं है। आचार्य सन्तभाषा में ही प्रवचन करते थे। अत: यहाँ यदि कोई विषय या बात साधुभाषा के प्रतिकूल जान पड़े तो समझ लेना चाहिए कि वह उनकी ओर से नहीं है। सम्पादन करते समय वाक्यरचना भिन्न प्रकार की हो सकती है। फिर इसमें तो कुछ विषय बाहर से भी लिये गये हैं। इस दृष्टि से पूर्ण उत्तरदायित्व मेरा ही समझिये।

किरणावली के पाठकों के सुपरिचित, मेरे पिता पूज्य पं० श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने इस कार्य के लिए मुझे उत्साह दिया,

प्रेरणा दी, मेरा पथ-प्रदर्शन किया और बहुमूल्य सहयोग दिया है। मेरे लघुभ्राता चि० ज्ञानचन्द्र सारिया एम० ए० चि० विज्ञानचन्द्र बी कॉम साहित्यरत्न सुभाषचन्द्र विशारद (बी ए. प्रीवियस) ने तथा मेरी विदुषी भाभी सौ० सुशीला सारिया विशारद ने भी मुझे संकलन में काफी सहयोग दिया।

सोसायटी कन्या हाई स्कूल ब्यावर की प्रधानाध्यापिका श्रीमती [illegible] शान्तिदेवी जैन एम०, ए बी टी० ने इस पुस्तक की प्रस्तावना लिख दी है। मैं उनका आभार मानती हूँ।

बहुसंख्यक किरणों में से एक किरण नारी-जाति के लिए भी प्रकाश में लाने वाले जवाहर साहित्य समिति के उत्साही मन्त्री श्री चौंठियाजी सभी पाठिकाओं के धन्यवाद के पात्र हैं।

बस ज्यादा कुछ कहना नहीं है।

शुक्रवारी
सिवनी (म० प्र०)

—कमला जैन 'जीजी'
विशारद

प्रस्तावना

मुझे यह लिखते हुए बड़ा हर्ष होता है कि श्रीमती कमलादेवीजी ने "नारी-जीवन" पुस्तक लिखकर वास्तव में देश तथा समाज का बड़ा ही उपकार किया है।

किसी भी देश की उन्नति तथा विकास का उत्तरदायित्व बहुत अंशों में उस देश की स्त्रियों पर निर्भर होता है। इस पुस्तक में यही बताया गया है कि नारी का स्थान कितना ऊँचा है तथा कोई भी देश, समाज और राष्ट्र इसके बिना निर्जीव है।

भारतीय नारी का स्थान सदैव ही ऊँचा रहा है, भारतीय संस्कृति सदैव ही आध्यात्म-प्रधान रही है, किन्तु हम भारतीय नारी-महत्त्व को, मातृत्व के गौरव को, देश और समाज का कल्याण करने वाले आदर्शों को भूलती ही जा रही हैं। यह पुस्तक पुनः हम में भारतीय नारी के महत्त्व को उपस्थित करती है तथा मशीन-युग में हमें उसी आध्यात्मप्रधान-संस्कृति का अनुसरण कर जीवन को आदर्शमय बनाने का आदेश देती है।

यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि "नारी-जीवन" पुस्तक हमारे समक्ष आई, जिसमें यह बताया गया है कि बच्चों के जीवन को उच्च बनाने के लिए नारी का कितना महत्त्व है? समाज का उचित निर्माण और उत्थान करने के लिए स्त्री-स्वातन्त्र्य, प्रेममय जीवन,

मातृत्व का गौरव महिलाओं को प्रदान करने की कितनी आवश्यकता है।

इतना ही नहीं इस पुस्तक में अनेक व्यावहारिक विविध विषयों पर भी प्रकाश डाला गया है। नारी का कार्यक्षेत्र घर की चारदीवारी के बाहर भी है; स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता क्यों है इत्यादि। नारी की सहनशीलता का वास्तविक परिचय उसके मातृत्व-जीवन से मिलता है जिसके वात्सल्य का अस्तित्व निर्मल झरना कभी नहीं सूखता।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि इन सब अमूल्य विचारों को पढ़ने और मनन करने हम सबको लाभ होगा। जैसी परिस्थिति इस समय देश की हो गई है उसमें ऐसे ग्रंथों का विशेष मूल्य है उनके अध्ययन की विशेष आवश्यकता है।

शान्ति जैन
एम ए., बी टी
प्रधानाध्यापिका,
सोभाग्यवती गर्ल्स हाई स्कूल
ब्यावर।

विषय-सूची

भारतीय नारी

१ प्राचीन काल में स्त्री

किसी भी समय, किन्हीं भी परिस्थितियों में तथा किसी भी समाज में स्त्रियों का स्थान सदैव महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण करने मे उन्हीं का हाथ रहता है और यही व्यक्तित्व समाज व राष्ट्र का निर्माण करता है। परोक्ष रूप में राष्ट्र की उन्नति व अवनति स्त्रियों की स्थिति पर ही अवलम्बित है। अगर समाज में स्त्रियाँ शिक्षिता, सुयोग्य गृहिणी व आदर्श माता हैं तो सतान भी गुणवान्, वीर तथा बुद्धिशाली होगी। भारतवर्ष सदैव समाज में स्त्रियों को महत्त्वपूर्ण स्थान देता रहा है। सीता, सावित्री के आदर्श किसी भारतीय से छिपे नहीं। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में —

"स्त्रियों की पूजा करके ही सब जातियाँ बड़ी हुई हैं। जिस देश में, जिस जाति में, स्त्रियों की पूजा नहीं होती वह देश, वह जाति, कभी बड़ी नहीं हो सकी और न हो सकेगी। तुम्हारी जाति का जो इतना अध:पतन हुआ है उसका प्रधान कारण है इन्हीं सब शक्तिमूर्तियों की अवमानना"।

स्त्री के मातृत्व की पूजा भारतवर्ष का आदर्श रहा है। वैदिक काल में स्त्रियाँ समाज में किसी प्रकार से हीन न थीं। वे सदैव पुरुषों के समान अधिकारिणी थीं। उन्हें पठन-पाठन आदि सभी प्रकार की सुविधायें प्राप्त थीं। उन्हें 'अर्धांगिनी' कहा जाता था। इसी शब्द से उनका महत्त्व व उनके अधिकार स्पष्ट हैं। इसी प्रकार 'दम्पती' शब्द से भी समानता का बोध होता है। दोनों ही घर के स्वामी थे।

प्राचीन भारत स्त्रियों को बहुत महत्त्व देता था। जिनके आदर्श स्वरूप देवी देवताओं की मान्यता थी उनमें स्त्री रूप का महत्त्व भी विचारणीय है। विद्या की देवी सरस्वती धन की लक्ष्मी सौन्दर्य की रति, पवित्रता की गंगा आदि। इनके अलावा भी काली महाकाली दुर्गा पार्वती आदि कई देवियों की उपासना की जाती थी। इस प्रकार स्पष्ट है कि उस समय स्त्रियों को बहुत पवित्र उज्ज्वल दृष्टि से देखा जाता था। वर्तमान में भी इन देवियों को काफी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। बड़ी पवित्रता से इनकी पूजा की जाती है। वेदों में एक स्थान पर कहा गया है कि, हे वधू! जहाँ पर तू ब्याही गई है वहाँ की तू पूर्ण रूप से सम्राज्ञी है यह तेरा ही साम्राज्य है तेरे समस्त कुटुम्बीजन उस राज्य में सन्तुष्ट रहें।

इस प्रकार परिवार में वधू का स्थान काफी ऊँचा था। पर्दे की प्रथा तो उस समय नाम मात्र को भी न थी। स्त्रियाँ धार्मिक वादविवादों में निर्संकोच भाग लिया करती थीं। विदुषी गार्गी का उदाहरण देना इसके लिए पर्याप्त होगा। अधिकांश राजकाज में भी भाग लिया करती थीं। बहुत समय

बाद तक भी यह प्रथा प्रचलित रही। राज्यश्री बराबर राजसभा में उपस्थित रहती थी तथा परामर्श भी देती थी।

स्त्रियाँ उच्च शिक्षा भी प्राप्त करती थीं। कालीदास तथा उसकी पत्नी की प्रारम्भिक कथा बहुत प्रचलित है। गार्गी, मैत्रेयी, लोपामुद्रा, आदि कई ऋषिकाएँ थीं जिन्होंने वेदों की ऋचाए भी लिखी हैं। जैन शास्त्रों में भी ऐसी महिलाओं के नाम भरे पड़े हैं जो बहुत विदुषी थीं। चन्दनबाला, मृगावती, ब्राह्मी, सुन्दरी आदि १६ सतिया तो थीं ही इनके अलावा भी कई आर्याए थीं जो बहुत विदुषी थी। आज कल के कुछ लोग चाहे इन बातों में विश्वास न करें, पर इनसे स्त्रियों की समानता के अधिकार की सिद्धि मे बाधा नहीं पड़ सकती।

आत्मिक विकास की दृष्टि से भी स्त्रियाँ पुरुषों के ही सदृश एक ही कार्यक्षेत्र में रहती थीं। याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी का सवाद प्रसिद्ध है। मैत्रेयी ससार के समस्त ऐश्वर्य को तुच्छ समझती थी, अध्यात्मविकास को जीवन का सब से बडा ध्येय मानती थी। इस प्रकार आध्यात्मिक ज्ञान के साथ ही साथ धार्मिक व सामाजिक क्षेत्र में भी स्त्रियों को अच्छा स्थान प्राप्त था।

सीताजी के दुबारा बनवास के बाद जब राजसूय यज्ञ होने लगा तब सीताजी की उपस्थिति उस यज्ञ में आवश्यक समझी गई। एक स्वर्ण-मूर्ति बनवा कर ही उस अभाव की पूर्ति करली गई। राज्याभिषेक के समय राजा व रानी दोनों का अभिषेक किया जाता था। माता व पिता दोनों मिलकर कन्यादान करते हैं, अकेला पिता ही कन्यादान नहीं कर सकता।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि उस समय सामाजिक, धार्मिक व राजनैतिक क्षेत्र में स्त्रियों को समान अधिकार प्राप्त था। उनके मातृत्व के गौरव की सदैव पूजा होती थी। वे अपनी विद्वत्ता एवं प्रतिभा के संस्कार अपनी संतानों पर अंकित कर राष्ट्र का भार वहन करने योग्य गुणवान तथा वीर संतान उत्पन्न कर अपना कर्त्तव्य पूर्ण करती थीं।

२ मध्यकाल में स्त्री

पर धीरे धीरे मध्यकाल में परिस्थितियाँ कुछ बदलती गईं। मध्यकाल में स्त्रियों को स्वतंत्रता उतनी न रही जितनी प्राचीन काल में उन्हें मिलती थी। वह पूज्य दृष्टि भी वैसी न रही। पुरुष की स्त्री के प्रति पवित्र भावधारा अब विपरीत दिशा की ओर बहने लगी। जिन आदर्शों के द्वारा देश व समाज का कल्याण हो सकता था उन्हें लोग भूलने लग गए। पहिले स्त्रियों में जो दिव्य गुण थे वे ही अब कमजोरियों में परिणत होने लगे। स्त्री शारीरिक दृष्टि से पुरुष की अपेक्षा कुछ कमजोर थी अतः पुरुष उसकी रक्षा करने में कुछ गौरव का अनुभव करता था। धीरे धीरे धार्मिक दृष्टि से भी स्त्री के अधिकार कम हो गए। अतः पुरुष स्त्री को एक साधारण दासी के रूप में समझने लगा। जो स्त्री पहिले सम्राज्ञी थी उसका स्थान बहुत हीन हो गया। पहिले जो स्त्रियाँ अपनी योग्यता द्वारा समाज धर्म व राष्ट्र का नेतृत्व कर सकती थीं वे अब कमजोरियों की खान होकर निर्बल पराधीन व विद्रूप हो गईं। प्राचीन

आदर्श भी पूर्ण रूप से भुला दिया गया। धीरे धीरे परिस्थितियाँ और भी बिगड़ती गईं। स्त्री की स्वतन्त्र विचारशक्ति तथा व्यक्तित्व का लोप-सा हो गया।

नये आदर्श बिना सिर पैर के बना लिए गए तथा प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष ने अपने अधिकारों को असीम बना लिया। मनुस्मृति में लिखा है:—

अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम्।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे॥
पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥

स्त्री की परिस्थिति का सजीव चित्र इस में स्पष्ट है। स्त्रियों को परतन्त्र रखना चाहिए। पुरुषों को चाहिए कि वह पत्नियों को अपने वश में रक्खें। कौमारावस्था में पिता कन्या की रक्षा करता है, यौवनावस्था में पति रक्षा करता है तथा वृद्धावस्था में पुत्र। स्त्रियों को स्वतन्त्रता कभी नहीं मिलनी चाहिए।

स्त्रियों को सर्वदा अविश्वास की दृष्टि से देखा जाने लगा। उन्हें पुरुषों के सदृश अधिकार पाने के सर्वथा अयोग्य समझा जाने लगा। आठ प्रकार के विवाहों में से आसुर राक्षस तथा पैशाच भी माने गये। यदि पुरुष किसी स्त्री का जबर्दस्ती अपहरण भी करले तो भी वह उसके साथ विवाह करने का अधिकारी है। बौद्ध संघ में पहिले तो स्त्रियों को भिक्षुणी होने की मनाई थी पर जब उन्हें आज्ञा दे दी गई तब भिक्षुओं से अधिक कड़े नियमों का निर्माण किया गया।

पहिले स्त्रियाँ विस्तृत पवित्र कार्यक्षेत्र में थीं किन्तु मध्य-युग का वातावरण अत्यंत संकुचित विषमतायुक्त अविश्वास-पूर्ण तथा हीन था। उनकी शारीरिक, मानसिक तथा धार्मिक सभी प्रकार की उन्नति को रोक कर उनका स्थान घर तक ही सीमित कर दिया गया। पति की सेवा ही उसके जीवन का एक मात्र पवित्र उद्देश्य निश्चित हो गया। कहा गया:—

"पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया"

पतिसेवा ही स्त्री का गुरुकुल में रह कर शिक्षा प्राप्त करना है। गृहकार्य ही उसका यज्ञ व अग्निहोत्र है।

पर इतना सब होते हुए भी कहीं कहीं स्त्रियों के प्रति पूज्य भाव की झलक मिलती है। जैसे:—

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता"

अर्थात् जहाँ स्त्रियों का सम्मान किया जाता है वहाँ देवताओं का निवास होता है। इस वाक्य में पुराने आदर्श का स्पष्ट प्रतिबिम्ब है पर ऐसे कुछ वाक्य सिर्फ स्त्रियों की गौरव गरिमा ही करते रहे। उनकी स्थिति तथा अधिकारों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

इस समय तक स्त्रियों की हालत काफी खराब हो चुकी थी उनकी विद्वत्ता व्यक्तित्व विचारशक्ति पांडित्य काफी क्षीण हो चुका था पर यह सब पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हुआ था। उनकी शक्तियों पर एक आवरण-सा आ गया था, जिससे

अपनी शक्ति व योग्यता का उचित उपयोग वे नहीं कर सकती थीं। बौद्ध ग्रंथों में कई विदुषी भिक्षुणियों का उल्लेख है।

३ राजपूतकाल में स्त्री

राजपूतों के समय में भी स्त्रियों की वीरता तथा शौर्य का पूर्ण रूप से नाश नहीं हो गया था। रानी दुर्गावती, लक्ष्मीबाई आदि के उदाहरण भारतीय इतिहास में सर्वदा अमर रहेंगे। राजपूत स्त्रियों की सतीप्रथा विश्व के समस्त भारतीय ललनाओं के त्याग व वीरत्व का ज्वलंत उदाहरण है। मुगलों के आक्रमणों में उनकी जीत हो जाने पर अपने सतीत्व की रक्षा के लिए वे स्वतः ही अग्नि में जल कर भस्म हो जाती थीं। स्त्रियों के अनुपम जीवित त्याग के ऐसे उदाहरण विश्व में कहीं भी नहीं मिल सकते।

स्त्रियों की स्थिति का पतन हो रहा था पर प्राचीन आदर्शों की छाप उनमें स्पष्ट लक्षित होती है। प्राचीन युग के उन पवित्र आदर्शों को पुरुष भूलने लग गये थे पर स्त्रियों के हृदय-प्रदेश के एक कोने में वे सदैव प्रतिध्वनित होते रहे।

४ महिलामर्यादा का ह्रास

प्राचीन आदर्शों के बचे खुचे अंश आखिर कब तक समय व परिस्थितियों के थपेड़ों से अपने को सुरक्षित रख सकते थे? शीघ्र ही वे धराशायी हो गये। स्त्री समाज का भाग्य-सितारा भी अस्त हो गया। उन्हें परतन्त्रता की बेड़ियों में

अच्छी तरह जकड़ा गया। उनके समस्त अधिकार छीन लिये गये। परिवार तथा समाज में कहीं स्त्रियों का स्वतन्त्र अस्तित्व न रह गया। समाज के अत्याचारों व अन्यायों से वे पूरी तरह ग्रस्त हो गईं। पग पग पर कठोर यातनाएं सहते हुए भी उनकी आहें समाज का हृदय द्रवित न कर सकीं। मानव न समझ कर पशुओं की तरह उनके साथ व्यवहार किया गया। कहीं कहीं तो पशुओं से भी बुरी हालत उनकी हो गई। जानवरों को भी, कम से कम पूरा परिश्रम करने पर भर पेट भोजन प्रेम से प्राप्त, हो ही जाता है पर स्त्रियों को वह भी दूभर हो गया।

जहाँ पहले गृहलक्ष्मी 'गृहस्वामिनी' आदि आदर सूचक शब्दों द्वारा उनका सम्मान किया जाता था वहाँ मनुष्य स्त्रियों के लिये पैर की जूती जैसे अनादर वाचक शब्दों का प्रयोग करते हुए भी लज्जा का अनुभव न कर अपने को अधिक पुरुषत्वमय समझने लगे। इसे गिरी पशुता न समझी जाय तो और क्या समझा जाय।

पुरुष, स्त्री व समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को तो भूल ही गए थे वे स्त्री को एक मनोविनोद व सुख का साधन मात्र समझने लगे। जो स्त्री जितना अधिक पुरुष को शारीरिक या वैषयिक आनन्द प्रदान कर सके उतनी ही वह उसकी प्रेमपात्री रही। जो आत्मसमर्पण द्वारा पुरुष की कामलिप्सा को पूर्ण नहीं कर सकी उसके साथ बहुत अमानुषिक व्यवहार किया जाने लगा।

बाल विवाह की प्रथा भी स्त्री जाति के पतन में बहुत सहायक हुई।

"अष्टवर्षा भवेद् गौरी, नववर्षा तु रोहिणी,
दशवर्षा भवेत् कन्या, अत ऊर्ध्वं रजस्वला।"

यह सिद्धान्त लोगों को बहुत मान्य एव रुचिकर प्रतीत हुआ। कन्याओं को गुणवती व शिक्षिता बनाना तो अलग रहा, अल्पवय में उनका विवाह करना ही उन्हें सब से अधिक हितकर प्रतीत हुआ। मानों विवाह के अलावा विश्व में लड़कियों के लिए अन्य महत्त्वपूर्ण वस्तु है ही नही। इस अज्ञानता का प्रभाव बहुत दूषित रहा। जहाँ दो चार वर्षों की उम्रवाली कन्याओं के विवाह होने लगे वहाँ आठ दस वर्ष की उम्र वाली विधवाओं की कमी न रही। जिस अवस्था में वे दुधमु ही अबोध बालिकाएँ सरलतावश विवाह को समझती भी नहीं, उसी उम्र में उनका विधवा हो जाना कितना दयनीय होगा।

ऐसी परिस्थितियों में आजन्म ब्रह्मचर्य पालन भी असभव है। ब्रह्मचर्य कोई जबर्दस्ती की वस्तु नहीं। मानव-सुलभ भावनाओं को तो नहीं दबाया जा सकता। जहाँ बड़े भारी तपस्वी सदाचारी विश्वामित्र भी मेनका के समक्ष कामवासना को वश में न कर सके, वहाँ इन भोली भाली कन्याओं से क्या आशा की जा सकती है कि वे अपने सदाचरण द्वारा अपने हृदय को पवित्र व निष्कलक रख सकें। परिणामस्वरूप समाज में दुराचार व वेश्यावृत्ति बढने लगी। आर्थिक विषमता भी इसमें काफी सहायक रही।

पहिले जब स्त्रियाँ सुशिक्षित तथा सुसस्कृत थीं, वे विवाहित जीवन तथा पतिव्रत के आदर्श को समझ कर उसके अनुसार आचरण करने का पूर्ण प्रयत्न करती थीं। उसी के फल-

स्वरूप पति की मृत्यु के उपरांत अपने जीवित रहने की अपेक्षा मृत्यु का आलिंगन अधिक उपयुक्त समझ कर अपने आपको अग्नि में जला कर भस्म कर देती थी। यद्यपि यह धारणा या प्रथा घोर अज्ञान का ही फल थी, मगर बिल्कुल स्वेच्छा से थी। किसी भी प्रकार की जबर्दस्ती इस सम्बन्ध में करना अनुचित समझा जाता था। क्योंकि जबर्दस्ती किसी स्त्री को जल मरने के लिए बाध्य करना मानव हिंसा से किसी भी हालत में कम न था। पर धीरे धीरे लोग पाशविकता की सीमा को भी उल्लंघन कर बैठे। पति की मृत्यु के साथ साथ पत्नी को भी चिता में जलाने के लिए विवश कर दिया जाने लगा। एक तरफ अबोध, पर्दे में बन्द पराधीनता में जकड़ी हुई, पुरुष के अत्याचारों से त्रस्त बालिकाओं का करुण क्रंदन और दूसरी ओर विधवाओं के रुदन तथा चिता पर बैठी हुई बालिकाओं के करुण चीत्कारों से समाज का अणु अणु सिहर उठा। धीरे धीरे इन पाशविक अत्याचारों की प्रतिक्रिया के लिए पुकारें उठने लगीं।

वर्त्तमान युग में महिला

इन्हीं बुराइयों को दूर करते हुए, किन्हीं अंशों में समाज सुधार की भावनायें उठाते हुए वर्तमान युग का प्रारम्भ होता है। यद्यपि कुछ सुधार होना प्रारम्भ हो रहा है, पर जैसा होना चाहिए वैसा नहीं। सती प्रथा को बन्द कर दिया गया। इसके आन्दोलन को उठाने वाले सर्वप्रथम राजा राममोहनराय थे। ऐसी पाशविक क्रूरतायें मानव समाज के लिए अत्यन्त लज्जास्पद थीं अतः सरकार को इसके विरुद्ध नियम बनाने को बाध्य किया गया।

बालविवाहों को रोकने के लिए भी प्रयत्न किए गए। 'शारदा एक्ट' के द्वारा ये गैर कानूनी घोषित हो गए। आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए भी आवाज उठाई गई। पैतृक सम्पत्ति में स्त्रियों के अधिकार का प्रश्न भी आजकल महत्त्वपूर्ण हो रहा है।

इस प्रकार स्त्रियों के अधिकारों की प्राप्ति के लिए बड़े जोरों से प्रयत्न हो रहा है। इस युग को प्रतिक्रिया का युग कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। स्त्री समाज भी सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक क्षेत्र में अपने अधिकारों के लिए लालायित है। हीन मनोवृत्ति तथा अत्याचार बर्दाश्त करने के लिए अब स्त्रियाँ तैयार नहीं हैं। पुरुषों के बराबर ही रहना उनकी शिक्षा का मुख्य ध्येय है। कम से कम शिक्षिता स्त्रियाँ तो पुरुषों के अधीन रहना कभी पसन्द नहीं करतीं। वे देश व समाज के प्रश्नों को हल करने के लिए पुरुषों के समान ही अपने को सिद्ध करना चाहती हैं। उच्च शिक्षिताओं के सिवाय साधारण शिक्षिता स्त्रियाँ भी अपने अधिकारों को समझने लगी है। आधुनिक राजनीतिक तथा सामाजिक आन्दोलनों में सभी प्रकार की स्त्रियों का भाग लेना इसी मनोवृत्ति का परिचायक है।

भविष्य

स्त्री और पुरुष समाज के दो अविभाज्य अंग हैं। दोनों की समान रूप से उन्नति और जागृति के बिना समाज की उन्नति असम्भव है। क्योंकि अशिक्षिता एवं पिछड़ी हुई स्त्री-जाति राष्ट्र के लिए गुणवान एवं वीर सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकती। अत स्त्री जाति का उत्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

यह भी निश्चित है कि परतन्त्रता में कभी भी सुख और उन्नति नहीं हो सकती। अतः स्वतन्त्र वातावरण ही जागृति के क्षेत्र का पहला कदम होगा। कई लोगों की दृष्टि में सम्भवतः स्त्री-स्वतन्त्रता अनुपयुक्त हो पर किसी भी दृष्टिकोण से यह भावना दूषित नहीं पर यह आवश्यक है कि स्वतन्त्रता का अनुचित उपयोग न हो। यह तो जागृति का एक साधन मात्र, है अन्तिम लक्ष्य नहीं। भारतीय आदर्शों को समझना तथा उसके अनुसार आचरण करना ही स्वतन्त्रता का सफल परिणाम होगा। स्वतन्त्रता के भारतीय और पाश्चात्य आदर्शों में बहुत विभिन्नता है। पाश्चात्य सभ्यता में स्वतन्त्रता अनियन्त्रित तथा ऊँचे आदर्शों से रहित है। *आध्यात्मिक सुखों को त्याग कर शारी-*रिक सुख प्राप्ति ही उसका लक्ष्य है। मानवसुलभ गुण जैसे विनय, लज्जा धैर्य आदि को वहाँ महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं। ऐसा दृष्टिकोण भारतीय संस्कृति से मेल नहीं खाता। योरोप में सामाजिक जीवन में चाहे जैसी सफलता हो पर भारतवर्ष में इन सिद्धान्तों के अनुसार सफल गृहस्थ जीवन नहीं हो सकता तथा आध्यात्मिक रुचि तो इसमें कम से कम पैदा नहीं की जा सकती। और वही भारतीय आदर्श का प्राण है। भारत की उच्च शिक्षिता स्त्रियाँ इसी पाश्चात्य संस्कृति के प्रवाह में बही जा रही हैं। नाना प्रकार की विभिन्न विलास सामग्रियों से अपने को सुसज्जित रखने में ही अपनी शिक्षा और योग्यता का उद्देश्य समझती हैं। *वे सीता और सावित्री बनने की अपेक्षा* सिनेमा अभिनेत्री बन कर अपने सौन्दर्य तथा अश्लील अभिनय एवं नृत्यों द्वारा जनता को आकर्षित करने में ही अपने कर्त्तव्य की इति श्री समझती हैं। कला की उपासना और अश्लील सौन्दर्य प्रदर्शन भिन्न वस्तु है।

इस प्रकार की स्वतन्त्रता आध्यात्मिकता से दूर रखकर विलासिता सिखाती हैं, मर्यादा का उल्लघन कर अनियन्त्रित उच्छृखलता को प्रेरित करती है। यह भारतीय आदर्श के सर्वथा विपरीत है। पाश्चात्य सभ्यता का ऐसा अधानुसरण भारत के लिए हितकर सिद्ध नहीं हो सकता।

योरोप में महिलाओ को प्रारभ से ही आजीविका की चिन्ता करनी पड़ती है। उनकी शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य धनोपार्जन ही होता है। ऐसी अवस्था में स्त्री और पुरुष दोनों प्रतिद्वन्द्वी हो जाते हैं। भारतीय गार्हस्थ्यव्यवस्था के समान पूर्ण रूप से सुचारु कार्य विभाजन न होने से वहां कौटुम्बिक जीवन में शाति एव सुख का अभाव है।

पुरुष और स्त्री की स्पर्धा मे ही स्वार्थ भावना अतर्हित हो जाती है। न पुरुष स्त्री के लिए स्वार्थ त्याग कर सकता है और न स्त्री, पुरुष के लिए। जहा इतने भी आत्मसमर्पण की भावना न हो वहा दाम्पत्य जीवन कैसे सुखी और सन्तुष्ट हो सकता है? केवल आर्थिक स्वतन्त्रता ही तो जीवन को सुखमय बनाने के लिए पर्याप्त नहीं। किन्हीं परिस्थितियों में यह दम्पती के हृदयों में वैमनस्य बढाने में सहायक भी हो सकती है। वहा स्त्री जाति की स्वतन्त्रता ही ने पारिवारिक सुखों पर पानी सा फेर दिया है। महिलाएँ उसका उचित उपयोग नहीं करतीं। जहा दोनों के हृदयों मे एक दूसरे के प्रति तनिक सी भी त्याग और बलिदान की भावना न हो वहा कौटुम्बिक जीवन मे सरसता की आशा किस प्रकार की जा सकती है? विचारों की थोड़ी सी विभिन्नता शीघ्र ही हृदयों में कटुता व मलिनता उत्पन्न कर सकती है। योरोप में ऐसी परिस्थितियाँ अत्यत भीषण रूप

प्रारम्भ कर चुकी हैं। विचारक गण अपने मस्तिष्क की शक्ति को इन समस्याओं को सुलझाने में लगा रहे हैं, पर यह विषय मस्तिष्क का न होकर हृदय का है। जब तक समाज की विशेष रूप से महिलाओं की मनोवृत्तियों में परिवर्तन नहीं हो जाता कौटुम्बिक जीवन में सुधार की आशा असम्भव है।

ठीक ऐसी ही परिस्थितियां अभी भारतवर्ष में होती जा रही हैं। ज्यों ज्यों स्त्री शिक्षा का प्रचार होता जा रहा है महिलाओं की सामाजिक व आर्थिक स्वतंत्रता के नारे लगाए जा रहे हैं। पाश्चात्य सभ्यता की चमक भारतीय महिलाओं के सरल नेत्रों में एक विचित्र सा जादू कर रही है व चकाचौंध होकर स्थिर दृष्टि से कुछ सोच भी नहीं सकतीं। अभी तक तो यही दिखलाई पड़ रहा है कि हमारी शिक्षा पाश्चात्य सभ्यता की ओर जा रही है। कोरी आर्थिक स्वतन्त्रता से जीवन में जो नीरसता तथा कर्कशता आ सकती है उसी के लक्षण यहां भी दिखाई पड़ने लग गए हैं। संभवतः इस प्रकार की शिक्षा दाम्पत्य जीवन को सरस एवं सुन्दर बनाने में अपूर्ण रहेगी। शिक्षिता स्त्रियां स्वाभाविक रूप से पहिले से ही कुछ आत्म गौरव का अनुभव करती हैं जिसके कारण पति के प्रति सहज प्रेम और वह आदर भाव नहीं होता जो सफल दाम्पत्य-जीवन का प्राण है।

हमें फिर विद्यालयों के पाठ्यक्रम की शिक्षा के अलावा ऐसी शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए जो क्रियात्मक रूप से सरस कौटुम्बिक जीवन के लिए उपयोगी सिद्ध हो सके। केवल अर्थ-प्राप्ति ही तो जीवन को सुखी नहीं बना सकती। निर्धन पुरुष भी श्रीमन्तों की अपेक्षा अधिक सन्तुष्ट, निश्चिंत तथा

सुखी रह सकते हैं। प्रश्न तो हृदय में प्रेम और सहानुभूति का है। जहा पवित्र प्रेम हो वहा कैसी भी परिस्थिति में जीवन सरस रहता है।

हम अभी यह अनुभव नहीं कर रहे हैं कि आर्थिक स्वतन्त्रता के साथ साथ स्त्री के प्रतिस्पर्धा के क्षेत्र में प्रवेश करने पर उसकी भावनाओं में स्वार्थपरता आने की अधिक सम्भावना है। ठीक योरोप की तरह। लेकिन स्त्रियों को तो आत्मसमर्पण, प्रेम और त्याग की सजीव प्रतिमा होना चाहिए। आर्थिक प्रश्न तो यहां उपस्थित ही नहीं होना चाहिए। जीवन के इन बहुमूल्य गुणों को खोकर थोड़ी सी स्वतन्त्रता प्राप्त की तो वह बिल्कुल नगण्य है। इन गुणों से जीवन में जो शांति, सुख, सन्तोष एव सरसता प्राप्त हो सकती है वह बहुत सा अर्थ सचय करने में भी नहीं। भौतिकवादी दृष्टिकोण से अर्थ को ही जीवन की सबसे मुख्य वस्तु समझ लेना बड़ी भारी भूल है। स्त्री जाति को इससे दूर रखने की आवश्यकता है। उनके लिए सब से मुख्य वस्तु तो प्रेम, सहानुभूति, आत्म-समर्पण तथा विनय द्वारा आदर्श पत्नी तथा आदर्श माता बनकर राष्ट्रोत्थान क लिए वीर, तथा गुणवान सन्तान उत्पन्न करने म ही जीवन की सार्थकता है।

महिला-महिमा

स्त्रियों को हीन समझ लेने से ही आज भारत के प्राचीन गौरव से लोग हाथ धो बैठे हैं। जिस समय भारत उन्नति के पथ पर था उस समय का इतिहास देखने से पता लग सकता है कि तब स्त्रियों को किस उच्च दृष्टि से देखा जाता था और समाज में उनका कितना ऊँचा स्थान था। पश्चात् जैसे जैसे

पुरुष स्त्रियों का सम्मान कम करते गए, वैसे वैसे ही स्वयं अपने सम्मान को भी नष्ट करते गए। राष्ट्र में नवीन चैतन्य लाना स्त्रियों की उन्नति पर ही निर्भर है।

कई लोगों ने स्त्री समाज को पंगु कर रखा है, या यों कहो कि पंगु बना रखा है। यही कारण है कि यहां सुधार आन्दोलनों में पूरी सफलता नहीं होती। यदि स्त्रियों को इस प्रकार तुच्छ न समझ कर उन्हें उन्नत बना दिया जाय तो जो सुधार आन्दोलन आज अनेक प्रयत्न करने पर भी असफल रहते हैं, फिर उन्हें असफल होने का कोई कारण ही न रहे।

स्त्रियों की शक्ति कम नहीं है। जैन शास्त्र में वर्णन है, कि स्त्रियों की स्तुति स्वयं इन्द्रों ने की है और उन्हें साक्षात् देवी कहकर त्रिलोकी में उत्तम बताया है। त्रिलोकीनाथ को जन्म देने वाली स्त्रियां ही हैं। भगवान् महावीर जैसे को उत्पन्न करने का सौभाग्य इन्हीं को प्राप्त है।

स्त्री पुरुष का आधा अंग है अतः उस अंग के निर्बल होने से अनिवार्य रूप से ही पुरुष निर्बल होगा। ऐसी स्थिति में पुरुष समाज की उन्नति के लिए जितने भी प्रयोग करते हैं, वे सब असफल ही रहेंगे अगर उन्होंने पहले महिला-समूह की उन्नति व स्थिति सुधारने का प्रयत्न न किया।

मैं समभाव का व्यवहार करने के लिये कहता हूँ। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि स्त्रियों को पुरुषों के अधिकार दे दिये जाँय। मेरा आशय यह है कि स्त्रियों को स्त्रियों के अधिकार देने में कमजोरी न की जाय। नर और नारी में प्रकृति ने जो भेद कर दिया है, उसे मिटाया नहीं जा सकता। अतएव उन्हें

व्य में भी भेद रहेगा ही। कर्त्तव्य के अनुसार अधिकारों में भी भेद भले ही रहे। मगर जिस कर्त्तव्य के साथ जिस अधिकार की आवश्यकता है वह उन्हें सौंपे बिना वे अपने कर्त्तव्य का पूरी तरह निर्वाह नहीं कर सकतीं।

पुरुष जाति को स्त्री जाति ने ही ज्ञानवान् और विवेकी बनाया है। फिर किस बूते पर पुरुष इतना अभिमान करते हैं? बिना किसी कारण के एक उपकारिणी जाति का अपमान करना, उसका तिरस्कार करना महाधूर्तता और नीचता है। पुरुषों की इन्हीं करतूतों से आज समाज रसातल की ओर जा रहा है। प्रकृति के नियम को याद रखे बिना और स्त्री जाति के उद्धार के बिना समाज का उद्धार होना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है।

कभी-कभी विचार आता है—धन्य है स्त्री जाति! जिस काम को पुरुष घृणित समझता है और एक बार करने में भी हाय तोबा मचाने लग जाता है, उससे कई गुना अधिक कष्टकर कार्य स्त्री जाति हर्षपूर्वक करती है। वह कभी नाक नहीं सिकोड़ती। मुँह से कभी 'उफ्' तक नहीं करती। वह चुपचाप अपना कर्त्तव्य समझकर अपने काम में जुटी रहती है। ऐसी महिमा है स्त्री जाति की। स्त्री जाति जिसका एक बार हाथ पकड़ लेती है, जन्म भर के लिये उसी की हो जाती है। फिर भी निष्ठुर पुरुषों ने उसे नरक का द्वार बतला कर अपने वैराग्य की घोषणा की है। अनेक ग्रन्थकारों ने स्त्री जाति को नीचा बतलाया है। वे यह क्यों नहीं सोचते कि पुरुष के वैराग्य में अगर स्त्री बाधक है तो स्त्री के वैराग्य में क्या पुरुष बाधक नहीं है? फिर क्यों एक की कड़ी से कड़ी भर्त्सना और दूसरे को दूध का धुला बताया जाता है? इस प्रकार की बातें पक्षपात की बातों के अतिरिक्त और क्या हैं? ——

ब्रह्मचर्य

१—स्त्रियाँ और ब्रह्मचर्य

'स्त्रियोऽपि रमारूपा ब्रह्मचर्य-तपस्विनी'

वह लक्ष्मीस्वरूप स्त्री के लिए कुछ भी असम्भव नहीं जो ब्रह्मचर्य-तप की तपस्विनी है।

कुछ लोगों का कथन है कि स्त्रियों को पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना उचित नहीं लेकिन जैन शास्त्र इस कथन के बिल्कुल समर्थक नहीं अपितु विरोधी हैं। उनमें जैसे पुरुषों के लिए ब्रह्मचर्य का उपदेश है ठीक वैसा ही स्त्रियों के लिए भी। जैन शास्त्रों का यह आदेश कई महान् महिलाओं के आदर्श के अनुकूल है। ब्राह्मी और सुन्दरी नाम की भगवान् ऋषभदेव की दोनों सुपुत्रियों ने आजीवन ब्रह्मचारिणी रह कर संसार की स्त्रियों के सन्मुख एक आदर्श प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार राजी-मती और चन्दनबाला आदि सतियों ने भी अखंड ब्रह्मचर्य का पालन किया था। इस प्रकार जैन शास्त्रों में स्त्री और पुरुष दोनों को समान रूप से ब्रह्मचर्य पालन का आदेश है। स्त्रियाँ ब्रह्मचारिणी

न हों, वे ब्रह्मचर्य का पालन न करें यह कथन जैन शास्त्रों से सर्वथा विपरीत है। उन पर किसी भी प्रकार का प्रतिवन्ध लगाना अनुचित है। स्त्री हो या पुरुष, जो ब्रह्मचर्य का पालन करेगा उसे उसका फल अवश्य ही प्राप्त होगा।

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ ब्रह्मचर्य का पालन भी अधिक सुचारु रूप से कर सकती हैं। जैन शास्त्रों में ऐसी कई महिलाओं के उदाहरण हैं जिन्होंने अपने ब्रह्मचर्य व्रत से कई पतित पुरुषो को ब्रह्मचर्य पर स्थिर किया हो, राजीमती ने रथनेमि को पतित होने से बचाया था।

जिस प्रकार पुरुषों को अब्रह्मचर्य से हानियाँ होती हैं, उसी प्रकार स्त्रियों को बालविवाह, अतिमैथुन आदि से नुकसान होता है। इसके विपरीत ब्रह्मचर्य के पालन से स्त्रियों को सभी प्रकार का लाभ होता है।

२—ब्रह्मचर्य का स्वरूप

मन का कार्य इन्द्रियों को सुख देना नहीं किन्तु आत्मा को सुख देना है और इन्द्रियों को भी उन्हीं कामों में लगाना है जिनसे आत्मा सुखी हो। इन्द्रियों और मन का, इस कर्त्तव्य को समझ कर इस पर स्थिर रहना, इसी का नाम ब्रह्मचर्य है। गांधीजी ने ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में लिखा है—

"ब्रह्मचर्य का अर्थ सभी इन्द्रियों और सभी विकारों पर पूर्ण अधिकार कर लेना है। सभी इन्द्रियों तन, मन और वचन से सब समय और सब क्षेत्रों में संयम करने को 'ब्रह्मचर्य' कहते हैं।"

यद्यपि सब इन्द्रियों और मन का दुर्विषयों की ओर न दौड़ना ही ब्रह्मचर्य है परन्तु व्यवहार में मैथुन-सेवन न करने को ही ब्रह्मचर्य कहते हैं।

ब्रह्मचर्य मन वचन और शरीर से होता है इसलिए ब्रह्मचर्य के तीन भेद हो जाते हैं—मानसिक ब्रह्मचर्य वाचिक ब्रह्मचर्य और शारीरिक ब्रह्मचर्य। मन वचन और काय इन तीनों द्वारा पालन किया गया ब्रह्मचर्य ही पूर्ण ब्रह्मचर्य है। अर्थात् न मन में ही अब्रह्मचर्य की भावना हो न वचन द्वारा ही अब्रह्मचर्य प्रकट हो और न शरीर द्वारा ही अब्रह्मचर्य की क्रिया की गई हो, इसका नाम पूर्ण ब्रह्मचर्य है। याज्ञवल्क्यस्मृति में कहा है —

> कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
> सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते।

'शरीर मन और वचन से सब अवस्थाओं में सर्वदा और सर्वत्र मैथुनत्याग को ब्रह्मचर्य कहा है।

कायिक ब्रह्मचर्य उसे कहते हैं जिसके सद्भाव में शरीर द्वारा अब्रह्मचर्य की कोई क्रिया न की गई हो। यानी शरीर से अब्रह्मचर्य में प्रवृत्ति न हुई हो। मानसिक ब्रह्मचर्य उसे कहते हैं, जिसके सद्भाव में दुर्विषयों का चिंतन न किया जाय अर्थात् मन में अब्रह्मचर्य की भावना भी न हो। वाचिक ब्रह्मचर्य उसे कहते हैं जिसके सद्भाव में अब्रह्मचर्य सम्बन्धी वचन न कहा जाय। इन तीनों प्रकार के ब्रह्मचर्य के सद्भाव को—यानी इन्द्रियां और मन का दुर्विषय की ओर न दौड़ने को पूर्ण ब्रह्मचर्य कहते हैं।

कायिक, मानसिक और वाचिक ब्रह्मचर्य का परस्पर कर्ता, क्रिया और कर्म का सा सम्बन्ध है। पूर्ण ब्रह्मचर्य, वहीं हो सकता है जहाँ उक्त प्रकार के तीनों ब्रह्मचर्य का सद्भाव हो। एक के अभाव में, दूसरे और तीसरे का एकदम से नहीं तो शनैः शनैः अभाव होना स्वाभाविक है।

संक्षेप में, इन्द्रियों का दुर्विषयों से निवृत्त होने, मन का दुर्विषयों की भावना न करने, दुर्विषयों से उदासीन रहने, मैथुनांगो सहित सब प्रकार के मैथुन त्यागने और पूर्ण रीति से, वीर्यरक्षा करने एवं कायिक, वाचिक और मानसिक शक्ति को, आत्म चिंतन, आत्म-हित-साधन तथा आत्मविद्याध्ययन में लगा देने ही का नाम ब्रह्मचर्य है।

३—ब्रह्मचर्य के लाभ

'तवेसु वा उत्तम बम्भचेर'

(सूत्रकृतांगसूत्र)

'ब्रह्मचर्य ही उत्तम तप है'

आत्मा का ध्येय, संसार के जन्म-मरण से छूट कर मोक्ष प्राप्त करना है। आत्मा, इस ध्येय को तभी प्राप्त कर सकता है जब उसे शरीर की सहायता हो—अर्थात् शरीर स्वस्थ हो। बिना शरीर के धर्म नहीं हो सकता और धर्म के अभाव में आत्मा अपने उद्देश्य की पूर्ति में समर्थ नहीं। उसे इसके लिए शरीर की आवश्यकता है और उसका भी आरोग्य होना आवश्यक है। अस्वस्थ और रोगी शरीर धर्म साधन में उपयुक्त नहीं होता।

ब्रह्मचर्य-पालन से शरीर स्वस्थ रहता है और रोग पास भी नहीं फटकने पाता। जैन शास्त्रों में यह एक आवश्यक व्रत है। इसके लिए प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा है—

"पउमसरतलागपालिभूयं महासगडअरगतुंबभूयं महाविडिमरुक्खक्खंधभूयं महानगरपागारकवाडफलिहभूयं रज्जुपिणद्धोव्व इंदकेऊ विसुद्धणेगगुणसंपिणद्धं जम्मि य भग्गम्मि होइ सहसा सव्वं संभग्गमहियचुण्णियकुसल्लियपल्लट्टपडियखंडियपरिसडियविणासियं विणयसीलतवनियमगुणसमूहं।"

ब्रह्मचर्य धर्मरूप पद्म सरोवर का पाल के समान रक्षक है। यह दया, क्षमा आदि गुणों का आधार एवं धर्म के मार्ग का आधार स्तंभ है। ब्रह्मचर्य धर्म रूपी नगरी का कोट और मुख्य रक्षाद्वार है। ब्रह्मचर्य के खंडित हो जाने पर सभी प्रकार के धर्म पर्वत से नीचे गिरे मृत्तिका के घड़े सदृश चकनाचूर हो कर नष्ट हो जाते हैं।

मोक्ष के प्रधान साधनों में ब्रह्मचर्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में और भी कहा है—

> *जम्बू ! एत्तो य बंभचेरं तव-नियम-नाण*
> *दंसण-चरित्त-सम्मत्त विणय-मूलं ॥*
> *जमनियमगुणप्पहाणजुत्तं हिमवंतमहंत-*
> *तेयमंतं पसत्थं गम्भीरथिमियमज्झं ॥*

हे जम्बू ! ब्रह्मचर्य उत्तम तप नियम ज्ञान दर्शन, चारित्र सम्यक्त्व और विनय का मूल है। जिस प्रकार अन्य समस्त पदार्थों में हिमालय सबसे महान् और तेजवान् है उसी प्रकार सब तपों में ब्रह्मचर्य उत्तम है।

अन्य ग्रन्थों में भी ब्रह्मचर्य को बहुत महत्त्व दिया गया है। इससे परलोक सम्बन्धी लाभ भी प्राप्त होता है। कहा है —

समुद्रतरणे यद्वत् उपायो नौः प्रकीर्तिता।
संसारतरणे तद्वत् ब्रह्मचर्यं प्रकीर्तितम्॥

—स्मृति

समुद्र तरने का उपाय जिस प्रकार नौका है उसी तरह संसार से पार उतरने के लिए, ब्रह्मचर्य सर्वश्रेष्ठ साधन है।

भवोदधि पार कर मोक्ष में जाने के लिए भगवान ने जिन पांच महाव्रतों को बताया है, उनमें ब्रह्मचर्य चौथा है। इसके बिना मनुष्य का चारित्र नहीं सुधर सकता। मोक्ष प्राप्ति में सहायक चारित्र धर्म का ब्रह्मचर्य अविभाज्य अंग है।

पारलौकिक लाभ में जिन्हें अविश्वास हो, उनके लिए भी ब्रह्मचर्य हेय नहीं। इससे इहलौकिक लाभ भी बहुत होते हैं। सांसारिक जीवन में शरीर स्वस्थ, पवित्र, निर्मल, प्रभावान्, तेजस्वी और सुन्दर रहता है। चिरायु रहने की, विद्या की, धन की, कार्यक्षमता और कर्त्तव्यदक्षता की भावना सदैव रहती है। जीवन निराशामय कभी नहीं होता। प्रत्येक कार्य में सफलता प्राप्त होती है।

४—अब्रह्म

ब्रह्मचर्य को विधिवत् पालने के लिए मैथुन के समस्त अंगों का परित्याग करना आवश्यक है। मैथुन के अंग इस प्रकार बताए गए हैं।—

'स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम् ॥

स्मरण कीर्तन केलि अवलोकन गुह्य भाषण संकल्प अध्यवसाय और क्रियानिष्पत्ति ये मैथुन के अंग हैं । इन लक्षणों से विपरीत रहने का नाम ब्रह्मचर्य है ।

देखे हुए या सुने हुए पुरुषों को याद करना, उनके सौन्दर्य को देखकर या प्रशंसा सुन कर उसे याद करना 'स्मरण' है । पुरुषों की प्रशंसा करना, उनके सम्बन्ध में वार्तालाप करना उनके सौन्दर्य यौवन आदि के सम्बन्ध में बात-चीत करना 'कीर्तन' है पुरुषों के साथ किसी प्रकार के खेल खेलना 'केलि' मैथुन का तीसरा अंग है । काम-सेवन की दृष्टि से पुरुषों की ओर दृष्टिपात करना 'प्रेक्षण' है । पुरुषों से छिप छिप कर प्रमालाप करना 'गुह्यभाषण' मैथुन का पंचम अंग है । पुरुष सम्बन्धी कामभोग मांगने का विचार करना 'संकल्प' है । पुरुष प्राप्ति की चेष्टा करना अध्यवसाय और मैथुन करना 'क्रियानिष्पत्ति' मैथुन का आठवाँ अंग है ।

मैथुन के किसी भी एक अंग के सेवन से सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का नाश हो जाना स्वाभाविक है । किसी भी एक इन्द्रिय के विषयलोलुप हो जाने पर सभी इन्द्रियाँ और मन विषयलोलुप हो सकते हैं । उदाहरणार्थ—यदि कान किसी पुरुष के शब्द सुनने को आतुर हों तो नेत्र उसके सौन्दर्य को देखने, मुख उससे वार्तालाप करने, नाक उसके शरीर सुगन्ध को सूंघने और त्वचा उसका स्पर्श करने में ही आनन्द का अनुभव करेंगी ।

इस प्रकार जब सभी इन्द्रियाँ दुर्विषयों की ओर आकर्षित हो जाती हैं तब बुद्धि भी नष्ट हो जाती है। आत्म संयम की शक्ति नहीं रहती। इन्द्रियाँ निरङ्कुश होकर मन को कहीं भी ले जाती हैं। फिर आत्मा दिन प्रतिदिन पतन की ओर अग्रसर होती रहती है। फिर केवल काम-वासना की पूर्ति के लिए अन्याय से अर्थ संचय किया जाता है। वह पतन के गहरे गर्त्त में गिर कर अपने शरीर की सुधबुध तक भूल जाता है। जैन शास्त्रों में अब्रह्मचर्य को बहुत बुरा कहा गया है। इन शास्त्रों के सिवाय अन्य सभी भारतीय और पाश्चात्य धर्म ग्रन्थों में भी ब्रह्मचर्य को उत्तम तप और अब्रह्मचर्य को महान् पाप कहा है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में अब्रह्मचर्य को चौथा अधर्मद्वार माना है। इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार कहते हैं.—

"जम्बू ! अबंभं चउत्थ सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स पत्थणिज्ज, पंक-पणग-पास जालभूय त्थी।"

हे जम्बू ! अब्रह्मचर्य चौथा अधर्मद्वार है। सुर-असुर, नर, लोकपति आदि सभी इस पाप रूपी कीच के दल-दल में फँसे हुए हैं। उनको यह जाल के समान फसाने वाला है।

आगे भी कहा है —

"मेहुणसन्नागिद्धा य मोहभरिया सत्थेहि हणंति एक्कमेक्क विसय-विसे उदारएहिं अवरे परदारेहिंहिंसति।"

मैथुन में आसक्त अब्रह्मचर्य के अज्ञानाधकार से पूर्ण लोग परस्पर एक दूसरे की हिंसा करते हैं। जहर देकर घात करते हैं। यदि परदारा हुई तो उस स्त्री का पति जहर से हिंसा कर देता है। इस प्रकार यह अब्रह्मचर्य का पाप मृत्यु का कारण है।

अब्रह्मचर्य से धन, तन और स्वजन का नाश होता है। कई जगह अपनी सन्तानों की भी हिंसा कर दी जाती है। इससे मित्रों, भाइयों पिता पुत्रों और पति-पत्नियों में स्नेह नष्ट होकर वैर भाव उत्पन्न हो जाता है। अब्रह्मचारी का चरित्र क्षण भर में नष्ट हो जाता है। उसका शरीर अत्यन्त निर्बल और रोगी हो जाता है। सैकड़ों व्याधियाँ उसे आकर घेर लेती हैं। बहुत बुरी अवस्था में असहाय होकर उसे मृत्यु के मुख में जाना पड़ता है।

जेण सुचरिएण भवति सुबंभणो सुसमणो सुसाहू सुइसी सुमुणी स एव भिक्खू जो सुद्ध चरति बंभचेरं।

जो मनुष्य ब्रह्मचर्य का शुद्धाचरण करता है वही उत्तम ब्राह्मण उत्तम श्रमण और उत्तम साधु है। शुद्ध ब्रह्मचर्याचरण से ही वह ऋषि, मुनि संयमी और भिक्षु है।

५—ब्रह्मचर्य के दो मार्ग

शास्त्रानुसार ब्रह्मचर्य पालन के दो मार्ग हैं, क्रिया मार्ग और ज्ञान मार्ग। क्रिया मार्ग अब्रह्मचर्य को रोकने का साधन है उसके संस्कारों को निर्मूल करने में असमर्थ है। ज्ञान के द्वारा मनुष्य को संयमी और ब्रह्मचर्य पूर्ण जीवन स्वाभाविक और अब्रह्मचर्यमय जीवन अस्वाभाविक और अनुचित लगने लगता है। ज्ञान मार्ग द्वारा प्राप्त विवेक पवित्रता और आत्मचिंतन द्वारा उत्पन्न होता है। अतः यह नित्य है। उसमें स्थिरता अधिक होती है। क्रिया मार्ग में अस्थिरता हो सकती है। जब तक हृदय विशुद्ध और भावना पवित्र नहीं हो जाती क्रियामार्ग द्वारा स्वरूप अपूर्ण है उसमें कभी भी विकार आ जाने की सम्भावना

है। इसीलिए दोनों मार्गों से ज्ञानमार्ग श्रेष्ठ है। लेकिन ज्ञान-मार्गियों को भी क्रिया-मार्ग की उपेक्षा करना उचित नहीं। बाह्य वातावरण और क्रिया में स्खलन ज्ञानियों के हृदय में भी कभी कभी अस्थिरता उत्पन्न करने में समर्थ हो सकता है।

६—ब्रह्मचर्य के नियम

क्रिया-मार्ग में बाह्य नियमों का समावेश किया जाता है। इस सम्बन्ध में प्रश्नव्याकरण सूत्र में पाँच भावनाओं का उल्लेख किया गया है। वे इस प्रकार हैं—

(१) केवल पुरुषों से सम्बन्धित कथाएँ न कहे।
(२) पुरुषों की मनोहर इन्द्रियाँ न देखे।
(३) पुरुषों के रूप को न देखे।
(४) काम भोग को उत्तेजित करने वाली वस्तुओं को न कहे, न स्मरण करे।
(५) कामोत्तेजक पदार्थ न खाए-पीए।

ब्रह्मचर्य व्रत पालन के लिए भगवान् ने दस समाधिस्थान भी बताये हैं—

(१) संसर्ग रहित स्थान में निवास करना।
(२) अकेले पुरुष से वार्तालाप न करना न अकेले पुरुष को कथा, भाषण कहना, केवल पुरुषों के सौन्दर्य, वेश का भी वर्णन न करना।
(३) पुरुषों के साथ एक आसन पर न बैठना, जिस आसन पर पुरुष पहले बैठा हो उससे दो घड़ी पश्चात् तक उस आसन पर न बैठना।

(४) पुरुषों के आकर्षक नेत्र आदि का तथा दूसरे अंगोपांग का अवलोकन न करना और न उनका चिन्तन ही करना।

(५) पुरुषों के रति प्रसंग के मोहक शब्द, रति-कलह के शब्द गीत की ध्वनि हंसी की खिलखिलाहट क्रीड़ा विनोद आदि के शब्द या विरह रुदन को परदे के पीछे से या दीवाल की आड़ से कभी न सुनना चाहिए।

(६) पहले अनुभव किए हुए रति सुख, आचरण की हुई या सुनी हुई रति-क्रीड़ा आदि का स्मरण भी न करना।

(७) पौष्टिक या कामोत्तेजक खाद्य और पेय पदार्थों का उपयोग न करना।

(८) सादा भोजन भी प्रमाण से अधिक न करना।

(९) शृंगार-स्नान विलेपन धूप माला विभूषा व केश-रचना न करना।

(१०) कामोत्तेजक शब्द रूप, रस गन्ध और स्पर्श से बचते रहना।

सब विरति ब्रह्मचारी को ऊपर निर्दिष्ट भावनाओं और समाधिस्थानों के नियमों का पालन करना अत्यंत आवश्यक है।

पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए शरीर के साथ साथ मन और वचन पर भी पूर्ण संयम रखना आवश्यक आवश्यक है। केवल शरीर पर ही नियन्त्रण रखने से अब्रह्मचर्य का निराकरण नहीं किया जा सकता। मन पर अंकुश न रखने से

कभी भी हृदय में विकार उत्पन्न हो सकता है। शरीर तो मन के अनुसार काम करता है। अगर मन पवित्र है तो शरीर भी पवित्र ही रहेगा। इसलिए मन को वश में रखना शरीर की अपेक्षा ज्यादा महत्वपूर्ण है।

मन में बुरी कामवासना उत्पन्न न हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि उसे सदैव शुभ कार्यों में प्रवृत्त किया जाय। किसी भी समय में खाली रहना अनुचित है। मन का जब कोई कार्य नहीं रहता तब बुरे विचार आने लगते हैं। अतः प्रत्येक समय किसी न किसी सत्कार्य में लगाए रखना चाहिए।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए भोजन पर संयम रखना भी अत्यन्त आवश्यक है। मनुष्य की मनोवृत्तियों पर भोजन का बहुत प्रभाव पड़ता है। जो जैसा भोजन करेगा उसका मन भी वैसा ही हो जाएगा। अधिक खाना ब्रह्मचारी के लिए वर्ज्य है। जीवन-यापन के लिए जितना भोजन करना आवश्यक है उतना ही उसके लिए पर्याप्त है। अधिक भोजन से हृदय में विकार उत्पन्न हो जाता है जो काम-वासनाओं का उत्तेजक हो सकता है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र में ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के उपायों में बताया गया है —

'नो पाणभोयणस्स अइमायाए आहारइत्ता'

ब्रह्मचर्य व्रत का पालक खान पान अप्रमाण में न लें।

ब्रह्मचारी को भूख से अधिक भोजन कदापि न करना चाहिए। साथ ही साथ वह भी अधिक मसालेदार, चरका,

गरिष्ठ कामोत्तेजक खट्टा मीठा न हो । ब्रह्मचारी हलका थोड़ा नीरस और रूखा भोजन ही पर्याप्त मात्रा में करे।

ब्रह्मचारी को मादक द्रव्यों का सेवन सर्वथा त्याग देना चाहिए। इनसे बुद्धि का विनाश हो सकता है। इन पदार्थों में चाय गांजा भंग चरस, अफीम शराब तमाखू बीड़ी सिगरेट आदि समाविष्ट हैं ।

जो स्त्री ब्रह्मचारी रहना चाहती हैं उन्हें अपना जीवन बहुत सादगी से व्यतीत करना चाहिए। चटकीले भड़कीले वस्त्र पहनना विविध प्रकार के आभूषणों से अपने को सुशोभित रखना सुगन्धित तेल इत्र फुलेल का उपयोग करना, पुष्पों आदि से बालों को सजाना सर्वथा अनुचित है।

पुरुष के पास एकान्तवास करना भी ब्रह्मचर्य के लिए घातक है। एकान्त में दुर्वासनाएँ घेरे रहती हैं। मन में हमेशा दुर्भावनाएं रहने से दुष्कार्यों की ओर प्रवृत्ति हो सकती है। चाहे कोई जितेन्द्रिय ही क्यों न हो पर सतत एकान्तवास से ब्रह्मचर्य के खण्डित होने का भय है।

ब्रह्मचारी को ऐसी अश्लील पुस्तकें कदापि नहीं पढ़नी चाहिए जो कामविकार को जागृत करने वाली तथा जिनसे मन एवं इन्द्रियां दुर्विषयों की ओर प्रवृत्त हों। इस प्रकार का अध्ययन ब्रह्मचर्य को भ्रष्ट करने में समर्थ हो सकता है। आज कल ऐसी अश्लील प्रेम कहानियाँ और उपन्यास बहुत प्रचलित हैं। उनसे हमेशा बचते रहना चाहिए। ब्रह्मचारियों को धर्म ग्रंथों का अध्ययन करना उचित है। महापुरुषों की जीवनियां संसार की असारता सूचक तथा वैराग्य उत्पन्न करने वाली तथा

दुर्विषयों से घृणा पैदा कराने वाली किताबें पढ़ना उसके लिए लाभप्रद है। ऐसे अध्ययन से मन में विकार ही उत्पन्न नहीं होता, बल्कि ब्रह्मचर्य पालन में भी बहुत सहायता मिलती है।

ब्रह्मचारी जी को कामी या व्यभिचारी स्त्री पुरुषों का संग कदापि नहीं करना चाहिए। ऐसे लोगों की संगति से कभी न कभी ब्रह्मचर्य के खण्डित होने का भय है। वेश्याओं आदि से परिचय बढ़ाने में हानि ही हो सकती है। उत्तम साधु, साध्वियों के संपर्क में रहना, उनका उपदेश श्रवण करना लाभप्रद है।

७—स्वपतिसंतोष

सर्व विरति ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार करने में असमर्थ महिलाएँ जो विवाह करना चाहती हैं उन्हें भी 'स्वपति संतोष व्रत' का पालन करना चाहिए। कहा भी है —

"कोकिलानां स्वरो रूपं नारीरूपं पतिव्रतम्"

कोकिला का शृंगार उसका मधुर स्वर है और नारी का शृंगार उसका पतिव्रत ही है।

जिस प्रकार पुरुषों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि 'एक नारी सदा ब्रह्मचारी' उसी प्रकार नारियों में —

"या नारी पतिभक्ता स्यात्सा सदा ब्रह्मचारिणी"

जो स्त्री पतिव्रता है, अपने पति के सिवाय दूसरे पुरुषों से अनुराग नहीं रखती वह भी ब्रह्मचारिणी है। गृहस्थावस्था में इस व्रत के सिवा नारियों के लिए उपयुक्त धर्म और कोई नहीं।

पतिव्रता स्त्री के लिए इस लोक तथा परलोक में कुछ भी दुर्लभ नहीं वह देवताओं के लिए भी पूज्य है। सीता, द्रौपदी, आदि सतियों को उनके पातिव्रत्य के लिए भी बहुत महत्व पूर्ण स्थान दिया है। उनका सदैव आदर और प्रशंसा की जाती है। उन्हें कोई भी दुःख और व्याधि कभी पीड़ित नहीं करती। जीवन में वे सदैव सुखी और सन्तुष्ट रहती हैं।

इसके विपरीत व्यभिचारिणी स्त्रियाँ निरंतर कष्टों और व्याधियों से पीड़ित रहती हैं। उनको जीवन में कभी सुख नहीं मिलता। प्राचीन काल में स्त्रियों की स्थिति इसीलिए ऊँची थी कि उनमें पति के प्रति असीम भक्ति और प्रेम होता था। अन्य पुरुषों के प्रति सदैव पिता और बन्धुत्व का भाव रहता था। अतएव स्वपति-संतोष व्रत का पालन कर स्त्रियों को इहलोक और परलोक को सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए।

८—ब्रह्मचर्य और सन्तान

जो भाई बहिन ब्रह्मचर्य का पालन करेंगे वे संसार को अनमोल रत्न दे सकेंगे। हनुमानजी का नाम कौन नहीं जानता ? आलंकारिक भाषा में कहा जाता है कि उन्होंने लक्ष्मणजी के लिए द्रोण पर्वत उठाया था। उसी पर्वत का एक टुकड़ा गिर पड़ा जो गोवर्धन के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अलंकार का आवरण दूर कर दीजिए और विचार कीजिए तो इस कथन में आप हनुमानजी की प्रबल शक्ति का दिग्दर्शन पाएँगे। हनुमानजी में इतनी शक्ति कहाँ से आई ? यह महारानी अंजना और पवन की बारह वर्ष की अखण्ड ब्रह्मचर्य की साधना का ही प्रताप था। उनके ब्रह्मचर्य पालन से संसार को एक ऐसा उपहार,

ऐसा वरदान दिया जो न केवल अपने समय में ही अद्वितीय था, वरन् आज तक भी वह अद्वितीय समझा जाता है और शक्ति की साधना के लिए उसकी पूजा की जाती है।

बहिनो ! अगर तुम्हारी हनुमान सरीखा पुत्र उत्पन्न करने की साध है तो अपने पति को कामुक बनाने वाले साज-सिंगार को त्याग कर स्वय ब्रह्मचर्य की साधना करो और पति को भी ब्रह्मचर्य का पालन करने दो।

क्योंकि सन्तान के विषय में माता-पिता की भावना जैसी होती है वैसी ही सन्तान उत्पन्न होती है। पिता और खास कर माता को ऐसी भावना हमेशा मन में रखना चाहिए कि मेरा पुत्र वीर्यवान और जगत का कल्याण करने वाला हो। इस प्रकार की भावना से बहुत लाभ होता है।

सब लोगों को प्राय अलग अलग तरह के स्वप्न आते हैं, इसका क्या कारण है ? कारण यही कि सबकी भावना अलग २ तरह की होती है। यह बात प्राय सभी जानते हैं कि जैसी भावना होती है वैसा स्वप्न आता है। इसी प्रकार माता-पिता की जैसी भावना होती है वैसी ही सन्तान बन जाती है। जिस प्रकार भावना से स्वप्न का निर्माण होता है उसी प्रकार भावना से सन्तान के विचारों और कार्यों का निर्माण होता है। नीच विचार करने से खराब स्वप्न आता है और यही बात सन्तान के विषय में भी समझनी चाहिए।

जिस नारी के चेहरे पर ब्रह्मचर्य का तेज अठखेलियाँ करता है उसे पाउडर लगाने की जरूरत नहीं पड़ती। जिसके अग प्रत्यग से आत्म तेज फूट रहा हो उसे अलकारों की भी अपेक्षा नहीं रहती। गृहस्थ को अपनी पत्नी के साथ मर्यादा के

अनुसार रहना चाहिए। इसी प्रकार स्त्रियों को भी चाहिए कि वे अपने मोहक हाव-भाव से पति को विलासी न बनावें। जो स्त्री संतानोत्पत्ति के सिवाय केवल विलास के लिए पति को फँसाती है वह पिशाचिनी है—पति का जीवन चूसने वाली है।

६—विवाह और ब्रह्मचर्य

प्राचीन काल में विवाह के सम्बन्ध में कन्या की भी सलाह ली जाती थी और अपने लिए योग्य वर खोजने की स्वतन्त्रता प्राप्त थी। माता-पिता इस उद्देश से स्वयंवर की रचना करते थे। अगर कन्या ब्रह्मचर्य पालन करना चाहती थी तो उसे अनुमति दी जाती थी। भगवान् ऋषभदेव की ब्राह्मी और सुन्दरी नामक दो कन्याएँ विवाह के योग्य हुईं। भगवान् उनके विवाह सम्बन्ध का विचार करने लगे। दोनों कन्याओं ने भगवान् का विचार जाना तो कहा—पिताजी आप हमारी चिन्ता न कीजिये। आपकी पुत्री मिटकर दूसरे की पत्नी बनना हमसे न हो सकेगा। अन्तत दोनों कन्याएँ आजीवन ब्रह्मचारिणी रहीं।

हाँ विवाह न करके अनीति की राह चलना बुरा है पर ब्रह्मचर्य पालन करना बुरा नहीं है। ब्रह्मचारिणी रह कर कुमारिकाएँ जन समाज की अधिक से अधिक सेवा कर सकती हैं।

बलात् विवाह और बलात् ब्रह्मचर्य दोनों बातें अनुचित हैं। दोनों स्वेच्छा और सामर्थ्य पर निर्भर होनी चाहिए। पूर्ण ब्रह्मचर्य अगर पालन न भी कर सकें तो भी विवाह के उपरान्त विवाहित पति-पत्नी को अवश्य ही मर्यादा के अनुसार रहना चाहिए।

स्त्री-शिक्षा

१—शिक्षा का प्रभाव

शिक्षा मनुष्य के नैतिक और सामाजिक स्तर को ऊँचा उठाने का साधन है। यह जीवन को सभ्य, सुसंस्कृत एवं सहानुभूतिशील बनाने की योग्यता प्रदान करती है। वर्तमान में शिक्षाप्राप्ति उद्देश्य को ध्यान में लेकर, इसकी परिभाषा सब चितक्षेत्र में करते हुए यदि उसे हम अर्थप्राप्ति का साधन कहें पर ऐसा कहना मूलतः गलत होगा। शिक्षा का उद्देश्य कभी अर्थप्राप्ति नहीं। सामाजिक क्षेत्र में शिक्षा जीवन के वातावरण को अधिक सुखमय और सरस बनाती है—हमें निचाई से ऊँचाई पर प्रतिष्ठित करती है। यह एक प्रकार का नवजीवन-सा प्रदान करके कई बुराइयों में बचाकर अच्छाइयों की ओर ले जाने को प्रेरित करती है।

मानव इतिहास की ओर हलका-सा दृष्टिपात करने पर हम शिक्षा की उपयोगिता और उसका प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर हो जाएगा। किसी जमाने में मनुष्य आज की भाँति सभ्य एव

संस्कृत नहीं थे। उनका खान पान रहन सहन तथा वातावरण बिल्कुल भिन्न था। वृक्षों के वल्कल धारण कर अथवा नग्न ही रह कर अपना जीवन-यापन करते थे। माता पिता बंधु आदि के प्रति भी जैसे स्नेह और कर्त्तव्यपालन की दृष्टि होनी चाहिए वैसी न थी। यों कहना चाहिए कि कौटुम्बिक भावना ही जागृत नहीं हुई थी। न उनका कोई निश्चित निवासस्थान था और न कोई निश्चित वस्तुयें ही थीं जो उनके भोजनादि के प्रबन्ध के लिए उपयुक्त थीं। जहाँ जो चीज मिल गई उसी का उपयोग करते थे। और जहाँ रात्रि में स्थान मिला विश्राम करते थे। न वहाँ कोई सामाजिक अथवा राजनीतिक बन्धन थे और न कायदे कानून। मनुष्य अपने आपमें ही सीमित था और प्रकृति पर ही निर्भर था।

लेकिन आज ? सामाजिक जीवन में आकाश और पाताल का अन्तर है। यही शिक्षा का प्रभाव है। इसी मापदण्ड से हम शिक्षा की उपयोगिता का अनुमान सहज ही लगा सकते हैं। जीवन में जितनी जागृति और उन्नति होती है वह केवल शिक्षा से ही। जैन शास्त्रों के अनुसार इस युग में प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेवजी ने ही सर्व प्रथम शिक्षा का प्रचार किया था। उन्होंने ही कृषिविद्या पाकविज्ञान मुनाई विज्ञान आदि की शिक्षा लोगों को दी। पुरुषों के लिए बहत्तर कलायें दीं तथा स्त्रियों के लिए चौसठ। इस प्रकार लोगों को सभी प्रकार से शिक्षित कर उन्होंने सभ्यता तथा संस्कृति का प्रथम पाठ पढ़ाया। तभी से आज तक वह परंपरा अबाध गति से चली आ रही है। यद्यपि समय समय पर राजनैतिक परिस्थितियों के अनुसार उसमें परिवर्तन भी बहुत हुए।

शिक्षा को हम मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित कर सकते हैं (१) फल प्रदायिनी (२) प्रकाशिनी। फल प्रदायिनी शिक्षा विशेष रूप से मनुष्य का सामाजिक स्तर ऊँचा लाती है। किस प्रकार से भिन्न भिन्न कार्य किए जाने पर उत्तम रीति से पूर्ण होंगे वह इसमें बताया जाता है। सिलाई, बुनाई, कृषि, शरीरविज्ञान आदि शिक्षा इसी कोटि में आ सकती है।

प्रकाशिनी शिक्षा क्रियात्मक रूप से किसी विशेष कार्य की पूर्णता के लिए नहीं होती। उसका कार्य है भिन्न भिन्न वस्तुओं के गुणों और उनके प्रभाव पर प्रकाश डालना। भौतिक वस्तुओं के सिवाय आध्यात्मिक क्षेत्र में भी इसकी पहुच रहती है। दर्शन शास्त्र, धर्मशास्त्र, रसायनशास्त्र, इतिहास, भूगोल आदि को हम इसके अन्तर्गत ले सकते हैं। यह शिक्षा भी परोक्ष रूप से जनता के सामाजिक स्तर को उन्नत करने में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करती है। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी यह लोगों के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाती है।

शिक्षा मनुष्य के रहन सहन में अपूर्व परिवर्तन कर देती है। इसके विना हम बहुत सी वस्तुओं से बिल्कुल अज्ञात रह सकते हैं, जो हमारे जीवन में सफलता प्रदान करने में सहायक हो सकती हैं। किसी भी क्षेत्र में अशिक्षा सफल नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में अशिक्षित कुछ भी नहीं कर सकता। * किसी भी विषय में निपुणता और दक्षता प्राप्त करने के लिए शिक्षा अपेक्षित है। एक डॉक्टर कभी सफल नहीं हो सकता जब तक वह

* अन्नाणी किं काही, किं वा नाही सेय-पावगं ?

—श्रीदशवैकालिकसूत्र।

पूर्ण रूप से शरीरविज्ञान और रसायनशास्त्र का गहरा अध्ययन न कर ले। मनुष्य सफल व्यापारी भी तब तक नहीं बन सकता जब तक वह अर्थशास्त्र भूगोल आदि का अच्छा अध्ययन नहीं कर लेता। कृषि विद्या सिलाई बुनाई आदि की भी क्रियात्मक शिक्षा के अभाव में अपूर्णता ही है।

इस प्रकार सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि शिक्षा के अभाव में समस्त जीवन ही अपूर्ण है। किसी भी एक क्षेत्र में निपुणता प्राप्त करके ही जीवन निर्माण किया जाता है। किसी भी देश की अवनति के कारणों का यदि पता लगाया जाय तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि शिक्षा का अभाव ही इसका मुख्य कारण है।

शिक्षा के अभाव में कई बुराइयाँ स्वतः घर कर लेती हैं। अयोग्यता के कारण एक प्रकार की अज्ञानता फैल जाती है, जिसके कारण ही गृह-कलह, अंधविश्वास फूट आदि समाज में फैलते हैं। शिक्षा के अभाव में किसी भी वस्तु को तर्क और योग्यता की कसौटी पर कस कर लोग नहीं रख सकते। परम्परा से चली आती हुई परिपाटी तथा रीति रिवाजों को नहीं छोड़ना चाहते। इतना ही नहीं बल्कि समय की गति के अनुसार उसमें तनिक सा भी परिवर्तन नहीं करना चाहते चाहे वह खुद के लिए व समाज लिए कितनी ही हानिप्रद क्यों न हो।

शिक्षा से अभिप्राय यहाँ केवल विशेष रूप में स्त्री या पुरुष की ही शिक्षा से नहीं बल्कि समान रूप से दोनों की शिक्षा से है। स्त्री और पुरुष समाज के दो महत्त्वपूर्ण अंग हैं। किसी एक को विशेष महत्त्व देकर और दूसरे की पूर्ण रूप से

अवहेलना कर समाज की उन्नति नहीं की जा सकती। उन्नति के लिए यह परमावश्यक है कि स्त्री और पुरुष समाज के दोनों ही अंग शिक्षा प्राप्त करें।

२—स्त्रीशिक्षा

बहुत समय से स्त्रियों का कार्यक्षेत्र घर के भीतर ही समझा जाता है। समाज ने इस ओर कभी दृष्टिपात ही नहीं किया कि घर की दुनिया के बाहर भी उनका कुछ कार्य हो सकता है। भोजन बनाना, चक्की पीसना, पति की आज्ञा पालन कर उसे सदैव सुखी और सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न करना ही उसके जीवन का उद्देश्य रहा है। इन कार्यों के लिए भी शिक्षा की उपयोगिता हो सकती है, इसका कभी विचार भी नहीं किया गया। बालिकाओं को शिक्षा देने का प्रयत्न किया गया तो वह भी उतना ही जिससे पत्र पढ़ना और लिखना आ सके और पति का मनोरञ्जन किया जा सके। प्राचीन योरप में ऐसी ही मनोवृत्तियां लोगों में फैली हुई थीं। स्त्रियों का स्थान वहां भी बहुत सङ्कुचित था। अधिक शिक्षा प्राप्त करना और बाहरी दुनिया से सम्पर्क बढ़ाना अनावश्यक समझा जाता था। सीना-पिरोना, चर्खा कातना, भोजन बनाना आदि जानना ही उनके लिए पर्याप्त था। पुरुषों की शिक्षा का प्रयत्न भी बहुत बाद में किया गया था और उसमें कुछ उन्नति हो जाने पर भी, स्त्रियों के लिए भी शिक्षा उपयोगी हो सकती है, इसका किसी ने विचार तक नहीं किया।

भारतवर्ष में प्राचीन काल में स्त्रियाँ काफी शिक्षित होती थीं। घर के बाहर भी उन्हें बहुत कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त थी। जैन

समाज में भी उस समय स्त्रियों में काफी जागृति थी। सती ब्राह्मी ने शिक्षा प्रारम्भ कर के महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। ब्राह्मी लिपि भी उन्हीं के नाम से चली। सोलह सतियों में से प्रत्येक ६४ कलाओं में निपुण होने के साथ साथ बहुत विदुषी थीं। साधारण पुस्तकीय ज्ञान के अलावा उन्होंने उत्कृष्ट संयम द्वारा विशिष्ट ज्ञान भी प्राप्त किया था। उनकी योग्यता के लिए क्या कहा जाय ? स्त्री शिक्षा और स्त्री स्वातन्त्र्य का अनुमान इतने से ही सहज में लगाया जा सकता है। विद्या की अधिष्ठात्री देवी भी सरस्वती ही मानी गई है।

स्त्री जाति का पतन मुसलमानों के आगमन के साथ २ हो गया था। धीरे धीरे उन्हें पहिले जैसी स्वतंत्रता न रही, उनका कार्य क्षेत्र सीमित होता गया और अंत में उनका पतन चरम सीमा तक पहुँच गया। उनकी शिक्षा के प्रश्न को समाप्त कर दिया गया। पाश्चात्य देशों में तो उसमें बहुत सुधार हो चुका है पर भारतवर्ष में अभी बहुत सुधार की आवश्यकता है।

कहते हैं वर्तमान युग में स्त्रीशिक्षा की विशेष आवश्यकता का अनुभव सब प्रथम जापान के मि० मारू ने किया था। उस समय वहाँ की स्त्रियों की हालत बहुत खराब थी। उनमें जरा भी नैतिकता की भावना न थी। वे अत्यन्त पतित अवस्था को पहुँच चुकी थी। मि० मारू ने अनुभव किया कि राष्ट्र के उत्थान के लिए स्त्रियों का सुशिक्षित और उन्नत होना नितान्त आवश्यक है। उन्होंने यह भी समझने का प्रयत्न किया कि स्त्रियों और पुरुषों की शिक्षा साधारण रूप से एक ही प्रकार की नहीं हो सकती, इस में कुछ भिन्नता कार्य क्षेत्र और व्यक्तित्व की दृष्टि से होनी ही चाहिए। स्त्रियों के लिए साधारण और

पुस्तकीय शिक्षा का उद्देश्य मानसिक स्तर का उन्नत होना चाहिए। महिलाओं की प्रतिभा का सर्वतोमुखी विकास करना ही उनकी शिक्षा का उद्देश्य है। यह विकास शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक तीनों प्रकार का होना चाहिए। शिक्षा का ध्येय ऐसा हो जिससे वे जीवन मे योग्यतापूर्वक अपने कर्त्तव्य को पूर्ण कर सकें और स्वतन्त्रता मे जीवन पथ में अपना समुचित विकास कर अपनी प्रतिभा का सदुपयोग कर सकें। स्त्री शिक्षा की व्यवस्था करते हुए हमें यह न भूलना चाहिए कि उनका कार्य क्षेत्र पुरुषों से कुछ भिन्न है। जीवन में उनका कर्त्तव्य सुगृहिणी और माता बनना है। हमारे समाज का बहुत प्राचीन काल से सगठन और श्रम-विभाजन भी ऐसा ही है जिससे स्त्रियों के कर्त्तव्य पुरुषों से कुछ भिन्न हो गए हैं। यद्यपि दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं है पर कौटुम्बिक जीवन की सरलता के लिए यह भेद किया गया। सुगृहिणी और माता बनना कोई ऐसी सरल वस्तु नहीं जैसी आज कल समझी जाती है। माताओं के क्या २ गुण और कर्त्तव्य होने चाहिए, इस तरफ कोई दृष्टि नहीं डालता। उत्तम चरित्र और कार्य सम्पादन की योग्यता होना उनमें सर्वप्रथम आवश्यक है।

परन्तु इतने में ही उनके कर्त्तव्य की इति श्री नहीं हो जाती। यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि स्त्री, समाज और राष्ट्र की अभिन्न अग हैं। उनके उद्धार का बहुत कुछ उत्तरदायित्व इन्हीं पर है। वैसे सफल और बुद्धिमती माता बनकर ही वे राष्ट्र की बहुत कुछ भलाई कर सकती हैं। पर वे पुरुषों के क्षेत्रों में भी, जहाँ उनकी प्रतिभा और रुचि हो, अपनी योग्यता द्वारा सफल कार्यकर्त्री और नेत्री हो सकती हैं, क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि जो कार्य पुरुषों द्वारा सपादित हों वे स्त्रियों द्वारा पूर्ण हो

ही नहीं सकते। ऐसा न कभी हुआ है और न होगा। अगर उन्हें उचित शिक्षा और उचित स्वतन्त्रता दी जाय तो वे अपनी योग्यता का उपयोग कर समाज की काफी भलाई कर सकती हैं।

अतएव सब प्रथम स्त्रियों को मानव जाति के नाते शिक्षा दी जानी चाहिए, फिर स्त्रीत्व के नाते जिससे वे एक सफल गृहिणी और सुशिक्षिता और उपयुक्त माता बन सकें। तीसरे उन्हें राष्ट्र के एक अभिन्न अंग होने के नाते शिक्षा दी जानी चाहिए, जिससे उनके मन में यह भावना सजीव रहे कि घर में रहते हुए भी राष्ट्र के उत्थान और पतन से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

३—स्त्रीशिक्षा की आवश्यकता

लोग कहते हैं कि लड़की को क्या हुंडी लिखनी है जो उन्हें शिक्षा सिखाई जाय? यह आज के युग में घोर अज्ञानता और स्त्रियों के प्रति अन्याय का चिह्न है। भगवान् ऋषभदेव ने ब्राह्मी को ही सब प्रथम अक्षर ज्ञान सिखाया था। अगर शिक्षा की आवश्यकता न होती तो इतने बुद्धिमान् और नीतिमान् महापुरुष को क्या आवश्यकता थी जो उन्हें शिक्षा देते? भरत और बाहुबली को तो शिक्षा फिर मिली। ब्राह्मी के ही नाम से हमारी लिपि ब्राह्मी कहलाई यद्यपि समयानुसार आज तक उसमें बहुत कुछ परिवर्तन हो चुका है। आज की भाषा में ब्राह्मी को सरस्वती कहा जाता है। स्त्री को ही दूर किया, पुरुष पढ़ें और स्वयं स्त्रियाँ न पढ़ें यह उचित है या अनुचित? अज्ञानता के कारण आज पुरुष का अर्धांग निकम्मा हो रहा है। आज की स्त्रियाँ न कुछ कर सकती हैं, न सुन सकती हैं, न प्रश्न कर सकती

है। वे पर्दे के भीतर बन्द रहती हैं। भगवान् महावीर के समवसरण में स्त्रियाँ भी प्रश्न कर सकती थीं। लेकिन यहाँ स्त्रियाँ प्रश्न नहीं कर सकतीं। अगर कोई महिला कहीं धार्मिक प्रश्न करे तो लोग उसे निर्लज्जता का फतवा देने में कसर न रखेंगे।

कुछ लोगों की धारणा है कि लिखने पढने से लड़के-लड़कियों का बिगाड़ हो जाता है। लेकिन क्या यह आवश्यक है कि बिना पढे लिखे लोग हमेशा अच्छे ही होते हैं? सामाजिक या धार्मिक हानियाँ क्या शिक्षित ही करते हैं? यह विचारणीय है कि योग्य शिक्षा सदैव उचित मार्ग के खोजने में सहायक होती है। ग्रन्थकारों का कथन है कि ज्ञानी के द्वारा कोई भूल हो जाए तो वह शीघ्र ही समझ सकता है मगर मूर्ख तो कोई भूल करके समझ भी नहीं सकता।

महावीर भगवान् ने कहा है कि अगीतार्थ साधु चाहे सौ वर्ष का हो फिर भी उसे गीतार्थ साधु की नेश्राय में ही रहना चाहिए। पच्चीस साधुओं में एक ही साधु अगर आचारांग और निशीथ सूत्र का जानकार हो और वह शरीर त्याग दे तो भादों का ही महीना क्यों न हो, शेष चौबीस को विहार करके आचारांग और निशीथ सूत्र के ज्ञाता मुनि की देखरेख में चले जाना चाहिए। अगर उनमें दूसरा कोई साधु आचारांग निशीथ का ज्ञाता हो तो उसे अपना मुखिया स्थापित करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि शिक्षा के साथ उच्च क्रिया लाने का प्रयत्न तो करना ही चाहिए मगर मूर्ख रहना किसी के लिए भी उचित नहीं।

एक सम्प्रदाय वालों का कहना है कि साधुओं के सिवाय औरों को खाने को देकर राम तीखा मत करो। भोजन देने से राम तीखा हो जाता है। किन्तु यह कथन अज्ञानपूर्ण है। इसके कथनानुसार अगर एक महिला विचार करती है कि मेरी लड़की के आँखें होंगी तो वह पुरुषों को देखेगी। देखने पर नियत बिगड़ जाना भी सम्भव है। ऐसा विचार करके वह महिला अपनी लड़की की आँखें फोड़ डाले तो आप उसे क्या कहेंगे?

पापिनी!

जो महिलाएँ अपनी लड़की की आँखों को अच्छी रखने के लिए लड़की की आँखों में काजल आँजती हैं वे बहिनें उसकी माँ हैं या शत्रु?

माँ!

मगर खाने को देने से राम तीखा होता है ऐसा कहने वालों की श्रद्धा के अनुसार तो वह बहिन लड़की की आँखों में काजल लगाकर राम तीखा कर रही है? इस लिए न लड़की को खिलाना चाहिए और न आँखों में अंजन ही आँजना चाहिए। फिर तो उसे ले जाकर कहीं समाधि करा देना ही ठीक होगा। कैसा अनोखा विचार है! यह सब अशिक्षा का ही फल है।

लड़की की माता को पहले ही ब्रह्मचारिणी रहना उचित था तब मोह का प्रश्न ही उपस्थित न होता, लेकिन जब मोह वश सन्तान उत्पन्न की है तो उचित लालन पालन तथा शिक्षित करके उस मोह का कर्ज भी चुकाना है। इसी कारण जैन शास्त्रों में माता पिता और सहायता करने वाले को उपकारी बताया

है। भगवान् ने कहा है कि सन्तान का लालन-पालन करना अनुकम्पा है।

तात्पर्य यह है कि जो माता अपनी कन्या की आँखें फोड़ दे उसे आप माता नहीं वैरिन कहेंगे। लेकिन हृदय की आँखें फोड़ने वाले को आप क्या कहेंगे? कन्या शिक्षा का विरोध करना वैसा ही है जैसे अपनी संतति के ज्ञान-चक्षु फोड़ने में ही कल्याण मानना। जो कन्याओं की शिक्षा का विरोध करते हैं वे उनकी शक्तियों का घात करते हैं। किसी की शक्ति का घात करने का किसी को अधिकार नहीं है।

अलबत्ता शिक्षा के साथ सत्संस्कारों का होना भी आवश्यक है। कन्याओं की शिक्षा की योजना करते समय यह ध्यान रखना जरूरी है कि कन्याएँ शिक्षिता होने के साथ साथ सत्संस्कारों से भी युक्त हों, और पूर्वकालीन योग्य महिलाओं और सतियों के चरित्र पढ़कर उनके पथ पर अग्रसर होने में ही अपना कल्याण मानें। यही बात बालकों की शिक्षा के सम्बन्ध में भी आवश्यक है। ऐसी अवस्था में कन्याओं की शिक्षा का विरोध करना, उनके विकास में बाधा डालना और उनकी शक्ति का नाश करना है।

प्रत्येक समाज और राष्ट्र का भविष्य कन्या शिक्षा पर मुख्य रूप से आधारित है। कन्याएँ ही आगे होने वाली माताएँ हैं। यदि वे शिक्षित और धार्मिक संस्कार वाली हैं तो उनकी संतान अवश्य शिक्षित और धार्मिक होगी। ये देवियाँ ही देश और जाति का उत्थान करने में महत्त्वपूर्ण भाग लेने वाली हैं। एक सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ के कथनानुसार —

"यदि किसी जाति की भविष्य संतानों के ज्ञान, आचरण, उन्नति और अवनति का पहिले से ज्ञान करना है तो उस समाज की वर्तमान बालिकाओं की शिक्षा, संस्कार, आचार और भाव प्रणालियों को देखो। वे ही भावी सन्तानों के ढालने के सांचे हैं।

स्त्री ही बच्चे की प्रथम और सबसे महत्त्वपूर्ण शिक्षिका है। उसके चरित्र का गठन करने वाली भी वही है। इस दृष्टि से स्त्री समस्त राष्ट्र की माता हुई। समाज के वृक्ष को जीवित और सदैव हरा-भरा बनाए रखने के लिए बालिकाओं की शिक्षा अत्यंत ही आवश्यक है। श्री ऋषभदेवजी आदि ६३ शलाका पुरुषों को जन्म देकर उत्तम संस्कार और चरित्र प्रदान करने वाली महिलाएँ ही थीं। प्राचीन जैन इतिहास से स्पष्ट है कि जैन महिलाओं ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं। महारानी कैकेयी ने युद्ध के समय महाराजा दशरथ की अनुपम सहायता कर अपूर्व साहस और वीरत्व का परिचय दिया। सती द्रौपदी ने स्वयंवर के पश्चात् समस्त विद्रोही राजाओं के विरुद्ध अविचलित रह कर उनके दमन में अपने पति अर्जुन और भाई धृष्टद्युम्न की सहायता की थी। सती राजुल ने आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर भारतीयों के लिए एक अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया। पति सेवा के लिए मैना सुन्दरी और धर्मदृढ़ता में सती चेलना भारतीय इतिहास में अमर हो गई हैं। उनका चरित्र, ज्ञान और त्याग महिलाओं के लिए सदैव अनुकरणीय रहेगा।

इतना सब होते हुए भी आजकल बहुत से लोग स्त्री शिक्षा का तीव्र विरोध करते हैं। धर्मान्धता ही इसका मुख्य

कारण है। वे यह नहीं सोचते कि योग्य माताओं के बिना समाज की उन्नति सर्वथा असम्भव है।

जैन शास्त्र स्त्रीशिक्षा का हमेशा समर्थन करते हैं। स्त्री को धर्म और अपने सभी कर्त्तव्यों का ज्ञान कराना नितान्त आवश्यक है। अगर स्त्री मूर्ख तथा अज्ञानिनी रही हो वह अपने कर्त्तव्य को भूल सकती है। जैन शास्त्रों के अनुसार गृहस्थ रूपी रथ के स्त्री और पुरुष ये दो चक्र हैं। इन दोनों का सम्बन्ध कराकर मिलाने वाला वैवाहिक बन्धन है। बहुत लोग एक ही पहिए को अत्यत मजबूत और शक्तिशाली रखना चाहते हैं। किन्तु जब तक दोनों चक्र समान गुण वाले और समान शक्ति वाले न होंगे, रथ सुचारु रूप से नहीं चल सकता। उसकी गति में स्थिरता कभी नहीं आ सकती। पुरुष और स्त्री का स्थान बराबर होने के साथ ही साथ उनके अधिकार, शक्ति, स्वतन्त्रता में भी सदैव एकता लाने का प्रयत्न होना चाहिए। यद्यपि दोनों मे कुछ भिन्नता भी अवश्य है पर वे एक दूसरे के पूरक हैं। दोनो का सुखमय जीवन उनके पूर्ण सहयोग और प्रेम पर ही निर्भर है।

अन्य पुस्तकीय शिक्षा के साथ साथ बालिकाओं के शारीरिक विकास की ओर भी अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। इसके अभाव में उनका शरीर बहुत निर्बल होता है। एक तो वे स्वभावत ही कोमल होती हैं और दूसरे उनका गिरा हुआ स्वास्थ्य, कायरपन और भीरुता बढाने में सहायक होता है। वे पुरुष के और ज्यादा आश्रित रहती हैं। उनको किसी कार्य में स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती, उन्हें सदैव दासता के बंधन

में बन्ध कर पुरुष की गुलामी करते हुए अपना जीवन निर्वाह करना पड़ता है। कहा गया है —

'स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रहता है'

निर्बल और सदैव बीमार रहने वाली महिलाओं का जीवन सुखी नहीं रह सकता। परिवार के सभी सदस्य, चाहे कितने ही सहनशील और सभ्य क्यों न हों हमेशा की बीमारी से तंग आ ही जाते हैं। पति के मन में भी एक प्रकार का असन्तोष-सा रहता है। गृहकार्य पूर्ण रूप से न होने पर अव्यवस्था होती है। अगर प्रारम्भ से ही शरीर की ओर पर्याप्त ध्यान दिया जाय तो बीमारियाँ नहीं हो सकतीं।

लड़कों के विद्यालयों में तो उचित खेल-कूद का भी प्रबन्ध रहता है पर बालिकाओं के लिए इसका पूर्ण अभाव-सा है। उनका स्वास्थ्य बुरी अवस्था में है। प्राचीन काल में स्त्रियाँ सभी गृहकार्य अपने हाथों से किया करती थीं जिसमें कूटना पीसना खाना पकाना आदि आ जाते थे जिससे उनका स्वास्थ्य ठीक रहता था। पर आजकल तो सभी कार्य नौकरों से करवाए जाने लगे हैं। हर एक कार्य के लिए लगाए गए नौकरों से स्त्रियों का स्वास्थ्य बहुत गिरता जा रहा है। वे कुछ भी काम अपने हाथ से नहीं करना चाहतीं। उनकी इस निर्बलता का प्रभाव सन्तानों पर भी पड़ता है। वह भी बहुत अल्पायु और अशक्त होती है। कुछ हद योरोपीय संस्कृति के प्रभाव से स्त्रियों को गृहकार्य करने में लज्जा-सी होने लगी है। लेकिन योरोपीय महिला के रहन-सहन और भारतीय महिलाओं के रहन सहन में बहुत अन्तर है। वे बहुत स्वतन्त्रता पूर्वक घूमने फिरने बाहर निकलती हैं। उचित व्यायाम और खेल कूद आदि की भी

उनके लिए सुव्यवस्था है। इसी कारण उनका स्वास्थ्य ठीक रहता है, पर भारतीय महिलाएँ तो उनका अंधानुसरण करके अपना और अपनी सन्तान का जीवन बिगाड़ रही हैं।

स्त्रियों के लिए सर्वोत्तम और उपयुक्त व्यायाम गृहकार्य ही हैं। उन्हीं की उचित रूप से शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे वे अपना स्वास्थ्य ठीक कर सके । चक्की चलाना बहुत अच्छा व्यायाम है। छाती, हृदय आदि इससे मजबूत रहते हैं। शिक्षित स्त्रियाँ इन कार्यों को करने में बहुत लज्जा का अनुभव करती हैं। उनकी शिक्षा में गृहविज्ञान भी एक आवश्यक विषय होना चाहिए।

बहुत पहिले श्री मुंशी का स्त्रीशिक्षा पर एक लेख प्रकाशित हुआ था। इसमें स्त्रीशिक्षा के विभिन्न पहलुओं पर गम्भीरता से विचार किया गया था। उन्होंने कहा है —

"संसार के प्रत्येक राष्ट्र तथा मानव जाति के लिए स्त्रीशिक्षा का प्रश्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक देश की उन्नति और विकास एवं संसार का उत्कर्ष बहुत अंशों में इस महत्त्वपूर्ण समस्या को संतोषपूर्वक हल करने पर ही अवलम्बित है।"

इस समस्या को हल करने का प्रथम महत्त्वपूर्ण प्रयत्न उनकी शारीरिक विकास की योजनाओं को कार्यान्वित करना है। स्त्रियों के शारीरिक व मानसिक विकास के लिए उचित शिक्षा का प्रबन्ध करने के लिए देश के विभिन्न भागों में शिक्षा संस्थाएँ स्थापित की जानी चाहिए, जहाँ पर पुस्तकीय शिक्षा के उपरांत चरित्र निर्माण और शारीरिक विकास की ओर विशेष लक्ष्य दिया जाय। जो राष्ट्र इस प्रकार की संस्थाएँ स्थापित नहीं

कर सकता उसे अपने स्वरूप का ध्यान रखना भी असम्भव है। जिस देश की स्त्रियाँ कमजोर व निर्बल हों उनसे गुणवान् और शक्तिमान् संतानों की क्या आशा रखी जा सकती है ? जिन महिलाओं ने शिक्षा के साथ साथ अपने स्वास्थ्य को सुधारने का प्रयत्न किया उनकी संतान भी निश्चित रूप से होनहार होगी। और उन्हीं से तो राष्ट्र का निर्माण होना है। शरीर से स्वस्थ होने पर ही नारियां उच्च शिक्षा एवं उत्कृष्ट विचारों से साहस पूर्वक राष्ट्र की राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं को हल करने की क्षमता रखेंगी। साथ ही साथ आदर्श पत्नी और आदर्श माता बन कर अपना सामाजिक कर्त्तव्य पूर्ण करने में समर्थ होंगी। पुरुष स्त्री का आजन्म साथी है। सुख दुःख में सदैव अपनी पत्नी के प्रति अपनत्व की भावना रखता है। स्त्री का भी पूर्ण कर्त्तव्य है कि सभी विषम परिस्थितियों में पुरुष की सदैव सहायिका रहे। उसमें इतनी योग्यता होनी चाहिए *कि पति की प्रत्येक समस्या पर गम्भीरता से वह विचार कर* सके। तभी पति-पत्नी दोनों सच्चे सहयोगी और प्रेमी सिद्ध हो सकेंगे। स्त्री की शिक्षा इसी में पूर्ण नहीं हो जाती कि बीज गणित या रेखा गणित का प्रत्येक सवाल शीघ्र हल कर सके या रसायन शास्त्र में अच्छी योग्यता रख सके, उसकी शिक्षा तो गृहस्थ जीवन को स्वर्ग बनाने में है। पति पत्नी जहाँ जितने प्रेम से रहकर एक दूसरे के कार्य में रुचि रखेंगे *शिक्षा उतनी* ही सफल सिद्ध होगी। उनकी शिक्षा तभी पूर्ण होगी जब वे पुराने सभी उच्च विचारकों तथा कार्य-कर्त्ताओं के कार्यों को भलीभांति अध्ययन करके, अपने दृष्टिकोण से विचार कर अपने आदर्शों का उनके साथ तुलनात्मक रूप से विचार कर सकें। प्रत्येक इतिहास के पात्र के कार्यों और चरित्रों पर दृष्टि डालकर

समय और परिस्थितियों को देखकर उनके समान बनकर अपने व्यक्तित्व का निर्माण कर सके। उन्हें ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे वे नियति के विपरीत भीषण आघातों से, जो सदैव पश्चात्ताप और शोक का पथ प्रदर्शन करते हैं, बचकर नूतन साहस से अपने कर्त्तव्य पथ की ओर बढती चली जाएँ। उन्हें कभी निराशा का अनुभव नहीं करना चाहिए। सफलता और असफलता का जीवन में कोई महत्त्व नहीं। महत्त्व तो मनुष्य की प्रतिभा और प्रयत्नों का है।

हृदय में सहानुभूति, दया, प्रेम, वात्सल्य आदि गुणों का विकास ही शिक्षा का उद्देश्य हो। उन्हें यह सिखाना चाहिए कि पीड़ा और शोक आसू बहाने और नि श्वासो के द्वारा कम नहीं हो सकते। जीवन में वस्तुओं के प्रति जितनी उपेक्षा की जाएगी वे वस्तुएँ उतनी ही सुलभ और सुखमय हो जाएँगी। शिक्षा मानवता का पाठ पढ़ाने वाली हो। पीड़ा आखिर पीड़ा ही है। वह जितना हमें दुखी करती है उतनी ही दूसरों को। जितना हम उससे बचना चाहते हैं उतने ही दूसरे। हमारे हृदय और दूसरों के हृदय में कोई मौलिक भेद नहीं। सहानुभूति की भावना अपने परिवार तक ही सीमित नहीं होनी चाहिए। जितना विशाल हृदय बनाया जा सके उतना ही बना कर अधिक से अधिक लोगों में आत्मीयता का अनुभव करना ही शिक्षा का उद्देश्य हो। विश्व में ऐसे कई अबोध बालक, सरल महिलाएँ और निरपराध मनुष्य हैं जिन्हें दुनिया में कोई पूछने वाला नहीं। वे किसी के कृपापात्र नहीं। ऐसे लोगों के प्रति प्रेम और सहानुभूति का सम्बन्ध रखना ही ईश्वर में सच्ची श्रद्धा रखना है। ऐसे ही लोग भगवान् को प्रिय और उसके कृपापात्र होते हैं। अगर शिक्षा का रुख बीजगणित ही तक सीमित न रहकर

इस तरह हो तो विश्व में अधिक सुख सन्तोष और आत्मीयता फैल सकती है।

× × × ×

बालिकाओं को अपने चरित्र निर्माण की भी शिक्षा दी जानी चाहिए। लज्जा विनय शिष्टता सदाचार शील आदि अनेक आवश्यक गुण हैं। इनसे गृह जीवन में शान्ति और प्रेममय वातावरण रहता है। माताओं को चाहिए कि बालिकाओं को ऐसे संस्कार दें जिससे जीवन में ये गुण स्वाभाविक हो जाएँ। उनका हृदय कोमल और दयार्द्र होना चाहिए। दीन दुखियों और रोगियों की हालत देखकर उनमें कुछ सेवा और अपनत्व की भावना होनी चाहिए। गृहागत अतिथि या सम्बन्धी के उचित स्वागत की योग्यता भी होनी चाहिए।

भारतवर्ष में स्त्री शिक्षा की बहुत दुर्दशा है। मुश्किल से पांच प्रतिशत महिलायें यहां साक्षर होंगी। जापान में ६६% और अमेरिका में ११% लड़कियां शिक्षित हैं। इसी प्रकार अन्य बहुत से देशों में लड़कों की शिक्षा से लड़कियों की शिक्षा पर अधिक जोर दिया जाता है। किन्तु भारतवर्ष में स्त्री शिक्षा पर जोर नहीं दिया जाता है। इसके लिए बहुत कम व्यय किया जाता है। हमारे भाइयों का ध्यान बालिकाओं की शिक्षा की ओर जाता ही नहीं। शिक्षा के अभाव में नारियों की हालत आज अत्यन्त दयनीय है। वे अपना समय गृहकलह और व्यर्थ की टीका टिप्पणी में लगाती हैं। छोटे छोटे बालकों पर भी वैसे ही संस्कार पड़ जाते हैं। माता के जैसे संस्कार और काम होंगे उसका असर तत्काल बच्चे पर पड़ेगा। अतएव

स्त्रियों का शिक्षित होना जरूरी ही नहीं वरन् अनिवार्य है। शिक्षा पाए बिना नारियाँ अपना कर्तव्य पूर्ण रूप से निभाने में सफल न हो सकेंगी। ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी ने ही भारतवर्ष में शिक्षा का प्रचार किया था। नारियों को इस बात का पूर्ण ज्ञान व अभिमान होना चाहिये कि हमारी ही बहिन ने भारत को शिक्षित बनाया था। उस देवी के नाम से भारतीय लिपि अब भी ब्राह्मी लिपि कहलाती है। ब्राह्मी का नाम सरस्वती है और अन्य ग्रन्थों में उसे ब्रह्मा की पुत्री बतलाया है। ऋषभदेव ब्रह्मा थे और उनकी पुत्री ब्राह्मी कुमारी थी। इस प्रकार दोनों कथनों से एक ही बात फलित होती है। जैन ग्रन्थों से पता चलता है कि ऋषभदेव की दूसरी पुत्री सुन्दरी ने गणितविद्या का प्रचार किया था।

संसार में स्त्री-पुरुष का जोड़ा माना गया है। जोड़ा वह है जिसमें समानता विद्यमान हो। पुरुष पढ़ा लिखा और शिक्षित हो और स्त्री मूर्खा हो, तो उसे जोड़ा नहीं कहा जा सकता। आप स्वयं विचार कीजिये कि क्या यह वास्तविक और आदर्श जोड़ा है ?

पहले यह नियम था कि पहले शिक्षा और पीछे स्त्री मिलती थी। प्रत्येक बालक को ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करते हुए विद्याभ्यास करना पड़ता था। पर आजकल तो पहिले स्त्री और पीछे शिक्षा मिलती है। जहाँ यह हालत है वहाँ सुदृढ़ शारीरिक सम्पत्ति से सम्पन्न प्रकाण्ड विद्वान् कहाँ से उत्पन्न होंगे ?

स्त्री शिक्षा का तात्पर्य कोरा पुस्तक ज्ञान नहीं है। पुस्तक पढ़ना सिखा दिया और छुट्टी पाई इससे काम नहीं चलेगा। कोरे अक्षर ज्ञान से कुछ नहीं होने का, अक्षर ज्ञान के साथ

कर्त्तव्यज्ञान की शिक्षा दी जायगी तभी शिक्षा का वास्तविक प्रयोजन सिद्ध होगा।

स्त्री शिक्षा के पक्ष में कानूनी दलील देने के लिए बहुत समय की आवश्यकता है। शिक्षा देने के विषय में अब पहले जितना विरोध भी दिखलाई नहीं देता। कुछ समय पहले तो इतना अधिक वहम घुसा हुआ था कि लोग घर में दो कलम चलाना भी अनिष्टजनक समझते थे। पर अब भी कुछ भाई स्त्री-शिक्षा का विरोध करते हैं। उन्हें समझ लेना चाहिए कि यह परम्परागत कुसंस्कारों का परिणाम है। स्त्रियों को शिक्षा देना अगर हानिकारक होता तो भगवान् ऋषभदेव अपनी ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों पुत्रियों को क्यों शिक्षा देते? आज पुरुष स्त्री शिक्षा का निषेध भले ही करे मगर उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि रमणीरत्न ब्राह्मी ने पुरुषों को साक्षर बनाया है। उसी की स्मृति में लिपि का नाम आज भी ब्राह्मी प्रचलित है। जो पुरुष जिसके प्रताप से साक्षर हुए उसी के वर्ग (स्त्री वर्ग) को अक्षरहीन रखना कृतघ्नता नहीं है? जैन समाज में ब्राह्मी का 'भारती' नाम भी प्रचलित है। 'भारती' और 'सरस्वती' शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं। विद्या प्राप्ति के लिए लोग सरस्वती—अरे स्त्री की पूजा करते हैं फिर कहते हैं कि स्त्री शिक्षा निषिद्ध है! स्मरण रखिये जब से पुरुषों ने स्त्री शिक्षा के विरुद्ध आवाज उठाई है तभी से उनका पतन प्रारम्भ हुआ है और आज भी उस विरोध के कटुक फल भुगतने पड़ रहे हैं।

स्त्री शिक्षा का अर्थ यह नहीं कि आप अपनी बहू-बेटियों को यूरोपियन लेडी बनावें और न यही अर्थ है कि उन्हें घू घट में

लपेटे रहें। मैं स्त्रियों को ऐसी शिक्षा देने का समर्थन करता हूँ जैसे सीता, सावित्री, द्रौपदी, ब्राह्मी, सुन्दरी और अंजना आदि को मिली थी, जिसकी बदौलत वे प्रातःस्मरणीय बन गई हैं और उनका नाम मांगलिक समझकर आप श्रद्धा भक्ति के साथ प्रतिदिन जपते हैं। उन्हें ऐसी शिक्षा दी जाय जिससे वे अज्ञान के अन्धकार से बाहर निकल कर ज्ञान के प्रकाश में आ सकें। उन्हें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जिससे वे भली-भांति धार्मिक उपदेशों को अपना सकें। उन्हें ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए जिसके कारण उन्हें अपने कर्त्तव्य का, अपने उत्तर-दायित्व का, अपने स्वरूप का, अपनी शक्ति का, अपनी महत्ता का और अपनी दिव्यता का बोध हो सके। उन्हें ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए जिससे वे अबला न रहें—सबला बनें। पुरुषों का बोझ न रहें—शक्ति बनें। वे कलहकारिणी न रहें—कल्याणी बनें। उन्हें जगज्जननी वरदानी एवं भवानी बनाने वाली शिक्षा की आवश्यकता है।

४—अशिक्षा का परिणाम

स्त्रियों को घर से बाहर निकलने पर प्रतिबन्ध लगाना पूर्ण रूप से दासता का चिह्न है। स्त्री शिक्षा के अभाव में पुरुषों ने महिलाओं की सरलता और अज्ञानता से बहुत लाभ उठाया। उन्हें यह पट्टी अच्छी तरह पढ़ाई गई कि स्त्रियों का सबसे बड़ा धर्म पतिसेवा है, उनका सबसे बड़ा देवता पति देव है, पति को प्रसन्न और सुखी रखना उनके जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है। पति चाहे क्रूर, निर्दय, पापी, दुराचारी चाहे जैसा हो वह देव तुल्य पूज्य होता है। पत्नी को वह चाहे कितनी ही निर्दयता से मारे पीटे, पर पत्नी को उफ तक न करना चाहिए।

पति की प्रत्येक इच्छा की पूर्ति वह प्राण देकर भी करे। उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने पर सभी नरक उसके लिए मुंह बाए खड़े हैं। जीवन पर्यंत उसके पांव की धूलि अपने मस्तक पर चढ़ाकर अपने को धन्य मानना चाहिए। प्रातः उठते ही पतिदेव का दर्शन कर नेत्रों को पवित्र करे उसकी प्रत्येक आज्ञा को ब्रह्म वाक्य समझ कर शिरोधार्य करे। इस प्रकार की एकांगी शिक्षा दे देकर वास्तव में स्त्री जाति के प्रति बहुत अत्याचार किया गया। पतिव्रत धर्म तथा धर्म शास्त्र के अनेक पवित्र आदर्शों का गलत अर्थ ले लेकर उसका अनुचित फायदा उठाया गया और शास्त्रों की बदनामी की गई। शिक्षा के अभाव में ऐसी कार्यवाहियों द्वारा स्त्री समाज को अपार हानि उठानी पड़ी। बिल्कुल गुलामों सरीखा व्यवहार उनके साथ किया गया। दहेज प्रथा द्वारा उनका क्रय और विक्रय तक करने में बालिकाओं के माता पिता को लज्जा का अनुभव नहीं होता था।

कई शताब्दियों तक स्त्रियों के ऐसी अवस्था में रहते हुए यही कहा जाने लगा है कि स्त्रियाँ स्वभावतः शारीरिक दृष्टि से कमजोर होती हैं, उन्हें स्वतन्त्रता स्वतः पसन्द नहीं घर के सिवा बाहर जाना भी नहीं चाहतीं तथा पुरुषों की गुलामी ही में जीवन की सफलता समझती हैं। लेकिन यह बात पूर्ण रूप से असत्य है। अशिक्षा एवं अज्ञानता के कारण वह पृथक् रूप से अपना जीवन निर्वाह नहीं कर सकती अतः उन्हें पति के आधीन रहना पड़ता है तथा दूसरे की गुलामी करनी पड़ती है पर इसका यह तात्पर्य नहीं की स्त्रियाँ गुलामी ही पसन्द करती हैं तथा परतन्त्रता उन्हें पसन्द नहीं है। आजीविका की सब से बड़ी समस्या उन्हें सदैव दुखी बनाए रहती है। उन्हें ऐसी शिक्षा प्रारम्भ से नहीं दी जाती जिससे वे अपने जीवन का निर्वाह

स्वतन्त्र रूप से कर सके। अगर वे इस योग्य हों कि स्वतन्त्रता-पूर्वक अपने और अपनी सन्तानों का पालन-पोषण कर सकें, तो उनकी हालत में बहुत कुछ सुधार हो सकता है। वह पति की दासी मात्र न रहकर पवित्र प्रेम की अधिकारिणी हो सकती हैं। उनका हृदय स्वभावत कोमल होता है और उसमें प्रेम रहता है और आत्मसमर्पण की भावना पूर्ण रूप से विद्यमान होती है। पूर्ण रूप से शिक्षा प्राप्त करने पर भी वह प्रेममय दाम्पत्य जीवन व्यतीत कर सकती हैं।

शिक्षा के अभाव मे स्त्री के लिए विवाह एक आजीविका का साधन मात्र रह गया है। अभी हिन्दू समाज में कई ऐसे पति हैं जो बहुत क्रूर एव निर्दय हैं और अपनी स्त्रियों को दिन रात पाशविकता से मारते पीटते रहते हैं तथा कई ऐसी साध्वी देविया हैं जिन्हें अपने शराबी और जुआरी पति को देवता से भी बढकर मानते हुए पूजना पड़ता है और वे लाचारीवश अपने बंधनों को नहीं तोड़ सकती। अशिक्षा के कारण आजीविका के साधनों का अभाव ही उनकी ऐसी गुलामी का कारण है।

समाज में यह भावना कूट-कूट कर भरी हुई है कि स्त्रियों का स्थान घर के भीतर ही है, बाहर नहीं और इन्हीं विचारों की पुष्टि के लिए यह कहना पड़ता है कि स्त्रियाँ घर से बाहर के कार्यक्षेत्र के लिए बिल्कुल उपयुक्त नहीं। कुछ समय के लिए उन्हें शारीरिक दृष्टि से अयोग्य मान भी लिया जाय तो भी इस विज्ञान के युग में मस्तिष्क की शक्ति के सामने शारीरिक शक्ति कोई महत्त्व नहीं रखती। सभी महत्त्वपूर्ण कार्य मस्तिष्क

से ही छिप जाते हैं। मानसिक दृष्टि से तो कम से कम स्त्री और पुरुष की शक्ति में भेद नहीं किया जा सकता। अभी तक शिक्षा के क्षेत्र में स्त्रियाँ पुरुषों के समान कार्य नहीं कर सकीं। यह तो उनकी लाचारी थी। उन्हें पूर्ण रूप से अशिक्षित रख कर समाज क्या आशाएँ रख सकता था कि वे अपनी शक्तियों का उचित उपयोग कर सकें?

अगर अच्छी तरह से विचार किया जाय तो यह भी स्पष्ट हो जायगा कि स्त्री और पुरुष की शारीरिक शक्ति में कोई खास भेद नहीं है। कुछ तो स्त्रियों का रहन-सहन ही सदियों से ऐसा चला आ रहा है तथा आस-पास और वातावरण से उनमें कमजोरी आ जाती है जो कि पीढ़ी दर पीढ़ी से चली आ रही है। स्त्री और पुरुष की शरीर रचना में कुछ भेद है पर उसका यह तात्पर्य नहीं कि स्त्री का किसी क्षेत्र से बहिष्कार ही किया जाय। कई ऐसी स्त्रियाँ हैं और थी जो प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों के समान ही सफल कार्यकर्त्री साबित हुईं। शिक्षा के क्षेत्र में ब्राह्मी धार्मिक क्षेत्र में चन्दनबाला द्रौपदी मृगावती आदि सतियाँ थीं जिनका पुरुषार्थ अनेक पुरुषों से भी बढ़ा-चढ़ा था। भारतवर्ष प्रारम्भ से ही आध्यात्मप्रधान देश रहा और विशेष कर स्त्रियाँ तो स्वभावतः धार्मिक हृदय होती हैं। अतः उसी क्षेत्र में वे पुरुषों के समान महत्त्वपूर्ण स्थान लेती रहीं यद्यपि राजनैतिक क्षेत्र में भी आजकल महिलाएँ बराबर भाग लेती हैं। रानी लक्ष्मीबाई, अहिल्याबाई दुर्गावती चांदबीबी नूरजहाँ आदि का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। वे अन्य राजाओं के समान ही नहीं लेकिन कुछ राजाओं से अधिक योग्यता और साहसपूर्वक

राज्य संचालन करती रहीं और युद्धादि के समय वीर अभिनेत्री बनती थीं। वीरता में भी स्त्रियाँ पुरुषों से कम नहीं। यद्यपि वे स्वभावत कोमलहृदया होती हैं पर समय पड़ने पर वे मृत्यु के समान भयंकर भी हो सकती हैं। रानी दुर्गावती और लक्ष्मीबाई के उदाहरण भारतवर्ष में अमर रहेंगे। त्याग और बलिदान की भावना उनमें पुरुषों से अधिक ही होती है। वे प्रथम तो अपना सर्वस्व ही पतिदेव को समर्पण कर विवाह करती हैं तथा साथ ही साथ अपनी इज्जत बचाने के लिए वे प्राण तक बलिदान कर सकती हैं। पद्मिनी आदि चौदह हजार रानियों का हँसते-हँसते आकाश को छूती हुई आग की लपटों में समाकर सती होना क्या विश्व के समक्ष भारतीय नारी के त्याग और बलिदान का ज्वलंत उदाहरण नहीं?

महारानी एलिजाबेथ और महारानी विक्टोरिया ने भी अपनी सुयोग्यता द्वारा सफलतापूर्वक इतने बड़े राज्य का सचालन किया। अगर शारीरिक दृष्टि से स्त्रियाँ शक्तिहीन होतीं तो किस प्रकार वे इतना बड़ा कार्य कर सकती थीं? वास्तव में स्त्रियों का उचित पालन पोषण तथा शिक्षा होनी चाहिए। राजघराने की महिलाओं को ये सब वस्तुएँ सुलभ होती हैं। वातावरण भी उन्हें पुरुषों जैसा प्राप्त होता है, फलत. वे भी पुरुषों के समान योग्य होती हैं। साधारण नारी को चूल्हे और चक्की के सिवाय घर में और कुछ प्राप्त नहीं होता अत उनकी योग्यता और शक्ति वहीं तक सीमित रह जाती है।

शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से स्त्रियों और पुरुषों की शक्ति बराबर ही होती है। हर एक कार्य को स्त्रियाँ

भी उतनी ही योग्यता से कर सकती हैं जितना कि पुरुष। पर नहीं कह सकते कि जो कार्य पुरुष कर सकते हैं उन्हें स्त्रियाँ कर ही नहीं सकतीं। अभ्यास प्रत्येक कार्य को सरल बना देता है। यद्यपि समाज की सुव्यवस्था के लिए दोनों के कार्य सुचारु रूप से विभाजित कर दिए गए हैं पर इसका अभिप्राय यह नहीं कि स्त्री किसी अपेक्षा से पुरुषों से कम है या जो काम पुरुष कर सकते हैं वे काम स्त्रियों द्वारा किए ही नहीं जा सकते।

शरीर-रचना-शास्त्र के अनुसार बहुत से लोग यहाँ तक भी सिद्ध करने का साहस करते हैं कि स्त्री तथा पुरुषों के मस्तिष्क में विभिन्नता है। स्त्री की अपेक्षा पुरुष का मस्तिष्क विशाल होता है। पर यह कथन सर्वथा उपयुक्त नहीं। इस कथन के अनुसार तो मोटे आदमियों का मस्तिष्क हमेशा भारी ही होना चाहिए। पर यह तो बहुत हास्यास्पद और असत्य है। हम निजी अनुभव से भी देख सकते हैं कि मोटे आदमी भी बहुत बुद्धू और मूर्ख होते हैं। तथा दुबले पतले दिखने वाले भी अधिक बुद्धिमान और बड़े मस्तिष्क वाले होते हैं।

स्त्रियों का कार्यक्षेत्र घर तक ही सीमित रखने के लिए जिस प्रकार उनकी शारीरिक कमजोरी बताई जाती है उसी प्रकार उनकी मानसिक कमजोरी को भी उनकी पराधीनता का कारण बताया जाता है। उनको पुरुष समाज सदियों तक घर के पर्दे में और घूँघट में रखता रहा और आज यह तर्क दिया जाता है कि उनमें से कोई भी बड़ी राजनीतिज्ञ दार्शनिक वैज्ञानिक नहीं हुई अतः उनमें कोई मानसिक न्यूनता है। उनसे

यह आशा रखी जाती है कि वे चक्की पीसते पीसते वैज्ञानिक बन जाए, खाना बनाते बनाते दार्शनिक हो जाएँ और पति की ताड़ना सहते सहते राजनीतिज्ञ हो जाएँ। जहाँ बिल्कुल शिक्षा का प्रचार ही नहीं और स्त्रियों को घर से बाहर नहीं निकाला जाता वहाँ ये सब बातें कैसे सम्भव हैं ?

मानसिक कमजोरी का तर्क तब युक्तिपूर्ण हो सकता है जब एक स्त्री प्रयत्न करने पर भी उस क्षेत्र में कुछ भी कार्य करने के योग्य न हो सके। पर ऐसा कहीं भी देखने में नहीं आता। स्त्रियाँ शिक्षित होने पर हर एक कार्य बड़ी सफलता पूर्वक कर सकती हैं। जिस गति से भारत में स्त्रीशिक्षा बढ रही है उसी गति से महिलाएँ प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़ती जा रही हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि सुशिक्षिता स्त्रियाँ भी किसी मानसिक कमजोरी के कारण कोई कार्य करने में असमर्थ रही हों। भारत वर्ष में और अन्य देशों में, महत्त्वपूर्ण कार्यों में स्त्रियों के आगे न आने का कारण उनको अवसर न मिलना ही है।

अभी स्त्रीशिक्षा की नींव डाली ही गई है, धीरे धीरे निरन्तर प्रगति होते होते निश्चित रूप से महिलाएँ अपने को पुरुषों के बराबर सिद्ध कर देंगी। एकदम नव शिक्षिताओं को पुरानी सभी विचारधाराओं का पूर्ण रूप से अध्ययन कर लेना कष्टसाध्य भी तो होता है।

इस प्रकार यह निश्चित है कि शारीरिक और मानसिक दृष्टि से स्त्री व पुरुष दोनों बराबर होते हैं। पति को ऐसी अवस्था में पत्नी को दासी बना कर रखना उसके प्रति अन्याय होगा। स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि स्त्री और पुरुष की शिक्षा में भिन्नता होनी चाहिए अथवा नहीं ?

५—शिक्षा की रूपरेखा

यह निश्चित है कि पति चाहे जितना ही धन अर्जित करता हो, अगर उस पैसे का उचित उपयोग न किया जाय तो बहुत हानि होने की संभावना है। अगर घर की व्यवस्था उपयुक्त नहीं, स्वच्छता की ओर कोई लक्ष्य नहीं उचित सन्तानपोषण की व्यवस्था नहीं तथा खान-पान की सामग्री का इंतजाम नहीं तो कौटुम्बिक जीवन कभी सफल और सुखी नहीं रह सकता। अगर गृहिणी शिक्षिता होकर ऑफिस में पतिदेव की तरह क्लर्की करे और उनकी सन्तान सदैव दुखी रहे, तथा सभी प्रकार की अव्यवस्था हो तो क्या वह दाम्पत्य जीवन सुखी होगा? एक सफल गृहिणी होना ही स्त्री का कर्तव्य है। पति पत्नी दोनों ही अगर भिन्न भिन्न क्षेत्र में अपना अपना कर्तव्य अच्छी तरह पूरा करते रहें तभी गृहजीवन सुखी हो सकता है। पति का ऑफिस में कार्य करना ही महत्त्वपूर्ण है जितना स्त्री का भोजन बनाना। किसी का भी कार्य एक दूसरे से हीन नहीं। स्त्रियों को सुशिक्षित होकर अपनी गृहस्थी को स्वर्ग बनाने और अपनी सन्तान को गुणवान् बनाकर सुसंस्कारी करने का उपक्रम करना चाहिए। स्त्रियों की शिक्षा निश्चित रूप से पुरुषों से भिन्न प्रकार की होनी चाहिए। साधारण रूप से सभी शिक्षिता स्त्रियों को सफल गृहिणी बनने में सीता सावित्री का आदर्श अपनाना चाहिए। किन्हीं विशेष परिस्थितियों में कोई स्त्री अर्थप्राप्ति में भी पति का हाथ बँटा सकती है अपनी सुविधा और योग्यता के अनुसार। पर स्त्रियों के बिना गृहस्थी सुव्यवस्थित नहीं रह सकती और उन्हें इस ओर सुशिक्षिता होकर उपेक्षा कदापि नहीं करना चाहिए।

आजकल स्त्रियों को धर्म, शिल्प, विज्ञान, गृहकार्य, रन्धन, सीना, सन्तान पोषण और स्वच्छता आदि की शिक्षा दी जानी चाहिए।

अश्लील, नाटकों, उपन्यासों, सिनेमा आदि में व्यर्थ समय नष्ट न किया जाय तो अच्छा है। मनोरंजन के लिए चित्रकला, संगीत आदि की शिक्षा देना उपयुक्त है। प्राचीन काल में बालिकाओं को अन्य शिक्षाओं के साथ साथ संगीत आदि का भी अभ्यास कराया जाता था। नृत्य भी एक सुन्दर कला है। नृत्य और संगीत शिक्षा मनोरंजन के साथ साथ स्वास्थ्यलाभ की दृष्टि से भी अच्छी है। इन बातों से दाम्पत्य जीवन और भी सुखमय, आकर्षक तथा मनोरञ्जक बन जाता है। परस्पर पति-पत्नी में प्रेम भी बढता है। कला के क्षेत्र में वे उन्नति करेंगी और बहुत से आदर्श कलाकार पैदा होंगे।

शिक्षा के प्रति प्रेम होने से आदर्श नारी चरित्र की ओर अग्रसर होने का वे प्रयत्न करेंगी। सीता, सावित्री, दमयन्ती, मीराबाई आदि के जीवनचरित्र को समझकर अपने जीवन को उन्हीं के अनुरूप बनाने का वे प्रयत्न करेंगी। स्त्रियों के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण शिक्षा तो मातृत्व की है। जितनी योग्यता से वे बच्चों का पालन पोषण करेंगी राष्ट्र का उतना ही भला होगा।

बालकों के स्वभाव का मनोवैज्ञानिक अध्ययन होना सतान के हृदय में उच्च सस्कार डालने में विशेष उपयोगी सिद्ध हो सकता है। प्रत्येक बालक की प्रारम्भ से ही भिन्न भिन्न प्रकार की स्वाभाविक रुचि होती है। कोई स्वभाव से ही गम्भीर और शान्त होते हैं, कोई चचल और कोई बुद्धिहीन और मूर्ख होते हैं।

बालकों की रुचि खेल-कूद की ओर ही होती है कोई संगीत का प्रेमी होता है तो कोई अध्ययनशील, किसी को दुकान की गद्दी पर बैठ कर सामान तोलने में ही प्रसन्नता होती है तो किसी को मन्दिर में जाकर ईश्वर के भजन में ही आत्मसन्तोष प्राप्त होता है। अगर ऐसी ही स्वाभाविक रुचि के अनुसार बालकों की शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय तो वे उसमें बहुत सफल और प्रवीण हो सकते हैं। स्त्रियों के लिए ऐसी ही मनोवैज्ञानिक शिक्षा उपयोगी है, जिसके द्वारा वे बालकों को समझ सकें। उनके मस्तिष्क की गतिविधि को पहचानने में ही उनके जीवन की सफलता निर्भर रहती है।

जैसा व्यवहार करना बचपन में बालकों को सिखाया जायगा वैसा ही वे जीवन भर करते रहेंगे। वे प्रत्येक बात में माता-पिता और कुटुम्ब के वातावरण का अनुकरण करते हैं। अगर माता स्वभाव से योग्य कर्त्तव्यनिष्ठ सुसंस्कृत और सभ्य है तो कोई वजह नहीं कि पुत्र अयोग्य हो। पुत्रों को सुधारने के लिए माताओं को अपने आचरण और व्यवहार को सुधारना चाहिए। स्त्रियों को इसी प्रकार की शिक्षा देना उपयुक्त है जिससे वे संतान के प्रति अपना उत्तरदायित्व समझें और अपना व्यवहार सुधारें। झूठे ममत्ववश बालकों को जिद्दी और हठी बना देना उनका जीवन बिगाड़ने के समान है।

मातृत्व में ही स्त्रियों पर सबसे बड़े उत्तरदायित्व का भार रहता है अतः उसी से सम्बन्धित शिक्षा भी उनके लिए उपयुक्त है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि और किसी प्रकार की शिक्षा की उनको आवश्यकता ही नहीं। महिलाओं के लिए भी शिक्षा का बहुत सा क्षेत्र रिक्त है। घर के आय-व्यय का पूर्ण

हिसाब रखना गृहिणी का ही कर्त्तव्य है। कितना रुपया किस वस्तु में खर्च किया जाना चाहिए, इसका अनुमान लगाना चाहिए। घन की प्रत्येक इकाई को कहाँ कहाँ खर्च किए जाने पर अधिक से अधिक सन्तोष प्राप्त किया जा सकता है, यह स्त्री ही सोच सकती है। बच्चों को चोट लग जाने पर, जल जाने पर, गर्मी सर्दी हो जाने पर, साधारण बुखार में कौनसी औषधि का प्रयोग किया जाना चाहिए, इसका साधारण ज्ञान होना चाहिए। इसका साधारण ज्ञान होना अत्यावश्यक है। घर की प्रत्येक वस्तु को किस प्रकार रखा जाय कि किसी को भी नुकसान न पहुँचे, यह सोचना गृहिणी का कार्य है। घर को स्वच्छ और आकर्षक बनाए रखने में ही गृहिणी की कुशलता आकी जाती है। घर की स्वच्छता और सुन्दरता भी वातावरण की तरह मनुष्य के मस्तिष्क पर प्रभाव डालने वाली होती है। चतुर गृहिणी अपनी योग्यता से घर को स्वर्ग बना सकती है और मूर्ख स्त्रियाँ उसी को नरक। यद्यपि अकेली शिक्षा ही पर्याप्त नहीं होती, उसके साथ साथ कोमलता, विनय और सरलता आदि स्वाभाविक गुण भी महिलाओं में होने चाहिए, पर शिक्षा का महत्त्व जीवन में कभी कम नहीं हो सकता। जितना अधिक महिलोचित शिक्षा का प्रचार होगा, गृहस्थी की व्यवस्था उत्तम प्रकार से होगी, बालकों की शिक्षा उचित रूप से होगी और कौटुम्बिक जीवन सुखी होगा।

कुछ लोगों की धारणा है कि स्त्रियों का कार्य घर में चूल्हा चक्की ही है अत उनको पढाने लिखाने की आवश्यकता नहीं। तथा कई लोग प्रत्येक स्त्री को M A कराकर पुरुषों के समान ही नौकरी करने के पक्षपाती हैं। ये दोनों बातें उपयुक्त नहीं। यह

कथन अत्यंत निराधार है कि एक सफल गृहिणी को शिक्षा की आवश्यकता नहीं। कुछ प्रारंभिक शिक्षा के उपरांत उच्च गृहस्थ शास्त्र का अध्ययन करना प्रत्येक स्त्री के लिए आवश्यक है। हर एक कार्य को सफलता से पूरा करने के लिए शिक्षा लाभी चाहिए। प्रत्येक वस्तु का गहरा अध्ययन होने से ही उसकी उपयोगिता और अनुपयोगिता का पता चलता है। सुशिक्षिता स्त्रियाँ सफल गृहिणी और सफल माता बन कर गृहस्थजीवन को स्वर्ग बना सकती हैं।

वास्तव में स्त्री-पुरुषका श्रम-विभाजन ही सर्वथा उचित और अनुकूल है। दोनों के क्षेत्र भिन्न २ होते हुए बराबर महत्वपूर्ण हैं। पुरुष पैसा कमा कर लाता है, और स्त्री उसका भिन्न भिन्न कार्यों में उचित विभाजन करती है। न स्त्री ही पुरुष की दासी है और न पुरुष ही स्त्री का मालिक है। दोनों प्रेमपूर्वक अगर मैत्री सम्बन्ध रक्खेंगे तभी गृहस्थी सुखमय होगी। स्त्री को गुलाम न समझ कर घर में उसका कार्य क्षेत्र भी उतना ही महत्वपूर्ण समझा जाना चाहिए। पर पुरुष-समाज में ऐसे बहुत ही कम लोग होंगे जो ऐसी मनोवृत्ति के हों। ऐसी विषम परिस्थितियों में कम से कम स्त्री में इतनी योग्यता तो होनी ही चाहिए कि स्वतन्त्र रूप से वह अपना जीवन-निर्वाह कर सके। विशेष प्रतिभावान् स्त्री अगर अपनी प्रखर प्रतिभा से समाज को विशेष लाभ पहुँचा सकती है तो उससे उसे वंचित न रखा जाना चाहिए। पर साधारण स्त्रियों को अपनी गृहस्थी की अवहेलना न करना ही उचित है। शिक्षा के क्षेत्र में उन्हें प्रतिबन्ध तो कुछ होने ही नहीं चाहिए।

शिक्षा के अभाव में भारतीय विधवासमाज को बहुत हानि उठानी पड़ी। उनका जीवन बहुत कष्टमय और दुखी रहा। कुटुम्ब में उनको कुछ महत्त्व नहीं दिया जाता है और बहुत बन्धन में रह कर जीवन व्यतीत करना पड़ता है। अगर प्रारम्भ से ही इनकी शिक्षा का पूर्ण प्रबन्ध किया जाता और अपनी आजीविका चलाने लायक योग्यता इनमें होती तो इनका जीवन सुधर सकता था। समाज को इनकी प्रतिभा से बहुत कुछ लाभ भी मिल सकता था।

एक कुटुम्ब में यह आवश्यक है कि पति अवश्य ही पर्याप्त रुपया कमाए जिससे कि जीवननिर्वाह हो सके। अगर कोई पति इतना नहीं कर सकता हो तो समस्त कुटुम्ब पर आफत आ जाती है। कई परिवार ऐसे हैं जिनमें गृहपति के बन्धुगण या बच्चे नहीं कमा पाते और फलस्वरूप वह कुटुम्ब बरबाद हो जाता है। अगर स्त्रियाँ सुशिक्षित हों तो वे ऐसी परिस्थितियों में पति का हाथ बँटाकर उसकी सहायता कर सकती हैं। श्रमविभाजन का यह तात्पर्य तो कदापि नहीं कि स्त्रियाँ पैसा कमाने का कार्य करें ही नहीं, अगर उनमें इतनी योग्यता है तो उनका कर्त्तव्य है कि वे आपत्ति के समय पति की यथाशक्ति मदद करें। आखिर जिसे जीवन-साथी बनाया है उसके दुःख में दुःख और सुख में सुख मानना ही तो स्त्रियों का कर्त्तव्य है।

हर एक स्त्री को खूब पढ़ लिखकर बिल्कुल पुरुषों के समान स्वतन्त्र होकर नौकरी आदि करना चाहिए, यह विचार भी युक्तिसंगत नहीं। हर एक स्त्री यदि ऐसा करने लगे तो घर की व्यवस्था कैसे हो? संतान का पालन पोषण कौन करे? घर की प्रत्येक वस्तु को हिफाजत से यथास्थान कौन रखे? और

खानपान का उचित बन्दोबस्त कैसे हो? नौकरी भी करते रहना और साथ में इन सब बातों का इंतजाम भी पूर्ण रूप से करना तो बहुत ही कष्टसाध्य होगा। अगर कोई ऐसी असाधारण योग्यता वाली महिला हो तो वह जैसा चाहे वैसा कर सकती है।

चाहे ऐसी परिस्थितियाँ कभी उत्पन्न न हों पर प्रत्येक अवस्था में स्त्री को अपनी स्वतंत्र आजीविका चलाने लायक योग्यता प्राप्त करनी चाहिए। स्त्री का पुरुष पर किसी बात पर निर्भर न होना और पुरुष का स्त्री पर किसी बात पर निर्भर न रहना कोई अनुचित बात नहीं। जो स्त्री घर के कार्य क्षेत्र में रुचि न रख कर किसी अन्य क्षेत्र के लिए योग्य होकर अपनी शक्तियों के विकास का दूसरा मार्ग ग्रहण करना चाहती है उसे पूरी स्वतंत्रता दी जानी चाहिए। पुरुषों का क्षेत्र स्त्रियों के पहुँच जाने से कोई अपवित्र नहीं हो जायगा और न वे किसी कार्य के लिए सर्वथा अनुपयुक्त ही हैं। क्यों कि पुरुष समाज अब तक स्त्रियों को दासता में रखने का ही अभ्यस्त था इसलिए उन्हें शिक्षा से पूर्ण रूप से वंचित रखा गया। इसी दासता को और मजबूत बनाए रखने के लिए बहुत प्रयत्न किए गए थे। उनकी शारीरिक और मानसिक शक्तियों की कमजोरी का तर्क दिया जाता रहा। इस सब के परिणामस्वरूप स्त्री की परवशता बढ़ती गई और जैसे २ स्त्री परतंत्र होती गई पुरुष को स्वामित्व के अधिकार भी ज्यादा मिलते गए। सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में उसका प्रभुत्व बढ़ता गया। परिस्थिति ऐसी हो गई कि पुरुष स्त्री को चाहे जितनी ही निर्दयता से मारे पीटे या घर से निकाल दे पर स्त्री चूं तक नहीं कर सकती।

अगर प्रारंभ से स्त्रियों को अपने जीवननिर्वाह करने योग्य शिक्षा दी जाती तो समाज की बहुत सी अबलाओं और विधवाओं के नैतिक पतन के एक मुख्य कारण का लोप हो जाता।

आज स्त्रियों में जागृति की भावना बढ़ती जा रही है। वह खुले रूप से राजनैतिक, सामाजिक या धार्मिक क्षेत्र में पुरुषों से मुकाबला करने के लिए तैयार हैं। यूनीवर्सिटियों मे लड़कियां बड़ी से बड़ी डिग्रियां प्राप्त करने में तल्लीन हैं। पर हमारा देश अभी पतन के गहरे गड्ढे में गिर रहा है या उन्नति की ओर अग्रसर है? इस प्रश्न का उत्तर देना जितना सरल है उससे ज्यादा कठिन। किसी देश की उन्नति की कोई निश्चित सीमारेखा अभी तक किसी के द्वारा निर्धारित नहीं की गई है। प्रत्येक देश की सभ्यता और संस्कृति की भिन्नता के साथ साथ लोगों की मनोवृत्तियों और विचारधाराओं में भी विभिन्नता आ जाती है। उन्नति की एक परिभाषा एक देश में बहुत उपयुक्त भी हो सकती है और वही दूसरे देश मे उसके ही विपरीत हो सकती है। सभी के दृष्टिकोण भिन्न भिन्न हो सकते हैं।

कुछ समय पहिले भारत में शिक्षिता स्त्रियाँ बहुत कम थीं, पर अब तो उनकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। अपने अधिकारों और स्वतन्त्रता की मांगों की प्रतिध्वनि भी स्पष्ट रूप से सुनाई देने लगी है। पर मुख्य प्रश्न है कि क्या यह वर्तमान शिक्षा प्रणाली भारतीयों के सुख, सन्तोष व समृद्धि को बढ़ा सकेगी? क्या केवल शिक्षिता होने से पति पत्नी के सम्बन्ध, अच्छे रहकर गृहस्थ जीवन स्वर्ग बन सकेगा? अगर नहीं तो शिक्षित स्त्रियाँ क्या करेंगी और उनका भविष्य क्या होगा?

६—वर्तमान शिक्षा का बुरा प्रभाव

शिक्षा के अभाव में बहुत समय तक हमारे स्त्रीसमाज की हालत बहुत दयनीय परतन्त्र और दासतापूर्ण रही। उनकी अज्ञानता के कारण बहुत सी बुराइयाँ उत्पन्न हो गईं। फलतः स्त्रीशिक्षा को प्रधानता दी जाने लगी। अशिक्षा को ही सब बुराइयों का मुख्य कारण समझ कर उसे ही दूर करने पर बहुत जोर दिया जाने लगा पर अब धीरे धीरे शिक्षित स्त्रियों की संख्या बढ़ती जा रही है। अब तक यह आशा की जाती थी कि पढ़ लिख कर स्त्रियाँ सफल एवं चतुर गृहिणी बनेंगी। वे आदर्श पत्नी होकर पतिव्रत धर्म का आदर्श विश्व के समक्ष रखेंगी। वीर गुणवान् संतान उत्पन्न कर राष्ट्र का भला करेंगी। शिक्षा की ओर महिलाओं की रुचि देखकर हम शकुन्तला सीता के स्वप्न देखने लगे। हम सोचते थे कि बहुत समय पश्चात् अब भारतवर्ष में फिर अब ध्रुव भरत और हनुमान जैसे तपस्वी शक्तिमान् और गुणवान् पुत्र उत्पन्न होने लगेंगे। हमें पूर्ण विश्वास था कि महावीर बुद्ध, गौतम सरीखे महापुरुष उत्पन्न होकर भारत की कीर्तिपताका एक बार फिर विश्व में फहराने लगेगी। ऐसी ही मनोहर आशाओं और आकांक्षाओं के साथ-साथ अविद्यारूपी अन्धकार को दूर करने के लिए ज्ञान-सूर्य का उदय हुआ। पर अब उस प्रकाश में अपने आपको, भारत के वर्तमान नवयुवक और नवयुवतियों को और उनकी शिक्षा को परखने का अवसर आ गया है। क्या भारत की वर्तमान शिक्षिता स्त्रियाँ अपने उसी कर्त्तव्य को समझने का प्रयत्न कर रही हैं? क्या उनसे जो आशाएं थीं उन्हें पूर्ण करने की क्षमता उनमें है? आदि बहुत से प्रश्न अभी विचारणीय हैं।

हमारी वे सब आशाएँ मुरझाई सी जा रही हैं। हमारे सुख-स्वप्न अधूरे ही समाप्त हो रहे हैं। दहेज की प्रथा बहुत ही घातक है। इससे प्रायः अनमेल विवाह होते हैं। शिक्षिता लड़कियों को शिक्षित पति नहीं मिलते और शिक्षित पतियों को सुशिक्षिता पत्नियाँ नहीं मिलतीं। इस प्रकार सामाजिक जीवन बहुत खराब हो रहा है। दाम्पत्य सुख भी प्राप्त नहीं होता। विवाह के बाद से ही एक प्रकार का असंतोष सा घेरे रहता है जिससे जीवन दुखमय हो जाता है।

शिक्षिता होकर स्त्रियाँ नौकरी का साधन तो ढूंढ सकती हैं पर आदर्श गृहिणी और सफल माता नहीं बनना चाहतीं। गृहिणी बनने के स्थान पर शिक्षिता होकर पति को तलाक देकर ऑफिस में क्लर्की करना चाहती हैं और सफल माता बनने के स्थान पर संतान के पालन पोषण की जिम्मेवारी से बचने के लिए कृत्रिम गर्भनिरोध के साधन ढूंढती फिरती हैं। ऐसी अवस्था में कौटुम्बिक जीवन कहाँ तक सुखी हो सकता है? पति के प्रति भी प्रेम रखना, उसकी आज्ञाओं का पालन करना, विशेष अवसरों पर सेवा आदि करना वे दासता का चिह्न समझती हैं।

किसी भी गृहकार्य को करना उनकी शान के खिलाफ है। अगर सीता सावित्री बनना उचित नहीं समझती तो कम से कम साधारण रूप से गृहस्थी की सुव्यवस्था करना तो उनका धर्म है। पूर्णरूप से पतिव्रता बनकर न रह सकती हों तो कम से कम ऑफिस से थके मादे आए हुए पति के साथ दो मीठी बातें तो कर सकती हैं। लव, कुश, भरत सरीखे पुत्रों का पोषण नहीं कर सकतीं तो उन्हें साधारण रूप से नैतिक शिक्षा तो दी जा सकती है। पर जिनमें खुद जरा भी नैतिकता नहीं, चारित्र नहीं, वे क्या खाक संतानों पर अच्छे संस्कार डालेंगी? जो हमेशा प्रेमविवाह

कर रोज पतियों को तलाक देने की सोचती हैं उनसे क्या आशा की जाय कि वे संतानों का मानसिक स्तर ऊँचा उठाकर उन्हें गुणवान बनाएँगी ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य ही भारतीय संस्कृति के ठीक विपरीत है। योरप में चाहे इस सभ्यता को अंतिम सीढ़ी कहा जाय पर कम से कम भारतवर्ष में ये बातें उपयुक्त नहीं हो सकतीं ।

हमारी शिक्षा तो शारीरिक और मानसिक विकास के लिए होनी चाहिए। चरित्र-निर्माण का ध्येय ही जहाँ मुख्य हो तभी संतानों के लिए यह आशा की जा सकती है कि वे भी ऊँचे विचारों वाले होंगे। केवल पुस्तकीय शिक्षा तो भारतवर्ष के लिए भार स्वरूप ही होगी। भारत की उन्नति केवल चरित्रबल से ही हो सकती है जो सदियों तक हमारी सभ्यता और संस्कृति का बरदान रही है।

७—चार प्रकार की स्त्री-शिक्षा

स्त्री-शिक्षा से तात्पर्य कोरा पुस्तक ज्ञान ही नहीं है पुस्तक पढ़ना लिखना सिखा और छुट्टी पाई इससे काम नहीं चलेगा। याद रखना कोरे अक्षर ज्ञान से कुछ भी नहीं होने का। अक्षर ज्ञान के साथ व्यावहारिकज्ञान-कर्त्तव्यज्ञान की शिक्षा दी जायगी तभी शिक्षा का वास्तविक प्रयोजन सिद्ध हो सकेगा।

मैंने एक दिन आपके सामने द्रौपदी का जिक्र किया था। मैंने बतलाया था कि द्रौपदी को चार प्रकार की शिक्षा मिली थी। एक बालिका शिक्षा दूसरी वधू शिक्षा तीसरी मातृ-शिक्षा और चौथी कदाचित् कर्मयोग से वैधव्य भोगना पड़े तो विधवा शिक्षा। तात्पर्य यह है कि स्त्री को जिन अवस्थाओं में से गुजरना

पड़ता है, उन अवस्थाओं में सफलता के साथ निर्वाह करने की उसे शिक्षा मिली थी। यही शिक्षा समूची शिक्षा कही जा सकती है। स्त्रियों को जीवन की सर्वाङ्ग उपयोगी शिक्षा मिलनी चाहिए।

स्त्रियों की सब प्रकार की शिक्षा पर ही तो सतान का भी भविष्य निर्भर है। आज भारत के बालक आपको देखने में, ऊपर से भले ही खूबसूरत दिखलाई देते हों, पर उनके भीतर कटुकता भरी पड़ी है। प्रश्न होता है बालकों में यह कटुकता कहाँ से आई? परीक्षा करके देखेंगे तो ज्ञात होगा कि बालक रूपी फलों में माता रूपी मूल में से कटुकता आती है। अतएव मूल को सुधारने की आवश्यकता है। जब आप मूल को सुधार लेंगे तो फल आप ही सुधर जाएँगे।

माता रूपी मूल को सुधारने का एकमात्र उपाय है उन्हें शिक्षित बनाना। यह काम, मेरा खयाल है पुरुषों की बनिस्बत स्त्रियों से बहुत शीघ्र हो सकता है। उपदेश का असर स्त्रियों पर जितना जल्दी होता है, उतना पुरुषों पर नहीं होता।

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में त्याग की मात्रा अधिक दिखाई देती है। पुरुष चालीस वर्ष की अवस्था में विधुर हो जाय तो समाज के हित-चिन्तकों के मना करने पर भी, जाति में तड़ डालने की परवाह न करके दूसरा विवाह करने से नहीं चूकता। दूसरी तरफ उन विधवा बहिनों की ओर देखिए जो बारह-पन्द्रह वर्ष की उम्र में ही विधवा हो गई हैं। वे कितना त्याग करके आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करती हैं? क्या यह त्याग पुरुषों के त्याग से बढ़कर नहीं है?

विवाह और उसका आदर्श

१—जीवन का आदर्श

वर्तमान शताब्दी को चाहे हम मशीन-सदी कहें अथवा सभ्यता की ऊँची सीढ़ी फिर भी यह भौतिकता के कठोर धरातल पर अपने जीवन का आदर्श व उद्देश्य सीमित रखते हुए जीवन को अधिक सरल सम्पूर्ण सुखी व शान्त नहीं बना सकती कम से कम इस शान्तिप्रधान देश भारतवर्ष में। प्राचीन भारतीय संस्कृति अध्यात्मप्रधान थी। लोगों की सामाजिक राष्ट्रीय व नैतिक अवस्था में समय की विभिन्नता व परिस्थितियों के फेर से काफी परिवर्तन हो गया है। इस समय मनुष्य आध्यात्मिकता से मुँह मोड़ भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति में ही अपने जीवन का उद्देश्य समझने लगा है। पहिले के मनुष्य अर्थ संचय की ओर से उदास थे। वे जीवन में अर्थ की अपेक्षा अन्य मानवोचित गुणों में, जैसे—प्रेम दया, क्षमा, धैर्य आदि में

अधिक विश्वास रखते थे। मानव हृदयों को पवित्र प्रेम के उज्ज्वल धागों में बांध लेना ही उनकी सबसे बड़ी साधना थी। संसार के प्रत्येक अणु २ में अपने समान एक ही अज्ञात सप्राण छाया की झांकी पाना उनका आदर्श था। वे जीवन की ओर से जितने उदासीन थे, अपने मानवोचित गुणों की ओर उतने ही सजग। प्रत्येक मनुष्य के हृदय में वे भौतिक विभिन्नता को भूल कर आध्यात्मिक एकता स्थापित करना चाहते थे। उनके सामाजिक, धार्मिक व दार्शनिक सिद्धान्त भी इसी दृष्टिकोण पर आधारित थे। वे मानव-जीवन को अत्यन्त दुर्लभ मानते थे, और उसके पीछे एक आदर्श था जो हमारी भारतीय संस्कृति का प्राण रहा है। वह आदर्श प्रेम व सौन्दर्य की कोमल भावनाओं से युक्त था, धैर्य व सन्तोष की मृदुल कल्पनाओं से विशाल तथा त्याग व बलिदान के कठोर मन्त्रों से गतिशील था। हृदयों में एकता का अनुभव कर समस्त मानवता के कल्याण की कामना करना ही उसका उद्देश्य था। यही विशालता उन्नति-पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा करती थी। अपनी आत्मा तथा अपनी शक्ति को अपने तक ही सीमित न रखकर वे अपना कार्य-क्षेत्र विस्तृत बनाने का प्रयत्न करते थे। अपने को अपने तक ही सीमित समझने वाले मनुष्यों की संख्या अगणित है। पर मानवता की दृष्टि से उनका कोई महत्त्व नहीं। भौतिक क्षेत्र में केवल अपनी ही स्वार्थपूर्ति करना कोई मानवोचित गुण नहीं। महानता-प्राप्ति का सर्व प्रथम आदर्श है विशालता। जो मनुष्य जितना

ही विशालहृदय होगा उसका कार्यक्षेत्र भी उतना ही विस्तृत होगा। कार्य-क्षमता भी उसमें रहेगी व जीवन में वह निश्चित रूप से एक सफल कार्यकर्ता होगा। ऐसे ही मनुष्यों का जीवन इतिहास में स्वर्णाक्षरों से अंकित करने योग्य होता है जिन्होंने अपने असीम प्रेम व त्याग द्वारा मानवता को कुछ नूतन संदेश देने का प्रयत्न किया। महानता को मापने का सब से उपयुक्त माप है हृदय की विशालता।

सभी सामाजिक व राष्ट्रीय प्रवृत्तियाँ इसी की अपेक्षा रखती हैं। बिना प्रेम के तो मानव जीवन रह ही नहीं सकता। विश्व के प्रत्येक अणु अणु में प्रेम की उज्ज्वल रश्मियाँ प्रकाशमान हैं। उसकी ज्योति से मनुष्य अपनी आत्मा के साथ अन्य आत्माओं का पवित्र सम्बन्ध स्थापित करता है। संकीर्णता व द्वेष मनुष्य के जन्मजात शत्रु हैं। प्रेम के द्वारा हृदय जीतने में ही प्राचीन भारतीय संस्कृति विश्वास रखती थी। कानून व तर्क के आधार पर प्रेममय दाम्पत्य जीवन की आशा रखना स्वप्न मात्र होगा। प्रेम ही ऐसा सम्मोहन मन्त्र है जो हृदय को वशीभूत करने की अलौकिक क्षमता रखता है।

यही हमारी प्राचीन संस्कृति का आदर्श था। हमारे सामाजिक रीति-रिवाज राष्ट्रीय कर्तव्य धार्मिक उद्देश्य इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार निर्धारित किए गए थे। अर्थ-समस्या इन सब से बिल्कुल पृथक् थी। वे धन-प्राप्ति की अपेक्षा त्याग प्रेम व सन्तोष को अधिक महत्त्व देते थे। अर्थ को तो वे असन्तोष व सामाजिक विद्वेष का कारण समझते थे। जीवन की महानता में अर्थ अपेक्षणीय नहीं था।

अपने आदर्श को क्रियात्मक रूप देने के लिए भी हमारे ऋषि मुनियों ने बहुत प्रयत्न किया।

२—जीवन का विभाजन

मनुष्य जीवन को आयु के चार भागों में विभक्त कर दिया गया था। यह विभाजन बहुत उपयुक्त तरीके से किया गया। सर्व प्रथम मनुष्य ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता हुआ अपने जीवन का सुन्दर निर्माण करे और फिर आदर्श गृहस्थ बने। अन्त में त्यागमय जीवन में प्रवेश कर मानवता के सिद्धांतों का जगत् में प्रचार कर लोगों में नैतिक व धार्मिक जागृति कायम रखे। आत्मा को आदर्श से पूर्ण रूप से परिचित कराने के लिए यही मार्ग उपयुक्त समझा गया। सब आश्रमों का भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से अलग अलग महत्त्व था।

जीवन के आदर्श को अधिक पवित्र व मधुर बनाने के लिए यह आवश्यक था कि पहले पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन किया जाय और उसके बाद ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश हो। आत्मा को विकसित, निर्मल व पवित्र बनाने का यही एक उपाय था। क्यों कि वही पवित्र आत्मा के भाव ही तो भावी विकास का आधार था। इसी अवस्था में शरीर व मन को भावी कार्यक्षेत्र के लिए तैयार किया जाता था। यही वह दृढ़ नींव थी जिस पर गृहस्थ जीवन रूपी महा प्रासाद की रचना होने वाली थी। अगर वही कमजोर रहे तो प्रासाद की मजबूती की कामना विफल ही रहेगी। जब शरीर व मन कर्त्तव्यपथ पर अग्रसर होने के उपयुक्त हो जाते थे, गृहस्थाश्रम के प्रवेश की तैयारी होती थी।

ब्रह्मचर्यावस्था में मनुष्य की दृष्टि कुछ सीमित, 'स्व' तक ही रहती थी, पर गृहस्थावस्था में अपनी दृष्टि को दूर तक फैलानी पड़ती थी, हृदय को विशाल बनाना पड़ता था व कार्य-

क्षेत्र विस्तृत हो जाता था। प्रथम अवस्था में मनुष्य की दृष्टि अपने से उठकर पत्नी तक तथा संतानों तक तो पहुँच ही जाती थी। यद्यपि हृदय की विशालता की कोई सीमा नहीं, फिर भी साधारणतया कुछ सीमित क्षेत्र में मनुष्य अपने कर्तव्य का ज्ञान करता था। अपने ऊपर आए हुए कष्टों को धैर्य से सहन करने की क्षमता रखते थे पर संतानों का तनिक सा कष्ट भी असह्य होता था। क्षुधा या पिपासा उन्हें व्याकुल नहीं कर सकती पर संतानों के पैर में एक साधारण सा कांटा भी उनके हृदय के समस्त तारों को एक बार झंकृत कर सकता था।

परन्तु भारतीय आदर्श गृहस्थ जीवन में ही समाप्त नहीं होते। उनका सिद्धांत विश्वमैत्री का था। गृहस्थ जीवन तो 'सर्वभूतहित रत' तक पहुँचने को प्रथम डग था। जीवन का वास्तविक आदर्श तो प्राणिमात्र की हार्दिक मंगलकामना में है। पूर्णरूप से दूसरे की आत्मा में अपनी आत्मा को लय करना है। आत्मा के विकास को किसी भी एक दायरे पर रोक देना भारतीय आदर्श के विपरीत है। निरन्तर प्रगति करते रहना ही जीवन का उद्देश्य होना चाहिए। गृहस्थाश्रम जीवन-विकास की प्रथम मंजिल है, अन्तिम ध्येय नहीं। गृहस्थाश्रम में हृदय की विशालता परिवार के कुछ सदस्यों तक ही सीमित रहती है। किन्तु जीवन का उद्देश्य तब तक पूर्ण नहीं होता जब तक प्राणिमात्र के लिए हृदय में एकात्मकता का आभास नहीं हो जाता।

कुछ समय तक गृहस्थाश्रम में आत्मा का विकास करके और अधिक विशालता प्राप्त करने के लिए इस आश्रम का त्याग कर देना ही भारतीय आदर्श के अनुरूप है। अधिक

भोगों में लिप्त रह कर समस्त जीवन इसी के कीड़े बन कर व्यतीत करना पशुता से भी बदतर है। प्रत्येक वस्तु किसी विशिष्ट सीमा तक ही उचित होती है, सीमोल्लंघन करने पर साधारण वस्तु भी सर्वनाश का कारण बन सकती है।

गृहस्थाश्रम के पश्चात् उस सीमित परिवार को त्याग कर-वनवास करने का विधान था। उदारता की जो शिक्षा उसे गृहस्थ जीवन में मिली उसे और विस्तृत क्षेत्र में प्रयुक्त करने का अवसर दिया जाता था। प्राणिमात्र में अपनी ही आत्मा का प्रतिबिम्ब देखा गया। प्राणिमात्र में अपनापन अनुभव किया जाता था। यही जीवन का सर्वोत्तम आदर्श है।

इस प्रकार क्रमश मनुष्य की दृष्टि विशाल से विशालतर होती जाती थी। अन्त मे आत्मा परमात्मस्वरूप बन जाती है। यहीं पर जीवन के आदर्श की पूर्णता थी।

३—विवाह

जन्म से लेकर मृत्यु तक जितने भी संस्कार किए जाते हैं, उनमें विवाह संस्कार सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि इसके बाद जीवन में बहुत कुछ परिवर्तन हो जाता है। एक नई भावना, नई उमंग सी हृदय में उठती है। मनुष्य एक नए अनजान पथ पर अग्रसर होने की तैयारी करता है। नए उत्तरदायित्व के भार से अपने कर्त्तव्य का ज्ञान होता है। ऐन्द्रिक सुख जीवन को आध्यात्मिक पृष्ठ भूमि से हटाकर मतवाले नयनों में एक नया राग सा भर देते हैं। यह अवस्था जीवन में बहुत खतरनाक होती है। अपने कर्त्तव्य पथ के विस्मरण की सम्भावना

जितनी इस समय रहती है उतनी और कभी नहीं। ऋषि मुनि जीवन को विषयभोग के पागलपन से दूर करने में सजग थे। जीवन को आदर्शमय बनाने के प्रथम अवसर को अधिक से अधिक पवित्र एवं निर्मल रखने का उन्होंने उद्योग किया। विवाह संस्कार में आध्यात्मिकता का पुट दिया गया। यही आध्यात्मिकता भारतीय संस्कृति की एक मात्र विशेषता रही। विवाह में भोग व रति को गौण स्थान देकर पवित्रता को प्रथम स्थान दिया गया। वैषयिक सुख मनुष्य को सच्चे कर्तव्य पथ से हटा कर गन्दे कीचड़ में फँसा देते हैं। जो जितना ही अधिक मन को वशीभूत कर हृदय को पवित्र रखेगा, उसे अपने जीवन में उतनी ही अधिक सफलता प्राप्त होगी। इसी दृष्टिकोण से विवाह एक पवित्र सम्बन्ध कहा गया, जिससे स्त्री व पुरुष एक सच्चे जीवन साथी के रूप में एक दूसरे की सहायता से सफलतापूर्वक अपने कर्तव्य को पूरा कर सकें।

विवाह संस्कार में पूर्ण रूप से पवित्रता रखी गई। ईश्वर को साक्षी बनाकर वर और वधू आजन्म जीवन साथी बने रहने की प्रतिज्ञा करते हैं। देवताओं के समक्ष पवित्र वातावरण में पिता ने कन्यादान कर दिया व वर वधू को सदा के लिए प्रेम बन्धन में बांध दिया गया। इस प्रकार की आध्यात्मिकता जीवन में निर्मलता व प्रेम का संचार करती रहती थी।

सम्बन्ध किस प्रकार निश्चित किया जाय? यह समस्या जितनी महत्त्वपूर्ण व टेढ़ी उस समय थी उतनी ही आज भी है। कोई निश्चित सिद्धान्त इसका पूर्ण रूप से हल करने में असमर्थ है। साथियों का चुनाव समान गुणों समान तत्त्वों व समान धर्मों के अनुसार होना चाहिए, तभी दाम्पत्य जीवन सुखी रह

सकता है पर पूर्ण रूप से समान गुण व समान मनोवृत्तियों का मिलना सर्वथा असम्भव है। मानवोचित गुणों को निश्चित सीमा-रेखा में नहीं बाधा जा सकता और न उन्हें मापने का कोई यन्त्र ही उपयुक्त हो सकता है। लेकिन जहाँ हृदय की विशालता व प्रेम हो वहाँ परस्पर असमान गुणों का सम्मिलन भी अपने अपने लक्ष्य तक पहुँचने में बाधक नहीं हो सकता।

४—चुनाव

ऋग्वेद में एक स्थान पर आया है कि वह सुन्दरी वधू अच्छी है जो अनेक पुरुषों में से अपने पति का चुनाव स्वय करती है। यहाँ कन्या की स्वेच्छा से पति को वरण करने की ओर सकेत है। प्राचीन काल मे राजकुमारियों के स्वयवर हुआ करते थे। दमयन्ती, सीता, द्रौपदी आदि के स्वयवर तो भारतीय इतिहास में अमर हैं ही। जयचद की पुत्री सयोगिता का स्वयवर इस प्रथा का शायद सबसे अतिम उदाहरण है। कन्या चुनाव में कहीं धोखा न खा जाय या किसी अयोग्य पुरुष के गले में वरमाला न डाल दे, इसकी भी व्यवस्था की जाती थी। प्राय: विशिष्ट वीरतामय कार्य करने के लिए एक आयोजन होता था। जो पुरुष वह कार्य सफलतापूर्वक करता वही वीर राजकुमारी के साथ विवाह के योग्य समझा जाता था। सीता के स्वयवर में शिव-धनुष को उठाना तथा द्रौपदी के स्वयवर में मत्स्य-वेध इसी दृष्टि से किए गए थे कि वीरत्व की परीक्षा सफलता से हो। इस प्रकार कन्या स्वय अपनी इच्छा से किसी वीर तेजस्वी पुरुष को विवाह के लिए चुन लेती थी।

वर्तमान समय में यह स्वयंवर प्रथा समाप्त हो गई पर ऐसे चुनाव प्रथा का स्वरूप ही बदल गया। कन्याओं को पतियों के चुनाव करने की स्वतन्त्रता नहीं रही पर पुरुषों को ही पत्नी के चुनाव का अधिकार मिल गया जो प्राचीन रीति से सर्वथा प्रतिकूल है। ज्यादा से ज्यादा आजकल के सुधरे हुए शिक्षित परिवारों में भी पुत्रियों को पूर्ण रूप से पति के चुनाव की स्वतन्त्रता नहीं है, यह अधिकार पुत्रों को ही है। कहीं कहीं कन्याओं से सम्मति मात्र ले ली जाती है पर प्राचीन काल में तो चुनाव का संपूर्ण अधिकार कन्याओं को ही था। आज कल विवाह करने वर वधू के स्थान पर जाता है। उसे इसी स्वयंवर प्रथा का बिगड़ा हुआ रूप कहा जा सकता है।

स्त्रियों को उस समय के सामाजिक क्षेत्र में यह बहुत बड़ा अधिकार प्राप्त था। स्त्री को यह अधिकार प्राप्त था कि जिसे वह अपने हृदय का ईश्वर बनाती है? जिस वीर पुरुष के गुणों से आकर्षित होकर अपना सर्वस्व समर्पण करने के लिए उद्यत होती है। आत्मसमर्पण करना कोई साधारण वस्तु नहीं जिसे डरा के व जोर से जबर्दस्ती किसी के प्रति भी कराया जा सके। प्रेममय जीवन व्यतीत करने के लिए आत्मसमर्पण आवश्यक था तथा आत्मसमर्पण के लिए स्वेच्छा से चुनाव होना भी आवश्यक है। इसी अधिकार को पाकर स्त्री पति की आज्ञाकारिणी हो सकती है। आज कल माता-पिता कन्या को किसी भी पुरुष के साथ बाँध देते हैं तथा जिन्हें जीवन के लिए अपना साथी चुनना है उनसे सम्मति लेना भी आवश्यक नहीं समझते। यह असमानता दाम्पत्य जीवन की सफलता के लिए उचित नहीं हो सकती। क्या इस प्रकार का चुनाव

पति-पत्नी में समानता का सूत्र पिरोकर उसका विस्तार कर सकता है ?

सफल विवाह के लिए सुन्दर चुनाव बहुत महत्त्वपूर्ण है। जब चुनाव स्वेच्छा से किया गया है तो पति-पत्नी के बीच का सम्बन्ध मित्रता के सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य कोई उपयुक्त नहीं हो सकता। दास-दासी का सम्बन्ध तो सर्वथा अनुपयुक्त है। दोनों एक दूसरे के सुख-दुख के सम्पूर्ण जीवन भर के साथी हैं। गृह्य सूत्र में लिखा है —

"यदेतद् हृदय तव तदस्तु हृदयं मम, यदिद हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव।"

अर्थात् जो तेरा हृदय है वह मेरा हृदय हो जाय और जो मेरा हृदय है वह तेरा हृदय हो जाए। हम एक दूसरे में इतने घुलमिल जाएँ कि हम दोनों की पृथक् सत्ता न रहे।

विवाह तो जीवन का अंतिम लक्ष्य नहीं यह तो आदर्श की पूर्णता का साधन मात्र है। परस्पर का सख्य भाव ही इस उद्देश्य की पूर्णता की प्राप्ति में सहायक हो सकता है। नहीं तो विवाहित जीवन का मुख्य उद्देश्य कभी पूरा नहीं हो सकता। हम दैनिक जीवन की साधारण घटनाओं से भी इसकी पुष्टि कर सकते हैं। दो मित्र परस्पर के सहयोग से प्रत्येक कार्य अत्यन्त सफलता से व प्रसन्नता से पूर्ण कर सकते हैं। हँसी खुशी में जीवन की कठिनाइयाँ भी मनुष्य को हताश नहीं कर सकतीं। जटिल से जटिल समस्याएँ भी पारस्परिक सहयोग से क्षण भर में हल हो जाती हैं। एकाकीपन का विचार ही कठिनाइयों को बढ़ाने, तथा असन्तोष का कारण होता है।

५—आदर्शों का पतन

विवाह से सम्बन्धित भारतीय आदर्श उस समय बहुत महत्त्वपूर्ण रहे। उनके फलस्वरूप गृहस्थ-जीवन बहुत सुखमय तथा आह्लादकर था। सामाजिक अवस्था के साथ साथ नैतिक तथा धार्मिक आदर्श भी ऊँचे रहे। पति पत्नी विषयभोग को ही जीवन का आदर्श न मानकर अपने कर्त्तव्यपथ से च्युत न होते थे। अपने पवित्र उद्देश्य की ओर से सदा जागरूक रहना ही उनकी विशेषता रही। सन्तानोत्पत्ति के लिए ही विषय भोग की मर्यादा सीमित रखी गई। सन्तान भी अनुपम तेजस्वी बलवान व गंभीर होती थी। इस प्रकार प्राचीन भारत का सामाजिक व नैतिक स्तर सदा ऊँचा ही रहा। पर दुर्भाग्य से ये आदर्श स्थायी नहीं रहे। राजनैतिक परिस्थितियों के अनुसार उनमें सतत परिवर्तन होते रहे। इस्लाम संस्कृति के प्रभाव ने तथा विशेष रूप से पाश्चात्य संस्कृति की चमक ने हमारे नेत्रों की ज्योति को एकाएक चकाचौंध सा कर दिया। हमारे नेत्र दूर की देखने में असमर्थ से हो गए। हम उस रंग में इतने अधिक रंग गए कि सदियों से चले आते हुए हमारे उस रंग का कुछ अस्तित्व ही न रह गया। कुछ स्वाभाविक रूप से नवीनता की भड़कीली ऊपर चमक ही आभासित होती है और कुछ राजनैतिक परिस्थितियों के बन्धन में हम बँध गए। लेकिन जनता की रुचि में राजनैतिक परिस्थिति की अपेक्षा, मनोवृत्तियों का ज्यादा असर रहा। पाश्चात्य कला, पाश्चात्य शिक्षा पाश्चात्य वातावरण रहन सहन, वेश भूषा, खान-पान ने भारतवर्ष में आश्चर्यजनक प्रभाव डाला। पुराने रीति रिवाज चाहे उनके पीछे नैतिक उन्नति के कितने ही बहुमूल्य

सिद्धान्त क्यों न छिपे हों, हम अपनी शान के विरुद्ध समझने लगे। इस प्रकार इस पाश्चात्य लहर के साथ साथ हम बह गए। प्राचीन आदर्शों को सदैव के लिए नियति के गर्भ में छोड़कर हम नवीनता के नूतन पथ की ओर अग्रसर हो गए।

यों तो आजकल भी विवाह के वैसे ही रीतिरिवाज चल रहे हैं पर उसके मूलभूत आदर्शों को भूल जाने से उनमें कुछ जान नहीं रही। वे सौन्दर्य व सुगन्ध से रहित पुष्प की तरह मलिन, स्वाद तथा पोषक तत्त्व के अभाव में भोजन की तरह नीरस तथा आत्मा के बिना निर्जीव शरीर के समान निकम्मे हैं।

विषय-भोगों में ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य समझ कर हम पथभ्रष्ट होकर विपरीत दिशा की ओर अबाध गति से गमन कर रहे हैं। कहा नहीं जा सकता कि पाश्चात्य संस्कृति कहाँ तक भारतीयता को कायम रखकर लोगों के नैतिक स्तर को उन्नत कर सकती है। अभी तक के प्रयोग के अनुसार नैतिकता की दृष्टि से भारतीय नवयुवक अपनी मर्यादा को सीमित रखने में सर्वथा असमर्थ रहे पर निश्चित रूप से विवाह सम्बन्धी पाश्चात्य कायदे कानून भारत में कभी सफल नहीं हो सकते।

अभी अधिकाश नवयुवक विवाह के महत्त्व को समझते भी नहीं। वे तो इसे दुर्विषयभोग का साधन मानते हैं। अगर कुछ समय के लिए मान भी लिया जाय कि विवाह का उद्देश्य विषयभोग ही है तो क्या हम सोच सकते हैं कि विवाह प्रथा के अभाव में हमारा सामाजिक जीवन अधिक सुखी रह सकता है? यह कल्पना तो स्वप्न में भी सर्वथा असम्भव है। ऐसी परि-स्थिति में तो सर्वत्र अशान्ति तथा असन्तोष का साम्राज्य हो

जायगा। मनुष्य स्वभावतः अपने प्रेमी के प्रेम में अन्य पुरुषों का साझीदार होना सहन नहीं कर सकता। आज भी एक स्त्री के अनेक चाहने वाले तथा एक पुरुष को अनेक चाहने वाली स्त्रियों के मध्य में निरन्तर विद्वेषाग्नि प्रज्वलित रहती है। इस प्रकार विवाहप्रथा न रहने पर मनुष्य उस दाम्पत्य प्रेम से सर्वथा वंचित रह जाता, जो विवाहित पति-पत्नी में हुआ करता है। विवाह की प्रथा का स्थान यदि नैमित्तिक सम्बन्ध को ही प्राप्त होता तो स्त्री पुरुष एक दूसरे से उतने ही समय तक प्रेम करते जब तक कि विषयभोग नहीं भोगा जा चुका है या जब तक वे विषयभोग भोगने के लिए लालायित रहते हैं। उसके बाद उस प्रेमसम्बन्ध की समाप्ति हो जायगी। ऐसी अवस्था में तो सामाजिक स्थिति के और भी बिगड़ने की सम्भावना है। स्त्रियों की परिस्थिति तो और भी विषम होगी। मनुष्य मात्र के स्वच्छन्द हो जाने पर सहानुभूति दया व प्रेम का भी सद्भाव न होगा। मनुष्य का सुख कुछ निश्चित समय तक ही सीमित रहेगा और बाद का जीवन अत्यन्त पश्चात्ताप-पूर्ण, नीरस तथा दुःखमय होगा। अपने उत्तरदायित्व से दोनों-स्त्री पुरुष बचने का प्रयत्न करते रहेंगे तो सन्तानों के पालन-पोषण की समस्या भी बहुत कठिन होगी। आज के सन्तानों पर ही तो कल का भविष्य निर्भर है। अतः सामाजिक अवस्था और भी खराब हो जायगी। कृत्रिम उपायों द्वारा संतति निरोध तथा भ्रूण हत्या या बाल-हत्या जैसी भयंकर चेष्टाओं द्वारा समाज पशुता पर उतरने में भी संकोच नहीं करेगी। धीरे धीरे प्रेम अहिंसा सहानुभूति वात्सल्य आदि मानवोचित गुणों के लुप्त होने के साथ मानवता दानवता के रूप में परिवर्तित होने लग जायगी।

६—विवाह का उद्देश्य

वास्तव में विवाह का उद्देश्य दुर्विषय भोग नहीं है किन्तु ब्रह्मचर्य पालन की कमजोरी को धीरे धीरे मिटा कर ब्रह्मचर्य पालन की पूर्ण शक्ति प्राप्त करना तथा आदर्श गृहस्थजीवन व्यतीत करना है। यदि कामवासना को शान्त करने की पूर्ण क्षमता विद्यमान हो तो विवाह करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं। जिस प्रकार यदि आग न लगने दी गई या लगने पर तत्क्षण बुझा दी गई तब तो दूसरा उपाय नहीं किया जाता। और तत्क्षण न बुझा सकने पर और बढ जाने पर उसकी सीमा करके उसे बुझाने का प्रयत्न किया जाता है। इसके लिए जिस मकान में आग लगी होती है, उस मकान से दूसरे मकानों का सम्बन्ध तोड़ दिया जाता है, ताकि उनमें वह फैल न सके और इस प्रकार उसे सीमित करके फिर बुझाने का प्रयत्न किया जाता है। वह आग, जो लगने के समय ही न बुझाई जा सकी थी, इस उपाय से बुझा दी जाती है, बढने नहीं दी जाती। यदि आग को, सीमित न कर दिया जाय, तो उसके द्वारा अनेक मकान भस्म हो जाएँ। यही दृष्टान्त विवाह के सम्बन्ध में भी है। यदि मनुष्य मन पर नियन्त्रण रख कर उद्दीप्त कामवासना पर नियंत्रण रख सकता हो या उद्दीप्त होने ही न दे सकता हो तो उसे विवाह की कोई आवश्यकता नहीं। लेकिन उपयुक्त नियन्त्रण न रख सकने के कारण उस अग्नि को विवाह द्वारा सीमित कर दिया जाता है। इस प्रकार वासना की अग्नि बढने नहीं पाती तथा मनुष्य की शारीरिक व मानसिक शक्तियों का ह्रास होने से बच जाता है। यदि नियंत्रण की क्षमता न हो और विषयेच्छा की पूर्ति में पूर्ण स्वतन्त्रता हो तो भयकर हानि की सम्भावना है।

तात्पर्य यह है कि विवाह करने के पश्चात् भी विषयेच्छा को सीमित करने का प्रयत्न करना चाहिए तथा आदर्श गृहस्थ जीवन व्यतीत कर हृदय की विशालता द्वारा अपने कर्त्तव्यपथ की ओर अग्रसर होते रहना चाहिए।

आदर्श विवाहित जीवन व्यतीत करने में वात्सल्य अनुकम्पा, सहानुभूति विश्वमैत्री आदि सद्गुणों का भी समुचित निर्वाह किया जा सकता है। जिसका लाभ स्वच्छन्दता में नहीं होता। संतान के पालन पोषण तथा उसके प्रति वात्सल्य गृहस्थजीवन में ही हो सकता है जो कि विश्वमैत्री की ओर अग्रसर होने का प्रथम प्रयास होता है। अगर मनुष्य इतने सीमित क्षेत्र में भी सफलता प्राप्त न कर सके तो उससे क्या आशा की जा सकती है कि वह और विस्तृत क्षेत्र में प्रवेश कर प्राणीमात्र के कल्याण का प्रयत्न करेगा ?

ब्रह्मचर्य न पाल सकने पर दुराचारपूर्ण जीवन क्षम्य नहीं हो सकता। इस विषय में गांधीजी लिखते हैं—

"यद्यपि महात्मा ल्यूरो अखंड ब्रह्मचर्य को ही सर्वोत्तम मानते हैं लेकिन सबके लिए यह शक्य नहीं है इसलिए वैसे लोगों के लिए विवाहबंधन केवल आवश्यक ही नहीं वरन् कर्त्तव्य के बराबर है।" गांधीजी आगे लिखते हैं—

'मनुष्य के सामाजिक जीवन का केन्द्र एक पत्नीव्रत तथा एक पतिव्रत ही है।' यह तभी संभव है, जब स्वच्छन्दता निंद्य समझी जाए और उसे विवाहबंधन द्वारा त्यागा जाए।

विवाह, पुरुष व स्त्री के आजीवन सहचर्य का नाम है। यह सहचर्य कामवासना को सीमित कर आदर्श गृहस्थजीवन के निर्माण का साधन है। एक पाश्चात्य विद्वान् लिखतों है:—

'विवाह करके भी, विषय-विलासमय असंयमपूर्ण जीवन व्यतीत करना धार्मिक और नैतिक दोनों दृष्टियों से अक्षम्य अपराध है। असंयम से वैवाहिक जीवन को ठेस पहुँचती है। संतानोत्पत्ति के सिवाय और सभी प्रकार की काम वासना-तृप्ति दाम्पत्य प्रेम के लिए बाधक और समाज तथा व्यक्ति के लिए हानिकारक है।'

इस कथन द्वारा जैन शास्त्र तथा वैदिक सिद्धान्तों के कथन की पुष्टि की गई है। जैन शास्त्र तो इसके आद्य प्रेरक ही हैं।

× × × ×

विवाह तो तुम्हारा हुआ, पर देखना चाहिए कि तुम विवाह करके चतुर्भुज बने हो या चतुष्पद ? विवाह करके अगर बुरे काम में पड़ गये तो समझो कि चतुष्पद बने हो। अगर विवाह को भी तुमने धर्मसाधना का निमित्त बना लिया हो तो निस्सन्देह तुम चतुर्भुज-जो ईश्वर का रूप माना जाता है, बने हो। इस बात के लिए सतत प्रयत्न करना चाहिए कि मनुष्य चतुष्पद न बन कर चतुर्भुज-ईश्वररूप-बने और अन्ततः उसमें एवं ईश्वर में किंचित् भी भेद न रह जाय।

विवाह में जहाँ धन की प्रधानता होगी, वहाँ अनमेल विवाह हों, यह स्वाभाविक है। अनमेल विवाह करके दाम्पत्य जीवन में सुखशान्ति की आशा करना ऐसा ही है, जैसे नीम बोकर आम के फल की आशा करना। ऐसे जीवन में प्रेम कहाँ ? प्रेम को तो वहाँ पहले ही आग लगा दी जाती है।

× × × ×

प्राचीन काल में विवाह के सम्बन्ध में कन्या की भी सलाह ली जाती थी और अपने लिए वर खोजने की स्वतंत्रता उसे प्राप्त थी। माता-पिता इस उद्देश्य से स्वयंवर की रचना करते थे। अगर कन्या ब्रह्मचर्य पालन करना चाहती थी तो भी उसे अनुमति दी जाती थी। भगवान् ऋषभदेव की ब्राह्मी और सुन्दरी नामक दोनों कन्याएँ विवाह के योग्य हुईं। भगवान् उनके विवाह-संबंध का विचार करने लगे। दोनों कन्याओं ने भगवान् का विचार जाना तो कहा— पिताजी आप हमारी चिन्ता न कीजिए। आपकी पुत्री मिलकर दूसरे की पत्नी बनकर रहना हमसे न हो सकेगा। अन्ततः दोनों कन्याएँ आजीवन ब्रह्मचारिणी रहीं।

हाँ विवाह न करके अनीति की राह पर चलना बुरा है पर ब्रह्मचर्य पालन करना बुरा नहीं है। ब्रह्मचारिणी रहकर कुमारिकाएँ जनसमाज की अधिक से अधिक और अच्छी से अच्छी सेवा कर सकती हैं।

बलात् ब्रह्मचर्य और बलात् विवाह दोनों बातें अनुचित हैं। दोनों स्वेच्छा और स्वसामर्थ्य पर निर्भर होनी चाहिए।

× × × ×

स्त्री और पुरुष के स्वभाव में जहाँ समता नहीं होती वहाँ शांतिपूर्वक जीवनव्यवहार नहीं चल सकता। विवाह का उत्तरदायित्व अगर माता-पिता अपना समझते हों तो प्रतिकूल स्वभाव वाले पुत्र पुत्री का विवाह उन्हें नहीं करना चाहिए। लोभ के वश होकर अपनी संतान का विक्रय करके, उसका जीवन दुःखमय बनाना माता-पिता के लिए घोर कलंक की बात है।

पुरुष मनचाहा व्यवहार करें, स्त्रियों पर अत्याचार करें, चाहे जितनी बार विवाह करने का अधिकार भोगें, यह सब विवाह-प्रथा से विपरीत प्रवृत्तियाँ हैं। ऐसे कामों से विवाह की पवित्र प्रथा कलुषित हो गई है। विवाह का आदर्श भी कलुषित हो गया है। विवाह का वास्तविक आदर्श स्थापित करने के लिए पुरुषों को सयम-शील होना चाहिए।

× × × ×

आजकल धन एवं आभूषणों के साथ विवाह किया जाता है। भारत के प्राचीन इतिहास को देखो तो पता चलेगा कि सीता, द्रौपदी आदि का स्वयवर हुआ था। उन्होंने अपने लिए आप ही वर पसन्द किया था। भगवान् नेमिनाथ तीन सौ वर्ष की उम्र तक कुमार रहे। क्या उन्हें कन्या नहीं मिलती थी? पर उनकी स्वीकृति के विना विवाह कैसे हो सकता था? इसी कारण उनका विवाह नहीं हुआ। आजकल विवाह में कौन अपनी संतान की सलाह लेता है?

गाँधीजी भी लिखते हैं:—

'विवाहबंधन की पवित्रता को कायम रखने के लिये भोग नहीं, किन्तु आत्मसयम ही जीवन का धर्म समझा जाना चाहिए। विवाह का उद्देश्य दपती के हृदयों से विकारों को दूर करके उन्हें ईश्वर के निकट ले जाना है।'

विवाह सस्कार द्वारा आजीवन साहचर्य ऐसे ही स्त्री-पुरुषों का सफल और उपयुक्त हो सकता है जो स्वभाव, गुण, आयु, बल, वैभव, कुल और सौन्दर्य आदि को दृष्टि में रखकर

एक दूसरे को पसन्द करें। स्त्री पुरुष में से किसी एक की ही इच्छा से विवाह नहीं होता किन्तु दोनों की इच्छा से हुआ विवाह ही विवाह के अर्थ में माना जा सकता है। जबर्दस्ती केवल माता पिता की इच्छा से किया गया विवाह सफल गृहस्थ जीवन के लिए उचित नहीं हो सकता। धर्म सम्बन्धी प्रश्न को सामने रखकर किया जाने वाला विवाह तो समाज के लिए और भी घातक सिद्ध होगा। इसमें समान गुण व समान धर्म व समान मनोवृत्तियों वाले साथियों का मिलना दुर्लभ होगा, और निर्बल स्त्री व पुरुषों के लिए यह बहुत कठिन समस्या हो जायगी।

विवाह सम्बन्ध स्थापित करने में पुरुष और स्त्री के अधिकार समान ही होना उचित है। अर्थात् जिस प्रकार, पुरुष स्त्री को पसन्द करना चाहता है उसी प्रकार स्त्री भी पुरुष को पसन्द करने की अधिकारिणी है। ऐसी अवस्था में सामाजिक सन्तुलन ठीक रहेगा और पति पत्नी के मध्य मैत्री सम्बन्ध स्थापित होगा। बल्कि इस विषय में स्त्रियों के अधिकार पुरुषों से भी अधिक हैं। स्त्रियां अपने लिए वर चुनने के लिए स्वयंवर करती थीं यह कहा जा चुका है। पर पुरुषों ने अपने लिये स्त्री पसन्द करने को स्वयंवर की ही तरह का कोई स्त्रीसम्मेलन किया हो ऐसा प्रमाण कहीं नहीं मिलता। इस प्रकार पूर्वकाल में स्त्री की पसन्दगी को विशेषता दी जाती थी। फिर भी यह आवश्यक न था कि जिस पुरुष को स्त्री चुने वह उसके साथ विवाह करने को बाध्य किया जाय। स्त्री के पसन्द करने पर भी यदि पुरुष की इच्छा विवाह करने की नहीं होती तो विवाह करने से इन्कार करना कोई नैतिक या सामाजिक अपराध नहीं माना जाता था न अब माना जाता है। विवाह के लिये स्त्री और

पुरुष दोनों ही को समान अधिकार है। और यह नहीं है कि पसन्द आने के कारण पुरुष स्त्री के साथ और स्त्री पुरुष के साथ विवाह करने के लिए नीति या समाज की ओर से वाध्य हो। विवाह तभी हो सकता है जब स्त्री पुरुष एक दूसरे को पसन्द कर लें, और एक दूसरे के साथ विवाह करने के इच्छुक हों। इस विषय में जबर्दस्ती को जरा भी स्थान नहीं है।

ग्रन्थकारों ने, विशेषतः तीन प्रकार के विवाह बताए हैं, देव-विवाह, गन्धर्व-विवाह और राक्षस विवाह। ये तीनों विवाह इस प्रकार हैं.—

जो विवाह, वर और कन्या दोनों की पसन्दगी से हुआ हो, जिसमें वर ने वधू के और वधू ने वर के पूर्ण रूप से गुण-दोष देखकर एक दूसरे ने, एक दूसरे को अपने उपयुक्त समझा हो तथा जिस विवाह के करने से वर और कन्या के माता-पिता आदि अभिभावक भी प्रसन्न हों, जो विवाह रूप, गुण स्वभाव आदि की समानता से विधि और साक्षीपूर्वक हुआ हो और जिस विवाह में दाम्पत्य कलह का भय न हो और जो विवाह विषयभोग के ही उद्देश्य से नहीं किन्तु विश्वमैत्री के आदर्श तक पहुँचने के लक्ष्य से किया गया हो उसे देव-विवाह कहते हैं। यही विवाह सर्वोत्तम माना जाता है।

जिस विवाह में वर ने कन्या को और कन्या ने वर को पसन्द कर लिया हो, एक दूसरे पर मुग्ध हो गए हों, किन्तु माता पिता आदि अभिभावक की स्वीकृति के बिना ही, एक ने दूसरे को स्वीकार कर लिया हो एव जिसमें देश प्रचलित विवाह विधि पूरी न की गई हो उसे गान्धर्व विवाह कहते हैं। यह

विवाह देव-विवाह की अपेक्षा मध्यम और राक्षस विवाह की अपेक्षा अच्छा माना जाता है।

राक्षस विवाह उसे कहते हैं जिसमें वर और कन्या एक दूसरे को समान रूप से न चाहते हों किन्तु एक ही व्यक्ति दूसरे को चाहता हो जिसमें समानता का ध्यान न रखा गया हो जो किसी एक की इच्छा और दूसरे की अनिच्छा पूर्वक जबर्दस्ती या अभिभावक की स्वार्थलोलुपता से हुआ हो और जिसमें देशप्रचलित उत्तम विवाह विधि को ठुकराया गया हो तथा वैवाहिक नियम भंग किए गए हों। यह विवाह उक्त दोनों विवाहों से निकृष्ट माना जाता है।

पहले बताया जा चुका है कि कम से कम आयु का चौथा भाग यानी पच्चीस और सोलह वर्ष की अवस्था तक के पुरुष स्त्री को अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करना ही चाहिए। यह अवस्था सफल गृहस्थ जीवन के लिए शरीर और मन को पूर्ण विकसित करने की है। इससे पूर्व मनुष्य की शारीरिक व मानसिक शक्तियों को बल नहीं मिलता।

बाल विवाह के दुष्परिणामों से भारतवर्ष अपरिचित नहीं। उससे शारीरिक शक्तियों के ह्रास होने के सिवाय स्त्रियों की स्थिति में भी बहुत फर्क पड़ता है। विधवाओं की बढ़ती हुई संख्या इसी का परिणाम है। कमजोर व अधिक संतानें कई विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देती हैं। शिक्षण तथा पोषण की समुचित व्यवस्था न होने से वे राष्ट्र की संपत्ति होने के बजाय भारभूत ही सिद्ध होती हैं। पूर्ण परिपक्व अवस्था को प्राप्त होने पर ही पुत्र पुत्रियों का विवाह करना उचित है।

७—प्राचीन कालीन विवाह

विवाह का मुख्य उद्देश्य आदर्श गृहस्थ जीवन व्यतीत कर अपने हृदय की विशालता द्वारा विश्वमैत्री के सिद्धान्त तक पहुँचना था। केवल विषय-भोग की पूर्ति के लिए विवाह नहीं होते थे। केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए ही रति क्रिया करने का विधान था। पशुओं के समान निरन्तर वासना के कीड़े बने रहना भारतीय संस्कृति के सर्वथा विपरीत था।

वेद के मन्त्रों में, जहाँ सन्तानोत्पत्ति का प्रसंग है, स्पष्ट लिखा है कि सन्तान शत वर्ष तक जीने वाली, हृष्ट-पुष्ट तथा बुद्धिशाली हो। उत्तम विचारों वाली तथा माता-पिता से भी बुद्धि-बल में बढ़ी-चढ़ी हो। संतति सुधार के विचारों का प्रचार तो यूरोप में अभी अभी हुआ है। किन्तु हजारों वर्ष पहिले जब यूरोप 'पाषाण' व 'कोयला' युग के दिन गिन रहा था, भारत-वर्ष की सभ्यता तथा संस्कृति अपनी पवित्रता, बल एवं बुद्धि के कारण विश्वमैत्री के सिद्धान्त का पालन करने का दावा करती थी। संततिसुधार के विज्ञान का प्रचार उस समय भी था। वेद के प्रत्येक सूक्त में इस विषय का विचार भरा पड़ा है। कहा गया है कि—

"तं माता दशमासान् बिभर्तु स जायतां वीर तमः स्वानाम्"

अर्थात् दस मास पश्चात् जो पुत्र हो अपने सब सम्बन्धियों की अपेक्षा अधिक वीर हो।

वेद सन्तानों की अधिक संख्या को महत्त्व नहीं देते थे। अधिक सन्तान उत्पन्न करने वाले माता-पिता ही पूजनीय न थे पर गुणों को अधिक महत्त्व दिया जाता था। एक ही सन्तान हो पर अपूर्व तेजस्वी तथा बलशाली।

इस प्रकार वैदिक आदर्श विवाह कोई साधारण कार्य नहीं था। उसके अनुसार पति-पत्नी पर अपने अपने कर्त्तव्य पूर्ण करने का उत्तरदायित्व था।

विवाह करके पति-पत्नी विशालता को प्राप्त होते हैं। महानता के गुण लेकर स्वार्थ की परिधि का उल्लंघन कर परार्थ के समीप पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। जगत् की मंगलकामना के प्रयत्न में वह अपनी समस्त शक्ति और बल लगाने को उद्यत हो जाते हैं। तन मन धन से मानवता के कल्याण का प्रयत्न करना ही उनके जीवन का मुख्य उद्देश है।

इसी आदर्श की तरफ ले जाने में गृहस्थ जीवन की सफलता है। यदि इस आदर्श तक न पहुँच सके तो गृहस्थ जीवन सर्वथा असफल है। विषय-वासना को त्याग कर संयम-मय जीवन व्यतीत करते हुए दूसरों के स्वार्थ को अपना स्वार्थ समझना तथा गृहस्थ जीवन से भी ऊँचे उठकर इस आश्रम को त्याग देना ही गृहस्थजीवन का उद्देश है। वह जीवन के महान् उद्देश तक पहुँचने का साधन माना गया है जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं।

इसी आदर्श को पूर्ण रूप से समझने में गृहस्थजीवन की सफलता है। प्राचीन समी राजा कुछ समय तक विषय-भोग भोग कर वृद्धावस्था में पुत्र को राज्य देकर मुनि बन जाते थे। इक्ष्वाकु वंश में यही प्रथा थी कि राजासन राजकार्य पुत्र के सुपुर्द कर वनवास करते थे। जैन शास्त्रों में भी इसी प्रकार के उल्लेख आते हैं। प्रायः समी राजा युवावस्था में राज सुख तथा गृहस्थ जीवन व्यतीत करने के बाद वृद्धावस्था में मुनि हो जाते

थे। अन्तिम समय तक विषय भोग में ही पड़े रह कर गृहस्थ-जीवन ही में रहना बहुत ही कायरता का चिह्न तथा निंदनीय समझा जाता था।

अन्तिम समय में सब घरेलू झगड़ों को छोड़ कर शान्ति-पूर्ण संयममय जीवन व्यतीत किया जाता था। मुनिवृत्ति धारण कर पूर्ण ब्रह्मचर्य से जीवन को उत्तरोत्तर पवित्रता की ओर अग्रसर करना ही उस समय के जीवन का लक्ष्य था। जैन मुनि ज्ञान प्राप्त कर लोगों को सच्चा मार्ग प्रदर्शन करते थे। पूर्ण अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि के प्रयोग से अनुपम सिद्धि प्राप्त करने का उनका उद्देश्य होता था। १०-१२ परिवार के सदस्यों के बदले प्राणिमात्र उनका कुटुम्ब हो जाता था।

८—प्रेम-विवाह

अब जरा पाश्चात्य विवाह सम्बन्ध पर भी एक दृष्टि डालिए। आजकल भारतवर्ष में पाश्चात्य प्रभाव से प्रेम विवाह अथवा Love Marriage सामाजिक जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग बन गया है। आजकल के अंग्रेजी शिक्षित नवयुवक व नवयुवतियाँ प्राचीन भारतीय विवाहों को एक ढकोसला मात्र समझते हैं तथा प्रेमविवाह पर जोर देते हैं। उनका कथन है कि माता-पिता द्वारा वर अथवा वधू की खोज किया जाना अनुचित है। यह तो पति-पत्नी के जीवन का प्रश्न है, जो जैसा चाहे वैसा साथी चुन सकता है। सम्भव है कि माता-पिता अपनी कन्या के लिए अपनी दृष्टि से अच्छा वर चुनें पर वह कन्या को किन्हीं कारणों से पसन्द न हो, क्योंकि "भिन्न

रुचिर्हि लोकः' के कथनानुसार विश्व में रुचिवैचित्र्य भी हो सकता है। अतः कन्या को पूर्ण अधिकार होना चाहिए कि वह अपने पति का चुनाव कर सके। इसी प्रकार पुत्र को भी यह पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वह अपने अनुकूल पत्नी का चुनाव कर सुखपूर्ण दाम्पत्य जीवन व्यतीत कर सके।

इस प्रकार की वैवाहिक स्वतंत्रता को 'प्रेमविवाह' कहा जाता है। यह हमारे प्राचीन वैवाहिक वर्गीकरण में गान्धर्व विवाह के समान है।

यह प्रश्न आजकल बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार की वैवाहिक व्यवस्था चाहे पहली दृष्टि में सुन्दर तथा व्यावहारिक मालूम पड़े पर क्रियात्मक रूप से इसका प्रयोग असफल ही रहता है। प्रायः कॉलेज के विद्यार्थी नवयुवक तथा नवयुवतियाँ प्रेमविवाह के अधिक पक्षपाती होते हैं। यह प्रयोग उन्हें अधिक रुचिकर प्रतीत होता है। पर प्रेमविवाह से विवाहित स्त्री-पुरुष समाज तथा राष्ट्र के प्रति वैवाहिक आदर्श की पूर्णता के लिए असमर्थ रहे।

वास्तव में जहाँ स्त्री पुरुष अपने अपने कर्तव्य के प्रति पूर्ण रूप से सजग रहें वहाँ प्रेमविवाह का प्रश्न ही नहीं उठता। पर जब वासनातृप्ति ही विवाह का उद्देश्य होता है उसी अवस्था में प्रेम-विवाह की ओर दृष्टिपात किया जाता है। मनुष्य अगर अपने वैवाहिक आदर्शों तथा कर्तव्य को समझकर विवाह करता है तथा उसके अनुसार आचरण करने के लिए प्रयत्नशील रहता है तो कोई भी जीवनसाथी उसे अप्रिय तथा अरुचिकर नहीं लग सकता। अवश्य कुछ मानवोचित गुणों का होना

अपेक्षणीय है। हम प्रेमविवाह के सम्बन्ध में आज तक के प्रयोग के आधार पर विचार करते हैं और वह भी भारतवर्ष की दृष्टि से। अन्य देशों की सामाजिक व धार्मिक परिस्थितियों से भारतीय मनोवृत्ति में बहुत भिन्नता है। निश्चयात्मक रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि वहाँ के प्रयोग भारतवर्ष में भी सफल हो सकते हैं।

आजकल शिक्षित नवयुवक तथा नवयुवतियाँ यौवन के वासनात्मक प्रवाह में अन्धे होकर बहते हुए प्रेमविवाह की शरण लेते हैं। उस समय उनका दृष्टिकोण आदर्शात्मक न होकर ऐन्द्रिय सुखात्मक ही होता है। ऐसे प्रवाह में बहते हुए न तो कभी ऐसे योग्य जीवनसाथी का चुनाव होता है, जो जीवन में आदर्श बनकर कर्त्तव्य क्षेत्र की ओर अग्रसर कर सके और न ऐसे जीवनपथ का निर्माण होता है जिसके द्वारा वे अपने लक्ष्य तक पहुँच सकें। अज्ञात तथा अनिर्दिष्ट पथ में वे अपने जीवन के वास्तविक आनन्द का उपयोग भी नहीं कर सकते।

अक्सर प्रेम-विवाह का प्रेम बरसाती नाले के सदृश होता है, जो प्रारम्भ में अपनी पूर्णता के कारण बड़ी बड़ी महत्त्वाकाक्षाओं को जन्म देता है पर धीरे-धीरे आश्चर्यजनक गतिविधि से कम होता हुआ शून्यता को प्राप्त हो जाता है। अपने कर्त्तव्य की ओर निरन्तर जागरूक रहने से कभी ऐसी परिस्थिति उत्पन्न नहीं हो सकती। भारतीय आदर्श के अनुसार तो वास्तविक प्रेम पति-पत्नी में निरतर वृद्धि को प्राप्त होता रहना चाहिए। विवाह में मुख्य वस्तु तो आदर्श प्राप्ति है। अगर उसका अस्तित्व है तो चाहे वह प्रेम विवाह हो अथवा प्राचीन भारतीय विवाह, एक ही वस्तु है। नाम मात्र की

भिन्नता होने से किसी वस्तु के प्रभाव व परिणाम में भिन्नता नहीं होती। वर्तमान समय में प्रेमविवाह के परिणाम छिपे नहीं। प्रेम-विवाह के पश्चात् तलाक प्रथा भी आवश्यक हो जाती है। फलतः भारतवर्ष में इस तरह के विवाह तो एक तरह के खिलवाड़-से हैं। अधिकांश भारतीय शिक्षित स्त्रियाँ जिनमें कुछ तो राजनैतिक तथा सामाजिक क्षेत्र में अग्रिणियाँ भी हैं, पहले प्रेम-विवाह कर बाद में अपने पतिदेव को तलाक देकर ही अपने जीवन को सुखी बनाती हैं।

इस प्रकार गृहस्थजीवन अपने आदर्श को पूर्ण रूप से समझने व आचरण करने में ही है। पति पत्नी अगर दोनों ही अपने कर्त्तव्य को समझ कर आचरण करें तभी जीवन सुखी हो सकता है क्योंकि किसी एक की भी कमजोरी के कारण जीवन दुःखमय हो सकता है।

सफल गृहस्थी के लिए युवक व युवतियों का आपस में सच्चा प्रेम करना सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु समझी जाती है। इसी दृष्टि से प्रेमविवाह का प्रयोग किया जाने लगा पर वह अपने प्रयोग में असफल ही सिद्ध हुआ। युवक किसी सुयोग्य युवती को ढूंढने तथा युवतियाँ प्रेमियों को अपने प्रेमपाश में बांधने के लिए अपने जीवन का बहुमूल्य अंश नष्ट कर देते हैं। क्योंकि इसमें वैषयिक सुखभोग का दृष्टिकोण प्रधान रहता है अतः जीवन के उद्देश्य में सफलता नहीं मिलती। अपना कर्त्तव्य की ओर किसी का लक्ष्य नहीं रहता। किसी भी अवस्था में इन परिस्थितियों में न विषयसुख प्राप्त हो सकता है और न लक्ष्यप्राप्ति। केवल प्रियतम व्यक्ति के साथ सम्मिलन को ही विवाहित जीवन की सफलता मानना भयंकर भूल है। मनुष्य इतना समझने में क्यों

गलती करते हैं कि कुछ समय के लिए वैषयिक सुख देने वाला ही विश्व में प्रियतम नहीं हो सकता ? प्रियतम होने के लिए अन्य बहुत वस्तुएं शेष रहती हैं। अपनी आत्माओं को एक दूसरे में लय कर देना तो बहुत दूर की बात है, दैनिक जीवन तो कम से कम शान्तिपूर्ण तथा सुखपूर्ण होना ही चाहिए।

६—बाल-विवाह

२५ और १६ वर्ष की अवस्था होने पर ही, पुरुष और स्त्री इस बात के निर्णय पर पहुँचते हैं कि हम आयु भर ब्रह्मचर्य पालन कर सकते हैं या नहीं ? अर्थात् पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार करने की शक्ति हम में है या नहीं ? जो लोग ऐसा करने में समर्थ होते हैं, वे तो पूर्ण ब्रह्मचर्य की ही आराधना करते हैं, विवाह के झगटों में नहीं फँसते, जैसे भीष्म पितामह। लेकिन, जो लोग संसार में रहते हुए पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने में अपने आपको असमर्थ समझते हैं वे विवाह करते हैं। जैन शास्त्रों में तो पूर्ण ब्रह्मचर्य के ही लिये कहा गया है, विवाह के लिये नहीं, लेकिन नीतिकारों ने ब्रह्मचर्यव्रत पालन करने में असमर्थ लोगों के लिये विवाह का विधान नियत किया है और विवाह न करके दुराचार में प्रवृत्त होने का तो अत्यन्त निषेध किया है।

विवाह योग्य अवस्था लड़के की २० या २५ वर्ष और लड़की की १६ वर्ष है। लेकिन आधुनिक समय के विवाहों में, पूर्व-वर्णित इन नियमों की अवहेलना की जाती है। यद्यपि पुरुष स्त्री विवाह बन्धन में तभी बँध सकते हैं, जब वे आजीवन ब्रह्मचर्य पालन की अपनी अशक्तता अनुभव कर लें, लेकिन आज के विवाहों में ऐसे अनुभव

के लिये समय ही नहीं आने दिया जाता। सिर्फ जैन समाज में ही नहीं पर भारत की सभी जातियों में युवक और स्त्री युवक युवती होने से पूर्व ही विवाहित कर दिये जाते हैं। अधिकांश बालक बालिकाओं के माता-पिता अपने बच्चों का विवाह ऐसी अवस्था में कर देते हैं, जब कि वे बालक विवाह की आवश्यकता, उसकी जवाबदारी और उसका भार समझने के अयोग्य ही नहीं पर उससे अनभिज्ञ ही होते हैं। वह अवस्था बालक बालिकाओं के खेलने कूदने योग्य है पर माता पिता बच्चों का खेल देखने के साथ ही विवाह का खेल भी देखने की लालसा से अपने प्यारे बच्चों का भविष्य नष्ट कर देते हैं।

अभागे भारत में, ऐसे २ बालक बालिकाओं के विवाह सुने जाते हैं जिनकी अवस्था एक वर्ष से भी कम होती है। अपने बालक या बालिका को दूल्हे या दुलहिन के रूप में देखने के लिए लालायित माँ-बाप अपनी जवाबदारी और संतान की भावी उन्नति सब को बाल-विवाह की अग्नि में भस्म कर देते हैं। किन्तु यह सर्वथा अनुचित है। ऐसे माता-पिता अपने कर्त्तव्य को भुलाकर बालक और बालिकाओं के प्रति अन्याय करते हैं। अपने क्षणिक सुख के लिये अपने बालकों को भोग की धधकती हुई ज्वाला में भस्म होने के लिये छोड़ देते हैं और अपनी संतान को उसमें जलते हुए देखकर भी आप खड़े २ हँसते हैं। तथा यह अवसर देखने को मिला इसके लिये अपना अहोभाग्य समझते हैं। किन्तु माता पिताओं के लिये यह सर्वथा अनुचित है। उनका कर्त्तव्य अपनी संतान को सुख देना है दुःख देना नहीं।

आजकल अधिकांश लोगों को यह भी पता नहीं है कि हमारा विवाह कब, किस प्रकार और किस विधि से हुआ था ?

तथा विवाह के समय हमें कौनसी प्रतिज्ञाएँ करनी पड़ी थीं ? और पता हो भी कैसे, क्योंकि उनका विवाह तो माँ की गोद में बैठे २ हो गया था और विवाह तथा वधू किस चिड़िया का नाम है, वे यह भी नहीं जानते थे। वरघोड़ा निकलने पर घोडे पर और मण्डप के नीचे उन्हें देवमूर्तियों की तरह बैठा दिया गया था और भावरों (फेरों) के वक्त वे आराम से नाई और नायन की गोदी में सो रहे होंगे। और जब फेरे फिराये जाते होंगे तब वे अपने पांवों से नहीं पर नाई और नायन के ही पावों से चलते होंगे। ऐसी दशा में वे विवाह की बातें क्या समझें ?

एक समय की बात है। किसी जगह शादी हो रही थी। कन्या और वर दोनों ही अल्पवयस्क थे। रात के समय, जब कि फेरे फिरने थे, कन्या मण्डप में ही सो गई थी। मा ने उसे जगाया और कहा—उठ बेटी, तेरी शादी हो रही है। कन्या शादी का अर्थ जानती ही न थी। मां के जगाने पर उसने कहा–'मा, मुझे तो नींद आती है। तू ही अपनी शादी कर ले न।' कहकर वह सो गई और आखिर में नींद में उसका विवाह हो गया।

अब बताइये कि जो बालक बालिका शादी-विवाह का नाम तक नहीं जानते, वे विवाह सम्बन्धी नियमों का पालन किस प्रकार कर सकेंगे ? उन्हें जब अपने विवाह का ही पता नहीं है तब वे विवाह-विषयक प्रतिज्ञाओं को क्या जानें और कैसे उसका पालन करें ? इस प्रकार ऐसी अबोध अवस्था में किया गया विवाह अन्याय है।

जमाई-बहू के लालची मां-बाप और माल-ताल के भूखे बराती, बालक और बालिका रूपी छोटे-छोटे बछड़ों को

सांसारिक जीवन की गाड़ी में जोत कर आप उस गाड़ी पर सवार हो जाते हैं। अर्थात् सांसारिक जीवन का बोझ उन पर डाल देते हैं। अपनी स्वार्थमय भावना के वशीभूत होकर लोग बाल-विवाह विरोधी बातों की उपेक्षा करते हैं उपहास करते हैं। यद्यपि वे बालविवाह अपनी प्रसन्नता के लिए व सन्तान को सुखी बनाने के लिए करते हैं लेकिन कभी कभी उसका परिणाम बहुत बुरा होता है। जिसे वे हर्ष का कारण समझते हैं वही शोक का कारण और जिसे सन्तान को सुखी बनाने का साधन मानते हैं, वही सन्तान को दुःखी बनाने का उपाय भी हो जाता है। कुछ लोग इस बात को समझते जरूर हैं पर सामाजिक नियम से विवश होकर या देखा-देखी बाल-विवाह के घोर पापमय कार्य में प्रवृत्त होते हैं और सामाजिक नियम तथा अनुकरण करने वाली कुबुद्धि से असली बुद्धि को विवाह करते तक के वास्ते दूर खदेड़ देते हैं।

नाती पोते देखकर अपने जीवन को सुखी मानने वाले लोग अपनी सन्तान का विवाह बाल्यावस्था में ही करके संतोष नहीं करते किन्तु विवाह के समय ही या कुछ ही दिन पश्चात् अबोध पति-पत्नी को उनका उज्ज्वल और सुखमय भविष्य काला और दुःखमय बनाने के लिये एक कोठरी में बन्द भी कर देते हैं। आरम्भ में ही ऐसे संस्कार डाले जाने के कारण व बालक-बालिका अपने माता-पिता की पोते-पोती विषयक लालसा पूरी करने के लिए दुर्विषय-भोग के अथाह सागर में, अज्ञात होते हुए भी कूद पड़ते हैं।

कुछ लोगों ने बाल विवाह की पुष्टि के लिए धर्म की भी ओट ले रखी है। बाल-विवाह न करना, धार्मिक दृष्टि से भी

अपराध बतलाया गया है। लेकिन जो लोग, बाल-विवाह को धार्मिक रूप देते हैं, उन्हीं के ग्रन्थों में लिखा है.—

अज्ञातपतिमर्यादाम ज्ञातपतिसेवनाम् ।
नोद्वाहयेत् पिता बालामज्ञाता धर्मशासनम ॥

—हेमाद्रि

अर्थात् पिता ऐसी कम अवस्था वाली कन्या का विवाह कदापि न करे, जो पति की मर्यादा, पति की सेवा और धर्म शासन को न जानती हो।

बाल-विवाह न करने को धार्मिक अपराध बताने वाले लोग, 'अष्टवर्षा भवेद् गौरी' आदि का जो पाठ प्रमाण स्वरूप बताते हैं, अनेक शास्त्रों के प्रमाणों से, यह प्रक्षिप्त ठहरता है। जान पड़ता है यह पाठ उस समय बनाया गया था जब कि भारत में मुसलमानों का जोर था और वे लोग स्त्रियों और विशेषत अविवाहित कुमारियों का बलात् अपहरण करते थे। मुसलमानों से स्त्रियों की रक्षा करने के लिये ही सम्भवतः यह पाठ बनाया गया था, क्योंकि मुसलमान लोग विवाहित स्त्रियों की अपेक्षा अविवाहित स्त्रियों का अपहरण अधिक करते थे। इसलिये विवाह हो जाने पर स्त्रियाँ इस भय से बहुत कुछ मुक्त समझी जाती थीं।

यद्यपि, मुसलमानी काल में बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित अवश्य हो गई थी, लेकिन आजकल की तरह, अल्पवयस्क पति-पत्नी का विवाह-समय में ही सहवास नहीं कराया जाता था। सहवास का समय विवाह समय से भिन्न होता था जिसे

गौना कहा करते थे और जिसके न होने तक कन्या को माव ससुराल में नहीं लाया जाता था। आज मुसलमानी काल की-सी स्थिति न होने पर भी बाल-विवाह प्रचलित है और सहवास की भी कोई निश्चित व्यवस्था नहीं है।

तात्पर्य यह कि बाल-विवाह किसी भी धर्म के शास्त्रों में उचित या आवश्यक नहीं बताया गया है, किन्तु ऐसे विवाहों का निषेध ही किया गया है।

बाल-विवाह और समय से पूर्व के दाम्पत्य सहवास से शारीरिक विकास रुक जाता है। सौन्दर्य उत्साह, प्रसन्नता और अंगों की शक्ति घट जाती है। आयुर्बल भी कम हो जाता है। रोग शोक घेरे रहते हैं। असमय में ही दाँत गिर जाते हैं, बाल पकने लगते हैं। आँखों की ज्योति क्षीण हो जाती है और थोड़े ही दिनों में पुरुष नपुंसक और स्त्री स्त्रीत्व रहित हो जाती है। इस प्रकार पति-पत्नी का जीवन दुःखमय हो जाता है।

आयुर्वेद में बतलाया गया है कि यदि सोलह वर्ष से कम अवस्था वाली स्त्री में २५ वर्ष से कम अवस्था वाला पुरुष गर्भाधान करे तो वह गर्भ उदर में ही नष्ट हो जाता है। यदि उस गर्भ से सन्तान उत्पन्न भी हुई तो जीवित नहीं रहती है और यदि जीवित रही भी तो अत्यन्त दुर्बल अंग वाली होती है। इस लिये कम आयु वाली स्त्री में कभी गर्भाधान न करना चाहिये।

इस प्रकार संतान के लिये भी बाल-विवाह घातक है। इंगलैंड में मनुष्य की औसत आयु ५१ वर्ष और बाल-मृत्यु प्रति सहस्र ५२ है लेकिन भारत में मनुष्यों की औसत आयु केवल २३ वर्ष और बाल-मरण प्रति सहस्र १८६ है। इस महान् अन्तर

का कारण यही है कि इंगलैंड में बालविवाह की घातक प्रथा नहीं है। लेकिन भारत में, इस प्रथा ने अधिकाश लोगों के हृदय में अपना घर वना लिया है। पौत्रादि के इच्छुक लोग, अपने बालक बालिका का विवाह करते तो हैं पोते-पोती के सुख की अभिलाषा से, लेकिन असमय में ही उत्पन्न सतान मृत्यु के मुख में जाकर, ऐसे लोगों को और विलाप करने के लिये छोड़ जाती है। अपने माता-पिता को अशक्त बना जाती है तथा इस प्रकार से उन्हें अपने दुष्कृत्यों का दण्ड दे जाती है। इसी घातक प्रथा के कारण अनेक स्त्रियाँ प्रसवकाल में ही परलोक को प्रस्थान कर जाती हैं या सदा के लिए रोगग्रस्त हो जाती हैं। और फिर रोगी सतान उत्पन्न करके भावी संतति के लिये काँटे बिछा जाती हैं।

बालविवाह के विषय में गांधीजी लिखते हैं, कि हिन्दुस्थान के अलावा और किसी भी देश में बचपन से ही विवाह की बातें बालकों को नहीं सुनाई जातीं। यहाँ तो माता-पिता की एक ही इच्छा रहती है कि लड़के का विवाह कर देना। इससे असमय में ही बुद्धि और शरीर का ह्रास होता है। हम लोगों का जन्म भी प्राय बचपन के व्याहे माता-पिता से हुआ है। हमें ऐसा लोकमत बनाने की जरूरत है, कि जिसमें बाल-विवाह असम्भव हो जावे। हमारी अस्थिरता, कठिन और अविरतश्रम से अनिच्छा, शारीरिक अयोग्यता, शान से शुरु किये गए कामों को अधूरा छोड देना और मौलिकता का अभाव इत्यादि, इन सबके मूल में मुख्यत हमारा अत्यधिक वीर्यनाश ही है।'

गांधीजी आगे और भी लिखते हैं—'जो माँ-बाप अपने बच्चों की सगाई बचपन में ही कर देते हैं, वे उन बच्चों को

देखकर घातक बनते हैं। अपने बच्चों का लाभ देखने के बदले वे अपना ही क्षुद्र स्वार्थ देखते हैं। उन्हें तो आप बड़ा बनना है अपनी जाति बिरादरी में नाम कमाना है, लड़के का ब्याह करके तमाशा देखना है। लड़के का हित देखें तो उसका पढ़ना लिखना देखें उसका जतन करें उसका शरीर बनावें। घर गृहस्थी की खटपट में डाल देने से बढ़कर उसका दूसरा कौनसा अहित हो सकता है?'

यदि यह कहा जाय कि धार्मिकता की दृष्टि से बचपन में विवाह किया जाता है मगर सहवास नहीं होता तो यह कथन पहले तो सर्वथा नहीं तो बहुत अंश में गलत है। क्योंकि प्रायः विवाह के समय में ही सहवास होना सुना जाता है। कदाचित् विवाह-समय सहवास न होता हो तो बचपन में विवाह किस दृष्टि से किया जाता है? ऐसे विवाह प्रत्यक्ष ही हानिप्रद हैं। बचपन में ब्याहे गए पति पत्नी की अवस्था में विशेष अन्तर नहीं होता। जिस समय कन्या युवती मानी जाती है उस समय उसका पति युवावस्था में पदार्पण भी नहीं कर पाता। वह युवती है, इस लोक-लाज के भय से माता-पिता की दृष्टि में अपने अल्पवयस्क पुत्र के लिए स्त्री-सहवास आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार उस हानि से बचा नहीं जा सकता जो बाल विवाह से होती है। इसके सिवाय बचपन में विवाहे गये पति पत्नी कैसे स्वभाव के होंगे, उनके रूप, गुण शारीरिक मानसिक विकास शक्ति आदि में कैसी विषमता होगी इसे कोई नहीं जान सकता। पति-पत्नी में विषमता होने से उनका जीवन भी क्लेशमय हो जाता है।

बचपन में विवाह होने से विधवाओं की संख्या भी बढ़ती जाती है। समाज में चार-चार, छ छ और आठ आठ वर्ष की विधवाएँ दिखाई देना, बाल-विवाह का ही कटुफल है। चेचक आदि की बीमारी से बालक-पति की तो मृत्यु हो जाती है और बालिका पत्नी वैधव्य भोगने के लिये रह जाती है। जिस पति से, उस अबोध बालिका ने कोई सुख नहीं पाया है, हृदय में जिसकी स्मृति का कोई साधन नहीं है, उस पति के नाम पर, एक बालिका से वैधव्य पालन कराने का कारण बाल-विवाह ही है। ऐसी बाल विधवा अपनी वैधव्यावस्था किस सहारे से व्यतीत कर सकेगी, यह देखने की कोई आवश्यकता भी नहीं समझता।

तात्पर्य यह है कि सहवास न होने पर भी बालविवाह हानिप्रद ही है। विवाह हो जाने पर बालक पति-पत्नी ज्ञान और विद्या से भी बहुत कुछ पिछड़े रह जाते हैं तथा एक दूसरे के स्मरण से वीर्य में दोष पैदा हो जाता है। इसलिए बाल-विवाह त्याज्य है।

विवाह शक्ति प्राप्त करने के लिए किया जाता है। शक्ति के लिये मङ्गलवाद्य बजवाए जाते हैं। शक्ति के लिये ज्योतिषी से ग्रहादिक का सुयोग पूछा जाता है। शक्ति के लिये सुहागिनों का आशीष लिया जाता है। परन्तु जहाँ अशक्ति के लिए यह सब काम किए जाते हों वहाँ के लोगों को क्या कहा जाय? जो अशक्ति के स्वागत-सत्कार के लिए यह सब समारोह करता हो उस मूर्ख को किस पदवी से अलङ्कृत किया जाय?

बालविवाह करना अशक्ति का स्वागत करना है। इससे शक्ति का नाश होता है। अतएव कोई भाई जैन श्रावक हो,

वैष्णव गृहस्थ हो अथवा और कोई हो सबका कर्तव्य है कि अपनी संतानों के लिये, संतानों की रक्षा के लिए इस घातक प्रथा का त्याग करदें। इसका मूलोच्छेद करके सन्तान का और संतान के द्वारा समाज एवं राष्ट्र का मंगल साधन करें।

आप मंगल के लिए बाजे बजवाते हैं, मंगल के लिये ही सुहागिनें आशीष देती हैं मंगल के लिए ज्योतिर्विद से शुभ मुहूर्त निकलवाते हैं, पर यह स्मरण रखिये कि जब यह सब मंगल अमंगल के लिए किए जाते हैं तब वे किसी काम में नहीं आते। इन सब मंगलों से भी बालविवाह से होने वाले अमंगल दूर नहीं हो सकते। छोटी-छोटी उम्र में बालक बालिका का विवाह करना अमंगल है। ऐसा विवाह भविष्य में हाहाकार मचाने वाला है। ऐसा विवाह त्राहि त्राहि की आवाज से आकाश को गुंजाने वाला है। ऐसा विवाह देश में दुख का दावानल दहकाने वाला है। इस प्रकार के विवाह से देश की जीवनी शक्ति का ह्रास हो रहा है। यह शारीरिक शक्ति की न्यूनता उत्पन्न कर रहा है। विविध प्रकार की व्याधियों को जन्म दे रहा है। अतएव अब सावधान हो जाओ। अगर संसार की भलाई करने योग्य उदारता आपके दिल में नहीं आई हो तो कम से कम अपनी संतान का अहित मत करो। उसके भविष्य को घोर अंधकार से आवृत मत करो। जिसे तुम ने जीवन दिया है उसका सर्वनाश मत करो। अपनी सन्तान की रक्षा करो।

यह बालक दुनिया के रक्षक बनने वाले हैं। इन पर दाम्पत्य का पहाड़ मत पटको। बेचारे पिस जाएंगे।

बालक निसर्ग का सुन्दरतम उपहार है। इस उपहार को लापरवाही से मत रौंदो।

कई माता-पिता लोभ के वशीभूत होकर अपनी संतान का हिताहित नहीं देखते और उसका विवाह ऐसे वर या ऐसी कन्या के साथ कर देते हैं जो बेजोड़ और एक दूसरे की अभिरुचि के प्रतिकूल होते हैं। कई माता पिता, अपनी अबोध कन्या को वृद्ध तक के गले मढ देते हैं ।

विशेषत वे धन के लिये ही ऐसा करते हैं। यानी कन्या के बदले में धन लेने के लिये। द्रव्य लालसा के आगे वे इस बात को विचारने की भी आवश्यकता नहीं समझते कि इन दोनों में परस्पर मेल रहेगा या नहीं ? तथा हमारी कन्या कितने दिन सुहागिन रह सकेगी ? उन्हें तो केवल द्रव्य से काम रहता है, उनकी तरफ से कन्या की चाहे जैसी दुर्दशा क्यों न हो ?

विवाह और पत्नी के इच्छुक वृद्ध भी यह नहीं देखते कि मैं इस तरुणी के योग्य हूँ या नहीं, और यह तरुणी मुझे पसन्द करेगी या नहीं ? विद्वानों का कथन है—

वृद्धस्य तरुणी विषम् ।

वृद्ध के लिए तरुणी विष के समान है। इसी प्रकार तरुणी को वृद्ध, विष के समान बुरा लगता है। जब पति-पत्नी एक दूसरे को विष के समान बुरे लगते हों तब उनका जीवन सुखमय कैसे बीत सकता है ? लेकिन इस बात पर न तो धन-लोभी माता-पिता ही विचार करते हैं, न स्त्रीलोभी वृद्ध और न भोजन-लोभी पञ्च ही। केवल धन के बल से एक वृद्ध उस तरुणी पर अधिकार कर लेता है, जिसका अधिकारी एक युवक हो सकता था और इस प्रकार माता पिता की धनलोलुपता से एक तरुणी को अपना जीवन वृद्ध के हवाले कर देना पड़ता है, जिस जीवन को

१०—बेजोड़-विवाह

बेजोड़ विवाह भी पूर्वकाल की विवाह प्रथा और आज की विवाह प्रथा की भिन्नता बताता है। यद्यपि विवाह में वर और कन्या की पूर्व वर्णित समानता देखना आवश्यक है, लेकिन आज के अधिकांश विवाहों में इस बात का ध्यान बहुत कम रखा जाता है आज के बेजोड़ विवाहों को देखकर यदि यह कहा जावे कि वर या कन्या के साथ नहीं किन्तु धन वैभव या कुल के साथ विवाह होता है तो अत्युक्ति नहीं होगी। यद्यपि संसार का प्रत्येक प्राणी अपनी समानता वाले को ही अधिक पसन्द करता है और विवाह के लिए तो विशेष कर यह बात बहुत ध्यान में रखने योग्य है लेकिन आजकल के बहुत से विवाह रूप और वैभव की जोड़ी से होते हैं। ऐसे विवाह, विशेषतः धन या कुल के कारण ही होते हैं। अर्थात् या तो धन के लोभ से बेजोड़ विवाह किया जाता है या कुल के लोभ से। बेजोड़ विवाह में धन का लोभ दो प्रकार का होता है। एक तो यह कि लड़के या लड़की की ससुराल धनवान होगी इसलिए बड़ी अवस्था वाली कन्या के साथ छोटी अवस्था वाले पुरुष का या छोटी अवस्था वाली कन्या के साथ बड़ी अवस्था वाले पुरुष का विवाह कर दिया जाता है। दूसरे कन्या या वर के बदले में द्रव्य प्राप्त होगा, इसलिये भी ऐसे विवाह कर दिये जाते हैं। इसी प्रकार कुल के लिये भी बेजोड़ विवाह कर दिये जाते हैं, अर्थात् हमारी लड़की या हमारे लड़के की ससुराल इस प्रकार की घरानेदार या कुलवान् होगी ऐसा सोच कर भी बेजोड़ विवाह कर दिये जाते हैं।

रहती हैं। और अंत में अनेक विधवाएँ वेश्या बनकर अपना जीवन घृणित रीति से बिताने लगती हैं। बेजोड़ पति-पत्नी से उत्पन्न सन्तान भी अशक्त, अल्पायुषी और दुर्गुणी होती है।

जैन शास्त्रों में, ऐसा एक भी प्रमाण नहीं मिलता जो बे जोड़ विवाह का पोषक हो। अन्य ग्रन्थों में भी बे जोड़ विवाह का निषेध किया गया है। जैसे—

कन्यां यच्छति वृद्धाय नीचाय धनलिप्सया।
कुरूपाय कुशीलाय स प्रेतो जायते नरः॥

—स्कन्द पुराण

'जो पिता अपनी कन्या वृद्ध, नीच, धन के लोभी, कुरूप और कुशील पुरुष को देता है वह प्रेत योनि में जन्म लेता है।'

इसी प्रकार कन्याविक्रय के विषय में कहा है —

अल्पेनापि शुल्केन पिता कन्यां ददाति यः।
रौरवे बहु वर्षाणि पुरीषं मूत्रमश्नुते॥

—आपस्तम्ब स्मृति

'कन्या देकर बदले में, थोड़ा भी धन लेने वाला पिता बहुत समय तक रौरव नरक में निवास करके विष्ठा और मूत्र खाता पीता रहता है।'

आधुनिक अनमेल-विवाह प्रथा की, और भी बहुत समालोचना की जा सकती है। लेकिन विस्तारभय से ऐसा नहीं किया गया है। यहाँ तो संक्षेप में केवल यह बताया गया है कि आजकल की विवाहप्रथा पहले की विवाहप्रथा से बिलकुल भिन्न है और इस भिन्नता से अनेक हानियाँ हैं।

वह किसी युवक के साथ बिता देने की अभिलाषा रखती थी। वृद्धविवाह के विषय में गुजरातों में आई हुई कहावत इस स्थान पर उपयुक्त होने से दी जाती है।

एक वृद्ध अमीर की स्त्री का देहान्त हो गया। अमीर के दोस्तों ने अमीर से दूसरा विवाह करने के लिए कहा। अमीर ने उत्तर दिया कि मैं किसी बुड्ढी स्त्री के साथ विवाह नहीं कर सकता, मुझे बुड्ढी स्त्री पसंद नहीं। दोस्तों ने उत्तर दिया, कि आपको बुड्ढी स्त्री के साथ विवाह करने के लिये कौन कहता है? आप लड़की के साथ विवाह कीजिये। हम आपके लिये एक लड़की की तलाश कर देंगे। दोस्तों की बात सुनकर अमीर ने कहा—यह आप लोगों की मेहरबानी है, लेकिन मैं पूछता हूँ कि जब मुझ बुड्ढे को बुड्ढी स्त्री पसंद नहीं है तो क्या वह लड़की मुझ बुड्ढे को पसंद करेगी? यदि नहीं तो फिर जबरदस्ती से क्या लाभ? अमीर की बात सुनकर दोस्तों को शर्मिन्दा होना पड़ा और उन्होंने अमीर के विवाह की बात छोड़ दी।

वृद्ध पुरुष के साथ तरुण स्त्री के विवाह के समान ही धन या कुल के लोभ से बालक पुरुष के साथ लड़की या तरुण पुरुष के साथ बालिका भी ब्याह दी जाती है। ये समस्त विवाह बेजोड़ हैं। ऐसे विवाह समाज में भयंकर हानि करने वाले भावी संतति का जीवन दुःखमय बनाने वाले और पारलौकिक जीवन को कंटकाकीर्ण बनाने वाले हैं।

बेजोड़-विवाह से होने वाली समस्त हानियों का वर्णन करना शक्ति से परे की बात है। बेजोड़-विवाह से कुल की हानि होती है। विधवाओं की संख्या बढ़ती है जिससे व्यभिचारवृद्धि के साथ ही आत्महत्या भ्रूणहत्या आदि होती

बालविवाह और बेजोड-विवाह बन्द हो जावें, विवाहों में अधिक खर्च न हुआ करे तो विधवाओं और अविवाहित पुरुषों की बढ़ी हुई सख्या न रहने पर सम्भवतः विधवा-विवाह का प्रश्न आप ही हल हो जावे। साराश यह है कि पूर्व समय में, विवाह तब किया जाता था, जब पति-पत्नी, सर्वविरति ब्रह्मचर्य पालने में अपने को असमर्थ मानते थे। अर्थात् विवाह कोई आवश्यक कार्य नहीं माना जाता था, लेकिन आजकल विवाह एक आवश्यक-कार्य माना जाता है। जीवन की सफलता विवाह में ही समझी जाती है। जब तक लडके लडकी का विवाह न हो जावे, तब तक वे दुर्भागी समझे जाते हैं। इसी कारण आवश्यकता और अनुभव के बिना ही विवाह कर दिया जाता है और वह भी बेजोड तथा हजारों लाखों रुपये व्यय कर के धूमधाम के साथ। पूर्व समय की विवाह प्रथा समाज में शाति रखती थी, समाज को दुराचार से बचाती थी और अच्छी सन्तान उत्पन्न करके, समाज का हित साधन करती थी। आजकल की विवाह-प्रथा इसके विपरीत कार्य करती है। बाल-विवाह बेजोड-विवाह और विवाह की खर्चीली पद्धति, समाज में अशांति उत्पन्न करती है, लोगों को दुराचार में प्रवृत्त करती है और रुग्ण एव अल्पायुषी सतान द्वारा समाज का अहित करती है।

वैवाहिक विषय के वर्णन पर से कोई यह कह सकता है कि साधुओं को इन सासारिक बातों से क्या? और वे ऐसी बातों के विषय में उपदेश क्यों दें? इसका उत्तर यही है कि यद्यपि इन सासारिक बातों से साधु लोग परे हैं लेकिन साधुओं का धार्मिक जीवन नीति-पूर्ण ससार पर ही अवलम्बित है। यदि ससार में सर्वत्र अनीति छा जावे, तो धार्मिक जीवन के लिए

११—विवाह और अपव्यय

अधिकांश आधुनिक विवाहों में अपव्यय भी सीमातीत होता है। आतिशबाजी, नाच, मुजरे, बाजे और ज्ञाति भोजनादि में इतना अधिक द्रव्य लगाया जाता है कि इतने द्रव्य से सैकड़ों हजारों लोग, वर्षों तक पल सकते हैं। धनिक लोग अपव्यय द्वारा गरीबों के जीवन-मार्ग में काँटे बिछा देते हैं। धनिकों के आडम्बरपूर्ण विवाह को आदर्श मानकर, अनेक गरीब भी कर्ज लेकर विवाह का आडम्बर करते हैं और धनिकों द्वारा स्थापित इस आदर्श की कृपा से अपने जीवन को चिरकाल के लिए दुखी बना लेते हैं। विवाह के अवसर में धन की हानि नहीं होती, किन्तु कभी २ जन की भी हानि हो जाती है। बहुत से लोग खाने-पीने की अनियमितता से बीमार होकर मर जाते हैं। कई युवक विवाह में आई हुई वेश्याओं के ही शिकार बन जाते हैं। इस प्रकार आजकल की पद्धति द्वारा अपना ही सर्वनाश नहीं किया जाता किन्तु दूसरों के सर्वनाश का कारण भी उत्पन्न किया जाता है।

आजकल समाज के सम्मुख विधवा-विवाह का जो प्रश्न उपस्थित है, उसके मूल कारण बाल-विवाह बेजोड़-विवाह और विवाह की खर्चीली पद्धति ही हैं। बाल-विवाह और बेजोड़ विवाह के कारण एक ओर तो विधवाओं की संख्या बढ़ जाती है और दूसरी ओर बहुत से पुरुष अविवाहित रह जाते हैं। इसी प्रकार विवाह की खर्चीली पद्धति के कारण भी अनेक गरीब परन्तु योग्य युवक अविवाहित रह जाते हैं। क्योंकि उनके पास वैवाहिक आडम्बर करने को द्रव्य नहीं होता। यदि

ऐ भीष्म की सतानो ! भीष्म ने तो आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करके दुनिया के कानों में ब्रह्मचर्य का पावन मन्त्र फूँका था। आज उन्हीं की सन्तान कहलाते हुए उन्हीं के मन्त्र को क्यों भूल रहे हो ?

× × × ×

लग्न के समय वर-वधू अग्नि की प्रदक्षिणा करते हैं। पति के साथ अग्नि की प्रदक्षिणा करने के पश्चात् सच्ची आर्य महिला अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देती है, पर की हुई प्रतिज्ञा से विमुख नहीं होती।

पुरुष भी पत्नी के साथ अग्नि की प्रदक्षिणा करते हैं, परन्तु जो कर्तव्य स्त्री का माना जाता है, वही क्या पुरुष का भी समझा जाता है ?

जैसे सदाचारिणी स्त्री पर-पुरुष को पिता एवं भाई समझती है, उसी प्रकार सदाचारी पुरुष भी वही है जो परस्त्री को माता बहिन की दृष्टि से देखे। 'पर ती लखि जे धरती निरखें, धनि हैं धनि हैं धनि हैं नर ते।'

पुरुष का पाणिग्रहण धर्मपालन के लिये किया जाता है उसी प्रकार स्त्री का भी। जो नर या नारी इस उद्देश्य को भूलकर खान-पान और भोग विलास में ही अपने जीवन की इतिश्री समझते हैं, वे धर्म के पति पत्नी नहीं, वरन् पाप के पति-पत्नी हैं।

विवाह होने पर पति-पत्नी प्रेम-बन्धन में जुड़ जाते हैं। मगर उनके प्रेम में भी भिन्नता देखी जाती है। किसी किसी में

स्थान भी नहीं रह जाता है। इसी दृष्टिकोण से विवाह की विधि बताने के लिए ही शास्त्रों की कथाओं में विवाह-बन्धन में जुड़ने वाले स्त्री-पुरुष की समानता आदि का वर्णन किया है। यह बात दूसरी है कि उनमें बाल-विवाह, असमय के सहवास आदि का निषेध नहीं है। लेकिन उस समय यह कुप्रथाएँ थी ही नहीं इसलिए इस प्रकार के उपदेश की आवश्यकता न थी। अन्यथा पूर्ण ब्रह्मचर्य का ही विधान करने वाले होने पर भी जैन-शास्त्र ऐसे अपूर्ण नहीं हैं कि उनमें सांसारिक जीवन की विधि पर कथाओं द्वारा प्रकाश न डाला गया हो। 'सरिसवया' 'सरिस-तया' आदि पाठ इसी बात के द्योतक हैं कि विवाह समान युवावस्था में होता था।

विवाह में जहाँ धन की प्रधानता होगी वहाँ अनमेल विवाह हों यह स्वाभाविक है। अनमेल विवाह करके दाम्पत्य जीवन में सुख-शान्ति की आशा करना ऐसा ही है जैसे नीम बोकर आम के फल की आशा करना।

आजकल की इस देश की दुर्दशा में भी भारत के साठ साठ वर्ष के बूढ़े विवाह करने के लिए तैयार हो जाते हैं। बूढ़ों की इस वासना ने देश को बरबाद बना दिया है। आज विधवाओं की संख्या बढ़ गई है और कितनी बढ़ती जाती है यह किसे नहीं मालूम ? आप नोटों पर नोट गिन लेते हो पर कभी इन विधवाओं की भी गिनती आपने की है ? कभी आपने यह चिन्ता भी की है कि इन विधवा बहिनों का निर्वाह किस प्रकार होता है ?

दाम्पत्य

जो समाज का उचित निर्माण और उत्थान का इच्छुक है उसे स्त्रीस्वातन्त्र्य, प्रेममय जीवन और मा... गौरव महिलाओं को प्रदान करने की अत्यन्त आवश्यकता समाज अपने इस अभिन्न अंग की उपेक्षा कर अधिक समय ... उचित रीति से अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सकता है। स्वयं पुरुष एक प्रेममयी नारी के अभाव में अपूर्ण है। वह अपने व्यक्तित्व का निर्माण भी पूर्ण रूप में, नहीं कर सकता। समस्त जीवन में उसे एक ऐसा अभाव खटकता-सा रहेगा जिसकी पूर्ति अन्य किसी वस्तु के द्वारा नहीं की जा सकती। समाज की जागृति के प्रत्येक कदम में सफलता प्राप्त करने के लिए स्त्रियों को अधिक से अधिक सुविधाएँ दी जानी चाहिए जिससे वे एक स्वतन्त्र और सच्चे नारी-जीवन का निर्माण कर सकें।

आज नारी पुरुषों की समता के लिए, अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए लड़ रही है। उनकी अज्ञानता ने पुरुषों में यह भावना उत्पन्न कर दी है कि वे महिलाओं से श्रेष्ठ हैं।

विवाह करने पर भी स्वार्थपूर्ण प्रेम होता है और किसी किसी में निस्वार्थ प्रेम भी रहता है। जिस दम्पती में स्वार्थपूर्ण प्रेम होगा उसकी दृष्टि एक दूसरे की सुन्दरता पर रहेगी और किसी कारण सुन्दरता में कमी होने पर वह प्रेम दूर हो जायगा। परन्तु जिसमें निस्वार्थ प्रेम है, उसमें अगर पति रोगी या कुरूप अथवा कोढ़ी होगा तो भी पत्नी का प्रेम कम नहीं होगा। श्रीपाल को कोढ़ हो गया था। फिर भी उसकी पत्नी ने पति प्रेम में किसी प्रकार की कमी नहीं की। तात्पर्य यह है कि जिस प्रेम में किसी भी कारण से न्यूनता आ जाय, वह निस्वार्थ प्रेम नहीं है, वह स्वार्थपूर्ण और दिखावटी प्रेम है।

इन सब बातों का निर्णय न हो जाय कि हमेशा स्त्री पुरुष को साथ रहना है। एक साथ ही संसार के सुखों के साधनों को जुटाना है। एकत्र रहकर ही सृष्टि करनी है, विकास करना है। दोनों के हृदयों में अधिकार की हाय-हाय की अपेक्षा एक दूसरे के प्रति आत्मसमर्पण की भावना हो। परस्पर प्रेम, सहानुभूति और कर्त्तव्य का भाव प्रधान हो। विश्व में मानव की सृष्टि ही तो इसी आधार पर हुई है। इसमें बाधाएँ उपस्थित करने से हर गृह में अशांति पैदा हो जाती है। इसी प्रकार स्त्री का जीवन तभी सुखी और सन्तोषमय रह सकता है जब कि वह आत्मसमर्पण में ही जीवन के सुख को खोजे। उसी से पूर्ण आनन्द का अनुभव करे। पुरुष के लिए भी यही बात है। नारी का तो सारा जीवन ही त्यागमय है। समर्पण करने में ही उसे सुख है। इसी में तो उसके मातृत्व का, पुरुष की जननी होने का अधिकार, गौरव है। यहीं तो उसकी उन्नति की परम सीमा है। इसी जगह तो नारी वह है कि जिसकी बराबरी पुरुष भी नहीं कर सका और न कर सकेगा।

इसीलिये आजकल जो प्रतिद्वन्द्विता एवं मुकाबिले का भाव समाज में स्त्री पुरुषों के बीच चल रहा है, समाज को भारी हानि पहुँचा रहा है और वह भी विशेषकर स्त्रियों को। वह यह कि कोई भी काम, चाहे वह अच्छा हो या बुरा, पर पुरुष करता है तो स्त्रियाँ भी क्यों न करें? नारियों के मन में आजकल कुछ ऐसी भावना घर कर गई है कि पुरुष जाति स्वार्थमय हो गई है, हमारे साथ बेवफाई कर रही है। और हमने तो सदा त्याग किया है, ममतावश होकर सदा पुरुष की हम गुलामी करती रही हैं पर उसका पुरस्कार आज यह है कि हम दुतकारी

उनके स्वामित्व का अधिकार उन्हें जन्म से ईश्वरीय देन है। स्त्री शारीरिक व मानसिक दृष्टि से निर्बल है अतः पुरुष उसकी रक्षा कर उसके प्रति महान् उपकार करता है। वह जन्म भर उससे उपकृत एक दासी है।

यद्यपि अपने क्षेत्र में स्त्री को सफलता प्राप्त करने के लिए प्रेममय गृहस्थ जीवन निर्माण का प्रयत्न करना चाहिए, पर प्रत्येक क्षेत्र में यहाँ तक कि धूम्रपान और मदिरापान में भी पुरुष का अन्धानुसरण करना अपनी उच्छृंखलता बढ़ाना ही है। अपने अधिकारों का दुरुपयोग करना समाज-निर्माण के लिए उपयुक्त नहीं। अपने कर्त्तव्य को विस्मरण करना जीवन में निराशाओं को उत्पन्न करने के सिवा और कुछ नहीं। जिस रूप में स्त्री ने अपने जागरण का स्वर उठाया था वह उपयुक्त नहीं रहा। उन्होंने जो शिक्षा प्राप्त की थी उसका भी वे उचित उपयोग नहीं कर सकीं। उससे नारी की असली स्वतन्त्रता बढ़ने के बजाय घटने की ही अधिक सम्भावना है। वह अपनी शिक्षा प्रतिभा और कर्त्तव्य को पूर्ण रूप से भूली जा रही है।

परिणामस्वरूप महिलाओं की स्वतन्त्र प्रतिभा और उसके व्यक्तित्व का प्रकाश क्षीण होता जा रहा है। प्रत्येक सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में स्थान पा जाने पर भी वे असन्तुष्ट सी रहीं। गृहस्थ जीवन को इसने पूर्ण नष्ट-सा कर दिया। बहुत सी शिक्षित स्त्रियाँ तो अपने पत्नीत्व और मातृत्व जीवन को भी समाप्त कर जीवन में एक अतृप्ति का भाव लेकर समय व्यतीत करती हैं। नारी भी असन्तुष्ट और पुरुष भी असन्तुष्ट। यह असन्तोष भी तब तक दूर नहीं होगा जब तक

इन सब बातों का निर्णय न हो जाय कि हमेशा स्त्री पुरुष को साथ रहना है। एक साथ ही संसार के सुखों के साधनों को जुटाना है। एकत्र रहकर ही सृष्टि करनी है, विकास करना है। दोनों के हृदयों में अधिकार की हाय हाय की अपेक्षा एक दूसरे के प्रति आत्मसमर्पण की भावना हो। परस्पर प्रेम, सहानुभूति और कर्त्तव्य का भाव प्रधान हो। विश्व में मानव की सृष्टि ही तो इसी आधार पर हुई है। इसमें बाधाएँ उपस्थित करने से हर गृह में अशान्ति पैदा हो जाती है। इसी प्रकार स्त्री का जीवन तभी सुखी और सन्तोषमय रह सकता है जब कि वह आत्मसमर्पण में ही जीवन के सुख को खोजे। उसी से पूर्ण आनन्द का अनुभव करे। पुरुष के लिए भी यही बात है। नारी का तो सारा जीवन ही त्यागमय है। समर्पण करने में ही उसे सुख है। इसी में तो उसके मातृत्व का, पुरुष की जननी होने का अधिकार, गौरव है। यहीं तो उसकी उन्नति की परम सीमा है। इसी जगह तो नारी वह है कि जिसकी बराबरी पुरुष भी नहीं कर सका और न कर सकेगा।

इसीलिये आजकल जो प्रतिद्वन्द्विता एवं मुकाबिले का भाव समाज में स्त्री पुरुषों के बीच चल रहा है, समाज को भारी हानि पहुँचा रहा है और वह भी विशेषकर स्त्रियों को। वह यह कि कोई भी काम, चाहे वह अच्छा हो या बुरा, पर पुरुष करता है तो स्त्रियाँ भी क्यों न करें? नारियों के मन में आजकल कुछ ऐसी भावना घर कर गई है कि पुरुष जाति स्वार्थमय हो गई है, हमारे साथ बेवफाई कर रही है। और हमने तो सदा त्याग किया है, ममतावश होकर सदा पुरुष की हम गुलामी करती रही हैं पर उसका पुरस्कार आज यह है कि हम दुतकारी

आ रही हैं। अतः अब क्यों इसकी परवाह करें? कब तक सेवा करती रहें? और फिर किसलिए? बस त्याग को छोड़कर क्यों न उनकी ही कोटि में आ जाँय? और उसी भावना का फल है कि आजकल की अधिकारप्रिय स्त्रियाँ अपने उस प्राचीन गौरव को आँख उठाकर देखना भी नहीं पसन्द करतीं।

आज उनकी आँखें पूर्ण रूप से पुरुष जाति की ओर लगी हुई हैं कि वह कौनसा काम कब कर रही है कि हम भी वही करने लग जाँय! पुरुष की पूरी नकल करने में ही वे अपने जीवन की सार्थकता समझने लगी हैं।

उन्हें ऐसा विश्वास हो गया है कि उन्हें पति के प्रति प्रेम नहीं और इसलिये उनका मन असन्तुष्ट व अप्रसन्न है। फलस्वरूप ईर्ष्यावश वह पति की प्रत्येक गति विधि पर दृष्टि रखने में ही सारा समय बर्बाद करने लगी हैं। पुरुष ने उसका ध्यान पूरी तरह से अपनी ओर खींच लिया है। अतः वह अपने व्यक्तित्व की ओर लक्ष्य नहीं रखती। निरन्तर पुरुष की प्रत्येक हलचल से उपेक्षा टपकती हुई सी समझकर कुढ़ती रहती है। सोचती रहती हैं कि वे तो आराम से निश्चिंत होकर भ्रमण करते रहते हैं फिर मैं दासी बनी कब तक उनकी गुलामी किया करूँ?

इसके विपरीत जो उच्च विचारों की स्त्रियाँ हैं वे पति की अकर्मण्यता और पति के पतन से मार्ग च्युत न होकर अपने कर्त्तव्य का ध्यान रखती हैं। व अपने मन में यह भावना कायम रखने का प्रयत्न करती रहती हैं कि मेरा धर्म तो सिर्फ अपनी पवित्रता को कायम रखने में है और मेरा कार्य पति के प्रति

अपने कर्तव्य का पालन करना है। इससे नारी की आत्मा का विकास होता है और वह अपने जीवन को सुखी करने की चेष्टा में सफल होती है। और वे इस त्याग, सेवा और कर्तव्य पालन के द्वारा पतन की ओर अग्रसर होते हुए पति को भी कभी पश्चात्ताप करने को बाध्य कर देती हैं। इस प्रकार अपनी वफादारी और कर्तव्यशीलता के द्वारा आनन्दरहित गृह को भी आनन्द और उल्लास की तरंगों में प्रवाहित कर देती हैं। वे पति को और उसके साथ २ अपने को भी ऊँचा उठाती हैं। गृह जीवन में सुख व शांति बढ़ाती हुई पति-पत्नी के टूटते हुए सम्बन्ध को जोड़ लेती हैं।

दूसरी ओर समाज में बढ़ती हुई खींचातानी का शिकार होकर स्त्रियाँ अत्यन्त दुखी और अतृप्त रहती हैं। उनका हृदय दुख से भरा रहता है और आत्मा तड़पती रहती है। क्यों कि आजकल स्त्रियों की माँग एवं उनके अधिकारों के नाम पर समाज में जो जहर फैलाया जा रहा है उसने पुरुष एवं स्त्री के सम्बन्ध को मधुर एवं दृढ बनाने की अपेक्षा और भी स्नेह-हीन, नीरस, और निकम्मा बना दिया है। एक दूसरे के मतभेद को मिटाने की जगह आपस के मनोमालिन्य की खाई को और भी गहरा कर दिया है। नारियों की उठती हुई आत्मा को गिरा दिया है। उनका विकास रोक दिया है।

आजकल की सभ्यता हमें अधिकार प्राप्त करने का पाठ तो पढ़ाती रहती है पर उस अधिकार के साथ जो महान् जिम्मेदारियों का बोझा बन्धा हुआ है उसे वहन करने का सबक नहीं

सिखाती। और जिस प्रकार आग और पानी का मेल नहीं हो सकता उसी तरह स्त्रियों के अधिकार और शक्ति चाहने पर यह नहीं हो सकता कि उसके लिये होने वाली कठिनाइयों में सुखी और त्याग करने को तैयार न रहें। प्राचीन भारतीय नारियों को गृह में जो अखण्ड अधिकार मिला था वह कष्टसहन एवं कठिनाइयों और बाधाओं के बीच में भी सुख और शांति का अनुभव करते हुए पूर्ण सन्तुष्ट रहने पर ही मिला था।

१—नारी का कार्यक्षेत्र

नारी का कार्यक्षेत्र गृह में ही है। उनके गृह जीवन में ही संसार के महापुरुषों का जीवन छिपा हुआ है। गृहों में प्राप्त होने वाली शिक्षा एवं संस्कार ही महान् पुरुषों का जीवन *निर्माण* करते हैं पर आज की इस परेलू पद्धति ने गृह जीवन की नींव को ही कमजोर बना दिया है। अतएव उसमें से जीवन प्राप्त करने वाला नवयुवक कमजोर रूखे स्वभाव वाला और कठिनाइयों में शीघ्र ही निराश हो जाने वाला हो गया है। वह बातें अधिक करता है पर कार्य कम करता है। हर एक से लेने की इच्छा अधिक करता है पर देना किसी को भी नहीं चाहता। पर यह उसका दोष नहीं। उसका दुर्भाग्य है कि जिस माता का दूध पीकर वह शक्ति प्राप्त करता था जिस माता के आदर्श चरित्र का अवलोकन कर वह एक महापुरुष बनता था आज उस माता का बल पर से हाथ हटता जा रहा है। वह उसी माँ का भाव था। बल्कि आज भी भारतीय गृहों में जो थोड़ा बहुत सौन्दर्य या सुघड़ता है वह उन बहनों बेटियों व माताओं का

प्रताप है कि जिनका चरित्र, जिनका सेवाभाव, सभाओं-सोसाइटियों में नहीं जाहिर होता बल्कि संतति का जीवन बनकर सामने आता है।

नारियों का सच्चा स्थान गृह ही है। उन्हीं के प्रयत्न से टूटते हुए गृह व दाम्पत्य जीवन का उद्धार संभव है। समाज के निर्माण में उत्तम गृहों का होना मुख्य है।

२—आदर्श दम्पती

उच्च दाम्पत्य जीवन का बहुत श्रेष्ठ आदर्श प्राचीन काल में राम और सीता ने उपस्थित किया था जो हिन्दू समाज के लिये सदैव अनुकरणीय रहा और है।

सच्चा पति वही है जो पत्नी को पवित्र बनाता है और सच्ची पत्नी वही है जो पति को पवित्र बनाती है। संक्षेप में जो अपने दाम्पत्य जीवन को पवित्र बनाते हैं, वही सच्चे पति-पत्नी हैं।

जो पुरुष परधन और परस्त्री से सदैव बचता रहता है उसका कोई कुछ नहीं बीगाड़ सकता। स्त्रियों के लिये पतिव्रत धर्म है तो पुरुषों के लिये पत्नीव्रत धर्म हैं।

जो पुरुष पत्नी को गुलाम बनाता है वह स्वयं गुलाम बन जाता है और जो पुरुष पत्नी को देवी बनाता है वह स्वयं देव बन जाता है।

पुरुष चाहते हैं कि स्त्रियाँ पतिव्रता धर्म का पालन करें परन्तु उन्हें क्या पत्नीव्रत धर्म का पालन नहीं करना चाहिए? पतिव्रत पत्नी के लिये और पत्नीव्रत पति के लिये कल्याणकारी

है। पतिव्रत का माहात्म्य कितना और कैसा है, यह बतलाने के लिये अनेक उदाहरण मौजूद हैं। पतिव्रत के प्रभाव से सीता के लिये अग्नि भी ठण्डी होगई थी। सीता ने पतिव्रत धर्म का पालन करने के लिये कितने अधिक कष्ट सहन किये थे? वह चाहती तो राम और कौशल्या का आग्रह मानकर घर में आराम से बैठी रह सकती थी और कष्टों से बच सकती थी मगर पतिव्रत धर्म का पालन करने के लिये उसने कष्ट सहना ही स्वीकार किया।

सीता के चरित्र को किस प्रकार देखना चाहिए, यह बात कवि ने बतलाई है। वह कहता है—'पति ही व्रत-नियम है' ऐसा व्रत वही स्त्री लेती है जिसके अन्तःकरण में पति के प्रति पूर्ण प्रेम होता है। कोई भी काम तभी होता है जब उसके प्रति प्रेम हो। धर्म का आचरण भी प्रेम से किया जाता है। आपका प्रेम कच्चा है या सच्चा यह परीक्षा करना हो तो पतिव्रता के प्रेम के साथ अपने प्रेम की तुलना करके देखो। भक्ति के विषय में पतिव्रता का उदाहरण भी दिया जाता है। पतिव्रताओं में भी सीता सरीखी पतिव्रता दूसरी शायद ही हुई हो। सीता ने उच्च आचरण करके सतीशिरोमणि की पदवी पाई है। सीता सरीखी दो चार सतियाँ अगर संसार में हों तो संसार का उद्धार हो जाय। कहावत है—'एक सती और नगर सारा।' सुभद्रा अकेली थी पर उसने क्या कर दिखाया था? उसने सारे नगर का दुःख दूर कर दिया था।

सब स्त्रियाँ सीता नहीं बन सकतीं। इससे कोई यह नतीजा न निकाले कि जब सीता सरीखी बनना कठिन है तो फिर उस ओर प्रयत्न ही क्यों किया जाय? वहाँ पहुँच ही नहीं

सकते, वहाँ पहुँचने का प्रयत्न क्यों किया जाय? जहाँ पहुँच ही नहीं सकते वहाँ पहुँचने के लिए दो चार कदम बढ़ाने की भी क्या आवश्यकता है? ऐसा विचार करने से लाभ के बदले हानि ही होगी। आप खाते हैं, पीते हैं, पहनते हैं, ओढ़ते हैं। मगर आपसे अच्छा खाने-पीने पहनने ओढने वाले भी हैं या नहीं? फिर आप क्या यह सब करना छोड़ देते हैं? अक्षर मोती जैसे लिखना चाहिए, मगर वैसा न लिख सकने वाला क्या अक्षर लिखना छोड़ देता है? इसी तरह सीता सी सती बनना अगर है तो क्या सतीत्व ही छोड़ देना उचित है? सीता की समता न करने पर भी सती बनने का उद्योग छोड़ना नहीं चाहिये। निरन्तर अभ्यास करने व सीता का आदर्श सामने रखने से कभी सीता के समान हो जाना सम्भव है।

सती, स्त्रियों में ऊँची तो होती ही है, लेकिन नीच स्त्री कैसी होती है, यह भी कवि ने बताया है। कवि कहता है— खाने पीने और पहनने ओढने के समय 'प्राणनाथ' 'प्राणनाथ' करने वाली और समय पड़ने पर विपरीत आचरण करने वाली स्त्री नीच कहलाती है ऊपर से पतिव्रता का दिखावा करना और भीतर कुछ और रखना नीचता है। इस प्रकार की नीचता का कभी न कभी भण्डाफोड़ हो ही जाता है। कदाचित् न भी हो तो उसे उसके कर्म अपना फल देने से कभी नहीं चूकते। नीच स्त्रियाँ भीतर बाहर कितनी भिन्नता रखती हैं, यह बात एक कहानी द्वारा समझाई जाती है—

३—मायाविनी पत्नी

एक ठाकुर था। वह अपनी स्त्री की अपने मित्रों के सामने बहुत प्रशंसा किया करता था। वह कहा करता था—संसार में सती स्त्रियाँ तो और भी मिल सकती हैं पर मेरी जैसी सती स्त्री दूसरी नहीं है! कभी कभी वह सीता अंजना आदि से अपनी स्त्री की तुलना किया करता और उसे उनसे भी श्रेष्ठ बतलाता। उसके मित्रों में कोई अच्छे समालोचक भी थे।

एक बार एक समालोचक ने कहा—ठाकुर साहब! आप भोले हैं और स्त्री के चरित्र को जानते नहीं हैं। इसी से ऐसा कहते हैं। त्रिया चरित्र को समझ लेना साधारण बात नहीं है।

ठाकुर ने अपना भोलापन नहीं समझा। वह अपनी पत्नी का बखान करता ही रहा। तब उस समालोचक ने कहा—कभी आपने परीक्षा की है या नहीं?

ठाकुर—परीक्षा करने की आवश्यकता ही नहीं है। मेरी स्त्री मुझसे इतना प्रेम करती है, जितना मछली पानी से प्रेम करती है। जैसे मछली पानी के बिना जीवित नहीं रह सकती उसी प्रकार मेरी स्त्री मेरे बिना जीवित नहीं रह सकती।

समालोचक—आपकी बातों से जाहिर होता है कि आप बहुत भोले हैं। आप जब परीक्षा करके देखेंगे तब असार मालूम होगी।

ठाकुर—अच्छी बात है, कहो किस तरह परीक्षा की जाय?

समालोचक—आप अपनी स्त्री से कहिये कि मुझे पाँच-सात दिन के लिये राजकीय काम से बाहर जाना है। यह कह कर आप बाहर चले जाना और फिर छिप कर घर में बैठे रहना। उस समय मालूम होगा कि आपकी स्त्री का आप पर कैसा प्रेम है ? आप अपने पीछे ही अपनी स्त्री की परीक्षा कर सकते हैं। मौजूदगी में नहीं।

ठाकुर ने अपने मित्र की बात मान ली। वह अपनी स्त्री के पास गया। स्त्री से उसने कहा—तुम्हें छोड़ने को जी नहीं चाहता मगर लाचारी है। कुछ दिनों के लिए तुम्हे छोड़कर बाहर जाना पड़ेगा। राजा का हुक्म माने बिना छुटकारा नहीं।

ठकुरानी ने बहुत चिन्ता और आश्चर्यपूर्वक कहा—क्या हुक्म हुआ है ? कौनसा हुक्म मानना पड़ेगा ?

ठाकुर—मुझे ५-७ दिन के लिए बाहर जाना पड़ेगा ?

ठकुरानी—पाँच सात दिन बाप रे ! इतने दिन तुम्हारे बिना कैसे निकलेंगे। मुझे तो भोजन भी नहीं रुचेगा।

ठाकुर—कुछ भी हो जाना तो पड़ेगा ही।

ठकुरानी—इतने दिनों में तो मैं घटपटा कर मर ही जाऊँगी। आप राजा से कहकर किसी दूसरे को अपने बदले नहीं भेज सकते।

ठाकुर—लेकिन ऐसा करना ठीक नहीं होगा। लोग कहेंगे, स्त्री के कहने में लगा है। मैं यह कहूँगा कि मुझसे स्त्री का प्रेम नहीं छूटता ? ऐसा कहना तो बहुत बुरा होगा।

ठकुरानी—हाँ, ऐसा करना तो ठीक नहीं होगा। फिर जो कुछ होगा देखा जाएगा।

इतना कहकर ठकुरानी आँसू बहाने लगी। उसने अपनी दासी से कहा-दासी जा। कुछ खाने-पीने को बनादे जो साथ में ले जाया जा सके।

ठकुरानी की मोह पैदा करने वाली बातें सुनकर ठाकुर सोचने लगा-मेरे ऊपर इसका कितना प्रेम है।

ठाकुर घोड़ी पर सवार होकर कोस दो कोस गया। घोड़ी ठिकाने बाँधकर वह लौट आया और छिपकर घर में बैठ गया।

दिन व्यतीत हो गया। रात हो गई। ठकुरानी ने दासी से कहा—ठाकुर तो गांव चला गया अब मेरे को काम नहीं आता है अतः तू जा पास के अपने खेत से दस-पाँच साँठे ले आ जिससे रात व्यतीत हो। दासी ने सोचा ठीक है मुझे भी हिस्सा मिलेगा। वह गई और गन्ने तोड़ लाई। ठकुरानी गन्ना चूसने लगी।

ठाकुर छिपा छिपा देख रहा था। उसने सोचा—मेरे वियोग के कारण इसे अन्न नहीं भाता! मुझ पर इसका कितना गाढ़ा प्रेम है।

ठकुरानी पहर रात तक गन्ना चूसती रही। गन्ना समाप्त हो जाने पर वह दासी से बोली—अभी रात बहुत है। गन्ना चूसने से भूख लग आई है। थोड़े गरम गरम बाफले तो बना डाल देख जरा घी अच्छा लगाना हो।

दासी ने सोचा—चलो ठीक है मुझे भी मिलेंगे। दासी ने बाफले बनाए और खूब घी मिलाया।

ठकुरानी ने खूब मजे से बाफले खाए। खाने के थोड़ी देर बाद वह कहने लगी—दासी तूने बाफले बनाए तो ठीक, पर मुझे कुछ अच्छे नहीं लगे। यह खाना कुछ भारी भी है। थोड़ी नरम-नरम खिचडी बना डाल।

दासी ने वही किया। खिचड़ी खाकर ठकुरानी बोली—तीन पहर रात तो बीत गई अब एक पहर बाकी है। थोड़ी लाई (धानी) सेक ला उसे चबाते-चबाते रात बिताएँ। दासी लाई भी सेक लाई। ठकुरानी खाने लगी।

ठाकुर बैठा बैठा सब देख सुन रहा था। वह सोचने लगा—पहली रात में यह हाल है तो आगे क्या-क्या नहीं होगा। अब इससे आगे परीक्षा न करना ही अच्छा है। यह सोचकर वह घोड़े के पास लौट आया। घोड़े पर सवार होकर वह घर आ पहुचा।

दासी ने ठकुरानी को समाचार दिया—ठाकुर साहब आ गए हैं। ठकुरानी ने कहा—ठाकुर आ गए अच्छा हुआ।

ठाकुर से वह बोली—अच्छा हुआ, आप पधार गए। मेरी तकदीर अच्छी है। आखिर सच्चा प्रेम अपना प्रभाव दिखलाता ही है।

ठाकुर—तुम्हारी तकदीर अच्छी थी, इसी से मैं आज बच गया। बड़े सकट में पड़ गया था।

ठकुरानी-ऐ, क्या सकट आ पड़ा था ?

ठाकुर—घोड़े के सामने एक भयङ्कर साँप आ गया था। मैं आगे बढ़ता तो साँप मुझे काट खाता। मैं पीछे की ओर भाग गया इसी से बच गया।

ठकुरानी—भाइ! साँप कितना बड़ा था?

ठाकुर—अपने पास के खेत के गन्ने जितना बड़ा था। और भयानक था।

ठकुरानी—वह फन तो नहीं फैलाता था?

ठाकुर—फन का क्या पूछना है! उसका फन तो छाजला जितना बड़ा था।

ठकुरानी—वह दौड़ता भी था?

ठाकुर—हाँ वह दौड़ता क्यों नहीं था वह तो ऐसा दौड़ता था जैसे बिजली में भी।

ठकुरानी—वह फुँकार भी मारता होगा?

ठाकुर—हाँ ऐसे जोर से फुंकार मारता था जैसे कड़ेले में पकी हुई बाती सेकने के समय फूटती है।

ठाकुर की बातें सुनकर ठकुरानी सोचने लगी-यह तो सारी बातें मुझ पर ही घटित होती हैं। फिर भी उसने कहा चलो, मेरे भाग्य अच्छे थे जो आप उस नाग से बचकर आगए।

ठाकुर—ठकुरानी! समझी। मैं उस नाग से बच निकला पर तुम सरीखी नागिन से बच निकलना बहुत कठिन है।

ठकुरानी—क्या मैं नागिन हूँ ? अरे बापरे ! मैं नागिन हो गई ? भगवान जानता है। सब देव जानते हैं। मैंने क्या किया जो मुझे नागिन बनाते हैं।

ठाकुर—मैं नहीं बनाता, तुम स्वयं बन रही हो ! मैं अपने मित्रों के सामने तुम्हारी तारीफ बघारता था, लेकिन सब व्यर्थ हुआ।

ठकुरानी—तो बताते क्यों नहीं मैंने ऐसा क्या किया है ? मैं आपके बिना जी नहीं सकती और आप मुझे लाछन लगा रहे हैं।

ठाकुर—बस रहने दो। मैं अब वह नहीं जो तुम्हारी मीठी २ बातों में आजाऊँ। तुम मुझ से कहा करती थी-तुम्हारे वियोग में मुझे खाना नहीं भाता और रात भर खाने का कचूमर निकाल दिया !

ठकुरानी की पोल खुल गई। साराश यह कि ससार में इस ठकुरानी के समान पति से कपट करने वाली स्त्रियाँ भी हैं और पतिव्रताएँ भी हैं। पति के प्रति निष्कपट भाव से अनन्य प्रेम रखने वाली स्त्रियाँ भी मिल सकती हैं और मायाविनी भी मिल सकती हैं। ससार में अच्छाई भी है और बुराई भी है। प्रश्न यह है कि स्त्री को क्या ग्रहण करना चाहिये ? किसको अपनाने से नारी-जीवन उन्नत और पवित्र बन सकता है ?

आज अगर कोई स्त्री सीता नहीं बन सकती तो भी लक्ष्य तो वही रखना चाहिये। अगर कोई अच्छे अक्षर नहीं लिख सकता तो साधारण ही लिखे। मगर लिखना छोड़ने से

तो काम नहीं चल सकता। यही बात पुरुषों के लिये भी है। पुरुषों के सामने महान्-आत्मा राम का आदर्श है। उन्हें राम के समान उदार गम्भीर मातृ-पितृ सेवक बन्धुप्रेमी और धार्मिक बनाना चाहिये।

सीता में कैसा पतिप्रेम था यह बात इसी से प्रकट हो जाती है कि क्या जैन और क्या ब्राह्मण, सभी ने अपनी शक्ति भर सीता की गुण-गाथा गाई है। मेंहदी का रंग चमड़ी पर चढ़ जाता है और कुछ दिनों तक चमड़ी पर से उतारे नहीं उतरता। मगर सीता का पतिप्रेम इससे भी गहरा था। सीता का प्रेम इतना अंतरंग था कि वह चमड़ी उतारने पर भी नहीं उतर सकता था। वह आजीवन के लिये था। थोड़े दिनों के लिये नहीं।

कवियों ने कहा है कि सीता राम के रंग में रंग गई थी। पर राम में वन जाते समय कौनसा नवीन रंग आया था कि जिसमें सीता रंगी?

जिस समय सीता के स्वयंवर मंडप में सब राजाओं का पराक्रम हार गया था सब राजा निस्तेज हो गए थे और जब राम ने सब राजाओं के सामने अपना पराक्रम दिखाया था उस समय राम के रंग में सीता का रंगना ठीक था। पर उस समय के रंग में स्वार्थ था। इसलिये उस समय के लिये कवि ने यह नहीं कहा कि सीता राम के रंग मे रंग गई। मगर जब कि राम ने सब वस्त्र उतार दिये हैं वल्कल वस्त्र धारण किये हैं फिर सीता राम क रंग में क्यो रंगी? अपने पति के असाधारण त्याग को देखकर और संसार के कल्याण के लिये उन्हें वनवास

करने को उद्यत देखकर सीता के प्रेम में वृद्धि ही हुई। वह राम के लोकोत्तर गुणों पर मुग्ध हो गई। इसी से कवि ने कहा है कि सीता राम के रंग में रंग गई।

उस समय सीता की एक मात्र चिन्ता यही थी कि जैसे प्राणनाथ को वन जाने की अनुमति मिल गई है, वैसे मुझे मिल सकेगी या नहीं ?

वास्तव में वही स्त्री पतिप्रेम में अनुरक्त कहलाती है जो पति के धर्म कार्य आदि सभी मे सहायक होती है। गहने कपडे पाने के लिये तो सभी स्त्रियाँ प्रीति प्रदर्शित करती हैं, मगर संकट के समय, पति के कन्धे से कन्धा भिड़ा कर चलने वाली स्त्रियाँ सराहनीय हैं। गिरते हुए पति को उठाने वाली और उठे हुए पति को आगे बढ़ाने वाली स्त्री ही पतिपरायणा कहलाती है।

रामचन्द्रजी माता कौशल्या से वन जाने के लिये अनुमति माँगने गए, तो कौशल्या अधीर हो उठीं। उन्होंने पहले वन के भयानक स्वरूप का स्मरण किया फिर राम की सुकुमारता का विचार किया। राम की उम्र उस समय सत्ताईस वर्ष की थी। कौशल्या ने सोचा—क्या यह उम्र वन जाने योग्य है ? राजमहल में सुमन-सेज पर सोने वाला सुकुमार राम वन की कँकरीली, पथरीली और कटकमयी भूमि पर कैसे सोएगा ? कहाँ यहाँ के षट्रस भोजन और कहाँ वन के फल ! कैसे वन मे इसका निर्वाह होगा। किस प्रकार सर्दी, गर्मी, और वर्षा का कष्ट सहा जाएगा ?

पर राम ने बड़ी सरलता और मिठास से माता को समझाया—माता ! जो पुत्र माता-पिता की आज्ञा का पालन नहीं करता वह पुत्र नहीं है। और फिर मैं तो कैकेयी माता को एक बार महाराज के युद्ध में प्राण बचाने के महान् काम का पुरस्कार देने जा रहा हूँ। अतएव आप अपनी आँखों के आँसू पोंछ डालो और मुझे विदा दो। इस के समय विषाद मत करो। संसार का ऐसा ही स्वरूप है। संयोग वियोग के अवसर आते ही रहते हैं। इन प्रसंगों के आने पर हम विषाद न करने में ही भलाई है।

राम के यह वचन कौशल्या के मोह को हवा की तरह लगे। उन्होंने सोचा—राम ठीक तो कहता है। जब पुत्र पिता की आज्ञा और धर्म का पालन करने के लिए उद्यत हो रहा हो तब माता के शोक का क्या कारण है? ऐसा करना माता के लिए दूषण है। जीवन के अनुसार पति ने जो वचन दिया है, वह पत्नी ने भी दिया है। फिर मुझे शोक क्यों करना चाहिए?

इस प्रकार विचार कर कौशल्या ने कहा—वत्स ! मैं तुम्हारा कहना समझ गई। मैं आज्ञा देती हूँ कि वन तुम्हारे लिए मंगलमय हो। तुम्हारा मनोरथ पूरा हो।

पुत्र ! अभी तू नाम से राम है अब सच्चा राम बन। अब तेरा नाम सार्थक होगा। तू जगत् के कल्याण में अपना कल्याण और जगत् की उन्नति में अपनी उन्नति मानना। तेरा पथ सिद्ध हो। तू विषम मार्ग पर भी धैर्य से विचलित न हो। प्रसन्न होकर तू वन जा। मेरा आशीर्वाद तेरे साथ है। इस विशाल विश्व का प्रत्येक प्राणी तेरा हो तू सब को अपना

आत्मीय समझ। तभी तू मेरा होगा। लेकिन आजकल क्या होता है —

मात कहे मेरा पूत सपूता, बहिन कहे मेरा भैया।
घर की पत्नी यों कहे, सब से बडा रुपैया॥

बेटा चाहे अनीति करे, अधर्म करे, झूठ-कपट का सेवन करे, अगर वह रुपये ले आता है, तो अच्छा है, नहीं तो नहीं। ऐसा मानने वाले लोग वास्तव में माँ बाप नहीं किन्तु अपनी संतान के शत्रु हैं। संसार में जहाँ पुत्र को पाप करते देखकर प्रसन्न होने वाले माँ बाप मौजूद हैं, वहाँ ऐसे माँ-बाप भी मिल सकते हैं जो पुत्र की धार्मिकता की बात सुनकर प्रसन्न होते हैं। पुत्र जब कहता है—आज मेरे ऊपर ऐसा संकट आ गया था। मैं अपने शत्रु से इस प्रकार बदला ले सकता था पर मैंने फिर भी धर्म नहीं छोड़ा। मैंने अपने शत्रु की इस प्रकार सहायता की, ऐसी बातें सुनकर प्रसन्न होने वाली कितनी माताएँ हैं ?

राम और कौशल्या की बात सीता भी सुन रही थी। वह नीची दृष्टि किये सलज्ज भाव से वहीं खड़ी थी। माता और पुत्र का वार्तालाप सुनकर उसके हृदय में न जाने कैसा तूफान आया होगा! सीता की सासू उसके पति को वन जाने के लिये आशीर्वाद दे रही है, यह देखकर सीता को प्रसन्न होना चाहिये या दुखी ? आज अगर ऐसी बात हो तो वह कहेगी—यह कैसी अभागिनी सासू है जो अपने बेटे को ही वन में भेजने को तैयार हो गई है। मैं यह समझती थी कि यह वन जाने से रोकेगी पर यह तो उलटा आशीर्वाद दे रही है। मगर सीता ने ऐसा नहीं सोचा। सीता में कुछ विशेषताएँ थीं और उन्हीं विशेषताओं के

कारण राम से भी पहले उसका नाम लिया जाता है। पर आज सीता के आदर्शों को हृदय में उतारने वाली स्त्रियाँ मिलेंगी ? फिर भी भारतवर्ष का सौभाग्य है कि यहाँ के लोग सीता के चरित्र को बुरा नहीं समझते। बुरे से बुरा आचरण करने वाली नारी भी सीता के चरित्र को अच्छा समझती है।

सीता मन ही मन कहती है—आज प्राणनाथ वन को जा रहे हैं। क्या मेरा भी इतना पुण्य है कि मैं भी उनके चरणों में आश्रय पा सकूँ ?

पति को प्राणनाथ कहने वाली स्त्रियाँ तो बहुत मिल सकती हैं मगर इसका मर्म सीता जैसी विरली ही जानती है। पति का वन जाना सीता के लिये सुख की बात थी या दुःख की ? यों तो पत्नी को छोड़कर पति का जाना पत्नी के लिये दुःख की बात ही है पर सीता को दुःख का अनुभव नहीं हो रहा है। उसकी एक मात्र चिन्ता यह है कि क्या मेरा इतना पुण्य है कि मैं भी पतिदेव की सेवा में रह सकूँ ? सीता के पास विचार की ऐसी सुन्दर संपत्ति थी। यह संपत्ति सभी को सुलभ है। जो चाहे, उसे अपना सकता है। जो ऐसा करेगा वही सुकृतशाली होगा।

सीता सोचती है—मेरे स्वामीदेव तो राज्य त्याग कर वन जा रहे हैं। वे अपनी माता की इच्छा और पिता की प्रतिज्ञा पूरी करने वन जाते हैं लेकिन हे सीता ! तेरा भी कुछ सुकृत है या नहीं ? क्या तेरा इतना सुकृत है कि तेरा और प्राणनाथ का साथ हो सके ? तू ने प्राणनाथ के गले में वरमाला डाली है पति के साथ विवाह किया है उनके चरणों में अपने को अर्पित कर

दिया है, इतने दिन उनके साथ संसार का सुख भोगा है, तो तेरा ऐसा भाग्य नहीं कि वन में जाकर तू उनका साथ दे सके।

सीता सोचती है—मैं राम के साथ भोग विलास करने के लिये नहीं ब्याही गई हूँ। मेरा विवाह राम के धर्म के साथ हुआ है। ऐसी दशा में क्या राम अकेले ही वन जाकर धर्म करेंगे? क्या मैं उस धर्म में सहयोग देने से वंचित रहूँगी? अगर मैं शरीर सहित प्राणनाथ के साथ न रह सकी तो मेरे प्राण अवश्य ही उनके साथ रहेंगे। मुझ में इतना साहस है कि अपने प्राणों को शरीर से अलग कर सकती हूँ। अगर राज महल के कारागार में मुझे कैद किया गया तो निश्चित रूप से मेरा शरीर निर्जीव ही कैद रहेगा। प्राण तो प्राणनाथ के पास उड़कर पहुँचे बिना नहीं रहेंगे।

प्राणनाथ को वन जाने की अनुमति मिल गई है। मुझे अभी प्राप्त करनी होगी। सासूजी की अनुमति लिये बिना मेरा जाना उचित नहीं है। सासूजी से अनुमति लूँगी। जब उन्होंने पुत्र को आज्ञा दी है तो पुत्रवधू को भी देंगी ही।

सीता सोचती है—प्राणनाथ का वन जाना मेरे लिये गौरव की बात है। उनके विचार इतने ऊँचे और उनकी भावना इतनी पवित्र है, इससे प्रगट है कि उनमें परमात्मिक गुण प्रगट हो रहे हैं। मैंने विवाह के समय इन्हें दूसरे रूप में देखा था। आज दूसरे ही रूप में देख रही हूँ।

रामचन्द्रजी ने कौशल्या को प्रणाम किया और विदा लेने लगे। तब पास ही में खड़ी सीता भी कौशल्या के पैरों पर

गिर पड़ी। सीता को पैरों के पास गिरी देखकर कौशल्या समझ गई कि सीता भी इस पिंजरे से बाहर जाना चाहती है जिसे राम ने तोड़ा है।

फिर कौशल्या ने सीता से कहा—बहू, तुम चंचल क्यों हो?

सीता—माता! ऐसे समय चंचलता होना स्वाभाविक ही है। आपके चरणों की सेवा करने की मेरी बड़ी साध थी। वह मन की मन में ही रह गई। कौन जाने अब कब आपके दर्शन होंगे!

कौशल्या—क्या तुम भी वन जाने का मनोरथ कर रही हो?

सीता—हाँ माँ! यही निश्चय है। जिसके पीछे यहाँ आई हूँ, जब वही वन जा रहे हैं तो मैं किस प्रकार यहाँ रहूँगी? जब पति वन में हो तो पत्नी राजमहल में रहकर अर्धांगिनी कैसे कहला सकती है?

सीता की बात से कौशल्या की आँखें भर आईं। राम तो ठीक पर यह राजकुमारी सीता वन में कैसे रहेगी? फिर सीता सरीखी गुणवती बहू के वियोग से सासू को शोक होना स्वाभाविक ही था। कौशल्या ने सीता का हाथ पकड़कर अपनी ओर खींचकर उसे बालक की तरह अपनी गोद में ले लिया। अपनी आँखों से वह सीता पर इस तरह अश्रुपात करने लगी जैसे उसका अभिषेक कर रही हो। थोड़ी देर बाद कौशल्या ने कहा—पुत्री, क्या तू भी मुझे छोड़ जायगी? तू भी मुझे अपना वियोग देगी? राम को तो अपना धर्म पालन करना है, उन्हें अपने पिता के वचन की रक्षा करनी है इसलिए वन को जाते हैं। पर तुम क्यों जाती हो? तुम पर क्या भार है?

सीता इस प्रश्न का क्या उत्तर देती ? वह यही उत्तर दे सकती थी कि मैं राम के रंग में रंगी हूँ। पति जिस ऋण को चुकाने के लिए वन जाते हैं, क्या वह अकेले उन्हीं पर है ? नहीं वह मुझ पर भी है। जब मैं उनकी अर्धाङ्गिनी हूँ तो पति पर चढा ऋण पत्नी पर भी है। पर सीता ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह मौन रही।

कौशल्या समझा बुझाकर सीता का राम-रंग उतारना चाहती है पर वह सीता जो ठहरी। रंग उतर जाता तो सीता ही नहीं रहती। दूसरी कोई स्त्री होती तो इस अवसर से लाभ उठाती। वह कहती-मैं क्या करूँ ? मैं तो जाने को तैयार थी मगर सासूजी नहीं जाने देतीं। सासू की बात मानना भी तो बहू का धर्म है। पर सीता ऐसी स्त्रियों में नहीं थी।

कौशल्या ने सीता से कहा बहू, विदेश प्रिय नहीं है। प्रवास अत्यन्त कष्टकर होता है। फिर वन का प्रवास तो और भी कष्टकर है। तू किसी दिन पैदल नहीं चली। अब काँटों से परिपूर्ण पथ पर तू कैसे चल सकेगी ? तेरे सुकुमार पैर कंकरों और काँटों का आघात कैसे सह सकेंगे ?

आप सीता को कोई गुड़िया न समझें, जो चार कदम भी पैदल नहीं चल सकती। उसके चरित पर विचार करने से स्पष्ट मालूम हो जाता है कि वह सुख के समय पति से पीछे और दुःख में पति से आगे रही थीं। अतएव उसे कायर नहीं समझना चाहिये।

सब ही बाजे लश्करी
सब ही लश्कर जाय।
शैल धमाका जो सहे,
सो जागीरी खाय॥

गलियारां फिरता फिरे
बाँध ढाल तलवार।
शूरा तब ही जानिये।
रण मांचे संकर॥

स्त्रियाँ कहती हैं–हमें कायर तभी समझना जब हम युद्ध युद्ध में आगे न रहें। पति के आगे रहने वाली स्त्रियाँ भारत में कम नहीं हुई हैं। सलूम्बर की रानी ने तो पति से पहिले ही अपना सिर दे दिया था। उसने कहा था—आपको मेरे शरीर पर मोह है तो पहले मेरा ही सिर ले लो। जो वीरांगना हँसती हँसती पति के लिये अपना सिर दे सकती है उसे कौन कायर कह सकता है? वीरांगना कहती है—हम सुख के समय ही कायर और सुकुमार हैं। सुख के समय ही हम सवारी पर बैठ कर चलती हैं। किन्तु दुःख के समय हम पति से आगे रहती हैं। पति जो कष्ट उठाता है, उससे अधिक कष्ट उठाने के लिये तैयार रहती हैं।

कौशल्या सीता को कोमलांगी समझ कर वन जाने से रोकना चाहती है। वह कहती है–हे राम, मैं तुमसे और सीता से कहती हूँ कि सीता वन जाने योग्य नहीं है। मैंने सीता को अमृत की जड़ी की तरह पाला है। यह वन रूपी विषकंटक में जाने योग्य नहीं है। यह राजा जनक के घर पलकर मेरे घर में आई है। जिसने जमीन पर पैर तक नहीं रखा वह वन में पैदल कैसे चलेगी? यह निशाचर-किशोरी अर्थात् भील की लड़की नहीं है और न तापस-नारी है, जो वन में रह सके। कमल का कीड़ा पत्थर में नहीं रह सकता। यह मेरी नयन-पुतली है, जो तनिक भी आघात नहीं सह सकती।

कौशल्या का कथन चाहे ममता के स्रोत से निकला हो मगर सीता के लिए वह परीक्षा है। अब सीता के राम-रस की परीक्षा हो रही है।

कौशल्या कहती हैं—जगल बड़ा दुर्गम प्रदेश है। यहाँ थोड़ी दूर जाने पर भी जल की झारी वाली दासी साथ रहती है पर वहाँ दासी कहाँ? वहाँ तो प्यास लगने पर पानी भी मिलना कठिन है। जब गरम हवा चलेगी तब मुँह सूख जायगा ऊपर से धूप भी तेज लगेगी। उस समय पानी कहाँ सुलभ होगा? जगल में पड़ाव नहीं है कि पानी मिल सके। इस प्रकार तू प्यास के मारे मरेगी और राम की परेशानी बढ़ जाएगी। यहाँ तुझे मेवा मिष्ठान्न मिलता है, वहाँ कडुवे-खट्टे फल भी सुलभ नहीं होंगे। सीता, तू भूख-प्यास आदि का यह भयकर कष्ट सहन कर सकेगी?

वहाँ न महल है, न गरम कपडे हैं और न सिगड़ी का ताप है। चलते-चलते जहाँ रात हो गई वहीं बसेरा करना पड़ता है। यही नहीं, जगल में बाघ, चीता, रीछ, सिंह आदि हिंसक जानवर भी होते हैं। तू उनके भयकर शब्दों को कैसे सुन सकेगी? तूने कभी कठोर शब्द तो सुना ही नहीं है।

सीता सास की बाते सुनकर तनिक भी विचलित नहीं हुई। उसने सोचा-यह तो मेरे राम रस की परीक्षा हो रही है। अगर इसमें मैं उत्तीर्ण हो गई तो मेरा मनोरथ पूरा हो जायगा।

सीता के शरीर पर हाथ फेरते हुए कौशल्या कहने लगी-देखती नहीं, तेरा शरीर कितना कोमल है। तू बचपन से कोमल

शय्या पर सोई है। लेकिन वन में शय्या कहाँ ? धरती पर सोने में तुम्हें कितना कष्ट होगा ? उस समय राम के लिए तू भार हो जाएगी। परदेश में स्त्रियाँ पुरुष के लिए भार रूप हो जाती हैं। फिर यह तो वन का प्रवास है। स्त्रियाँ घर में ही शोभा देती हैं। आंगन में मडकना उनके बूते का नहीं है।

माता कौशल्या की बात का राम ने भी समर्थन किया। वह मुस्कराते हुए बोले—माता आप ठीक कहती हैं वास्तव में जानकी वन जाने योग्य नहीं है।

माता के सामने जानकी के विषय में कुछ कहते हुए राम लज्जित तो हुए लेकिन आपत्तिकाल में सर्वथा चुप भी नहीं रह सकते थे। माता पिता की मर्यादा की रक्षा करना पुत्र का धर्म है। किन्तु विकट प्रसंग पर उस मर्यादा को कुछ संकीर्ण भी करना पड़ता है।

राम सीता से कहने लगे—सुकुमारी ! वैसे तो मैं तुम्हें शिक्षा नहीं करना चाहता पर मैं आवश्यक है। अतएव मैं कहता हूँ कि तुम्हें घर पर रह कर ही माता की सेवा करनी चाहिए। मैंने तुम्हें जितना समझ पाया है उसके आधार पर कह सकता हूँ कि तुम शक्ति और सरस्वती हो। मैं तुम्हारी शक्ति को जानता हूँ। इसलिये तुम घर पर रहो। मेरे वियोग के कारण जब माता दुखी हो तब तुम उन्हें सान्त्वना देना। मुझ पर पिता का ऋण है इसलिये मेरा वन जाना आवश्यक है। तुम्हारे ऊपर कोई ऋण नहीं अतएव तुम्हारा जाना आवश्यक नहीं। इसके अतिरिक्त मेरी इच्छा भी यही है कि तुम घर पर रहोगी तो स्वयं सुखी रहोगी और माता भी सुखी रह सकेंगी। अगर तुम मेरी

सेवा के लिये वन जाना चाहती हो तो माता की सेवा होने पर मैं अपनी सेवा मान लूँगा। इतने पर भी हठ करोगी तो कष्ट उठाना पड़ेगा। हठ करने वाले को सदा कष्ट ही भोगना पड़ता है। इसलिये तुम मेरी और माता की बात मान जाओ। वनवास कोई साधारण बात नहीं है। वन में बड़े २ कष्ट हैं। हमारा शरीर तो वज्र के समान है। वैरियों के सामने युद्ध करके हम मजबूत हो गए हैं। लेकिन तुमने घर के बाहर कभी पैर भी रखा है? अगर नहीं तो मेरी समता मत करो। वन में भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि के दुख अभी माता बतला चुकी हैं। मैं अपने साथ एक पैसा भी नहीं ले जा रहा हूँ कि उससे कोई प्रबन्ध कर सकूँगा। राजा का कोई काम न करना फिर भी राज्य सम्पत्ति का उपयोग करना मैं उचित नहीं समझता। इस स्थिति में तुम्हारा चलना सुविधाजनक न होगा।

मैंने वल्कल-वस्त्र पहने हैं। वन जाकर मैं अपनी जीवन की रक्षा के लिए सात्विक साधन ही काम में लूँगा। मैं वन-फल खाकर भूमि पर सोऊँगा। वृक्ष की छाया ही मेरा घर होगी या कोई पर्णकुटी बनाकर कहीं रहूँगा। तुम यह सब कष्ट सहन नहीं कर सकोगी।

राम बड़ी दुविधा में पड़े हैं। एक ओर सीता के प्रति ममता के कारण उसके कष्टों की कल्पना करके, और माता को अकेली न छोड़ जाने के उद्देश्य से वह सीता को साथ नहीं ले जाना चाहते, दूसरी ओर सीता की पति परायणता देख, वियोग उसके लिए असह्य होगा, यह सोचकर वे उसे छोड़ जाना भी नहीं चाहते। फिर भी वे यह चाहते हैं कि सीता वन के कष्टों के

विषय में धोखे में न रहें। इसीलिए सारे कष्टों को उन्होंने सीता के सामने रख दिया।

राम और कौशल्या ने सीता को घर रहने के लिए समझाया। उनकी बातें सुनकर सीता सोचने लगी—यह एक विकट प्रसंग है। अगर मैं इस समय लज्जा से चुप रह जाऊँगी और घर में ही बैठी रहूँगी तो यह मेरे लिये स्त्रीधर्म का नाश करना होगा। इस प्रकार विचार कर और की लज्जा करके सीता ने राम से कहा—प्रभो! आपने और माताजी ने वन के कष्टों के विषय में जो कुछ कहा है सब ठीक है। आपने वन के कष्ट बतला दिये सो भी अच्छा किया। लेकिन मैं हौंस की मारी वन नहीं जा रही हूँ। आप विश्वास कीजिये कि मैं वन के कष्टों से भयभीत नहीं होती। बल्कि यह सुनकर तो वन के प्रति मेरी उत्सुकता और बढ़ती जा रही है। मुझे अपने साहस और धैर्य की परीक्षा देनी है और मैं उस परीक्षा में अवश्य सफल होऊँगी।

मैं सुख में तो आपके साथ रही हूँ तो क्या दुःख के समय किनारा काट जाऊँ? सुख के साथी को दुःख में भी साथी होना चाहिये। जो ऐसा नहीं करता वह सच्चा साथी नहीं स्वार्थी है। पत्नी पति के सुख दुःख की संगिनी है। आप मुझे वन के कष्ट बताकर वन जाने से रोक रहे हैं, मगर क्या मैं आपके सुख की ही साथिन हूँ? क्या मुझे स्वार्थपरायण बनना चाहिये? नहीं, मैं दुःख में आपसे आगे रहने वाली हूँ।

राम का ऐसा पक्का रंग सीता पर चढ़ा था कि स्वयं राम के छुड़ाए भी न छूटा। राम सीता को वन जाने से रोकना चाहते थे पर सीता नहीं रुकी। वास्तव में राम रंग वह है जो राम के धोने से भी नहीं धुलता।

सीता कहती हैं—प्राणनाथ ! जान पड़ता है आज आप मेरी ममता में पड़ गए हैं। मेरे मोह में पड़ कर आपने जो कहा है उसका मतलब यह है कि मैं अपने धर्म कर्म का और अपनी विशेषता का परित्याग कर दूँ। यद्यपि आपके वचन शीतल और मधुर हैं लेकिन चकोरी के लिये चन्द्रमा की किरणें भी दाह उत्पन्न करती हैं। वह तो जल से ही प्रसन्न रहती है। स्त्री का सर्वस्व पति है। पति ही स्त्री की गति है। सुख-दुख में समान भाव से पति का अनुसरण करना ही पतिव्रता का कर्तव्य है। मैं इसी कर्तव्य का पालन करना चाहती हूँ। अगर मैं अपने कर्तव्य से च्युत हो गई तो घृणा के साथ लोग मुझे स्मरण करेंगे। इसमें मेरा गौरव नष्ट हो जाएगा। इसके अतिरिक्त आप जिस गौरव-पूर्ण काम को लेकर और जिस महान् उद्देश्य की सिद्धि के लिये वन गमन कर रहे हैं क्या उसमें मुझे शरीक नहीं करेंगे ? आप अकेले ही रहेंगे। ऐसा मत कीजिये। मुझे भी उसका थोड़ा सा भाग दीजिये। अगर मुझे शामिल नहीं करते तो मुझे अर्धाङ्गिनी कहने का क्या अर्थ है ? हाँ, अगर वन जाना अपमान की बात हो तो भले ही मुझे मत ले चलिये। अगर गौरव की बात है तो मुझे घर ही में रहने की सलाह क्यों देते हैं ! आपका आधा अंग घर में ही रह जाएगा तो आप विजय कैसे ला सकेंगे ? आधे अंग से किसी को विजय नहीं मिलती।

आप वन में मुझे भय ही भय बतलाते हैं मगर आप के साथ तो मुझे वन में जय ही जय दिखलाई देती है। कदाचित् भय भी वहाँ होगा मगर भय पर विजय प्राप्त कर लेना कोई कठिन बात नहीं और ऐसी विजय में ही सुख का वास है।

कदाचित् आप सोचते होंगे कि सीता में आत्मबल नहीं है इस कारण वन वसके लिये कष्टकर होगा। कदाचित् भय वहाँ होगा मगर अवसर मिलने पर मैं अपना बल दिखलाऊँगी। स्त्री के लिये जितने भी व्रत नियम हैं और धर्म हैं उनमें से किसी में भी चूक जाऊँ तो मैं जनक की पुत्री नहीं! अधिक क्या कहूँ बस इतना ही निवेदन करना चाहती हूँ कि मैं आपकी अर्धांगिनी हूँ सुख-दुख की साथिन हूँ। मुझे अलग मत कीजिये। वन के जो कष्ट आप सहेंगे मैं भी सह लूँगी। कोमलता कठोरता के सहारे और कठोरता कोमलता के सहारे रहती है। डाली के बिना पत्तो और पत्ती के बिना डाली नहीं रह सकती। दोनों का अस्तित्व सापेक्ष है। मैं माता जी से भी यही प्रार्थना करती हूँ कि वे मुझे निस्संकोच आज्ञा दें। स्त्री के हृदय को स्त्री अच्छी और खूब समझ सकती है। इससे ज्यादा निवेदन करने की आवश्यकता ही नहीं है।

सीता सोचती है—जहाँ पति हैं वहाँ सभी सुख हैं। जहाँ पति नहीं वहाँ दुःख ही दुःख है। पति स्वयं सुखमय हैं। उनके वियोग में सुख कहाँ?

सीता फिर बोली—आप वन में संताप कहते हैं पर वहाँ पाप तो नहीं है? जहाँ पाप न हो वह संताप संताप ही नहीं है, वह तो आत्मशुद्धि करने वाला तप है। आप भूख प्यास का कष्ट बतलाते हैं लेकिन स्त्रियाँ इन कष्टों को कष्ट नहीं गिनतीं। अगर हम भूख प्यास से डरतीं तो पुरुषों से अधिक उपवास न करतीं। भूख सहने में स्त्रियाँ पक्की होती हैं।

सीता की बात सुनकर कौशल्या सोचने लगी—सीता साधारण स्त्री नहीं है। इसका तेज निराला है। यह साक्षात्

शक्ति है। राम और सीता मिलकर जगत् का कल्याण करेंगे। जगत् में नया आदर्श रखने के लिए इनका जन्म हुआ है। अतएव सीता को राम के साथ जाने की अनुमति देना ही ठीक है।

सीता की बातों से प्रभावित होकर कौशल्या ने सीता को आशीर्वाद दिया-बेटी, जब तक गंगा और यमुना की धारा बहती रहे तब तक तेरा सौभाग्य अखण्ड रहे। मैंने समझ लिया कि तू मेरी ही नहीं पर सारे संसार की है। तेरा चरित्र देखकर संसार की स्त्रियाँ सती बनेंगी और इस प्रकार तेरा सौभाग्य अखण्ड रहेगा। सीते! तेरे लिये राजभवन और गहन वन समान हों। तू वन में भी मंगल से पूरित हो।

सीता सास का आशीर्वाद पाकर कितनी प्रसन्न हुई, यह कहना कठिन है। आशीर्वाद देते समय कौशल्या के मन की क्या अवस्था हुई होगी यह तो कौशल्या ही जानती है या सर्वज्ञ भगवान् जानते हैं। राम और सीता कौशल्या के पैरों पर गिरे कौशल्या ने अपने हृदय के अनमोल मोती उनपर बिखेर दिये और विदा दी।

सीता की भावना कितनी पवित्र और उच्च श्रेणी की थी? सीता सच्ची पतिव्रता थी। वह पति की प्रतिज्ञा को अपनी ही प्रतिज्ञा समझती थी। उसने अपने व्यक्तित्व को राम के साथ मिला दिया। सीता का गुण थोड़े अंशों में भी जो स्त्री ग्रहण करेगी उसे किसी चीज के न मिलने का या मिली हुई चीज के चले जाने का कभी भी दुःख नहीं होगा।

स्त्रियों को अगर सीता का चरित्र प्रिय लगेगा तो वे पहिले पतिप्रेम के जल में स्नान करेंगी। पतिप्रेम के जल में किस प्रकार स्नान किया जाता है, यह बात सीता के चरित्र से समझ

में आ सकती है। राम से पहिले सीता का नाम लिया जाता है। सीता ने यदि पतिप्रेम-जल में स्नान न किया होता और राज भवन में रह जाती तो उसका नाम आदर से कौन लेता?

सीता ने अपने असाधारण त्यागमय चरित्र के द्वारा की समाज के सामने ऐसा उज्ज्वलता का आदर्श उपस्थित कर दिया जो युग-युग में नारी का पथ प्रदर्शन करेगा। पथभ्रष्ट स्त्रियों के लिए यह महान् आदर्श पथ काम का सिद्ध होगा।

एक आजकल की स्त्रियाँ हैं कि जिन्हें वन का नाम लेते ही बुखार चढ़ आता है। सीता ने वन जाकर स्त्रियों को अबला समझने वाले पुरुषों को एक प्रकार से चुनौती दी थी। उसने सिद्ध किया है कि स्त्रियाँ शक्ति हैं। सीता के द्वारा प्रदर्शित पथ पर स्त्रियों को चलना चाहिये।

सीता का पथ कौनसा है? कैसा है? इसका उत्तर देना कठिन है। पूरी तरह उस पथ का वर्णन नहीं किया जा सकता। एक कवि ने कहा है—

सैना आपरो बनाय
पथा मोक्ष को धरा।
सैली आपरी सुधारा
पग लागरी धरा ॥ सैना ॥
पति-प्रेम रा पवित्र
नीर मांय धोयनां
धीर साहस रा बलाय रा
सुपेय पैर ला।
मोहरी राखरी नियम
धरे शाम आदरां ॥ सैना ॥

सीता के रोम-रोम में पुनीत पतिभक्ति भरी हुई थी। पतिव्रता स्त्री के नेत्रों में वह शक्ति होती है कि अगर वह किसी को पुत्र की तरह प्रेम की दृष्टि से देख ले तो उसका शरीर वज्रमय हो जाय और यदि क्रोध की दृष्टि से देख ले तो वह भस्म हो जाय।

जो स्त्री अपने सतीत्व को हीरे से बढकर समझती है उसकी आँखों में तेज का ऐसा प्रकृष्ट पुञ्ज विद्यमान रहता है कि उसका सामना होते ही पापी की निर्बल आत्मा काँपने लगती है।

पति-पत्नी का मन अगर निष्कपट हो तो एक को दूसरे के मन की बात जान लेना भी कठिन नहीं है।

सीता की भाँति आज की बहिनें सम्पूर्ण विश्व को अपना समझती हैं? राज्य तो बड़ी चीज है पर आजकल तो क्या तुच्छ से तुच्छ वस्तुओं को लेकर ही देवरानी जिठानी में महाभारत नहीं मच जाता? भाई भाई के बीच कलह की बेल नहीं बो देतीं? क्या जमाना था वह कि जब सीता इस देश में उत्पन्न हुई थी। सीता जैसी विचारशील सती के प्रताप से यह देश धन्य हो गया।

कुलीन स्त्रियाँ, जहाँ तक सम्भव होता है, भाई २ में विरोध उत्पन्न नहीं होने देतीं। यही नहीं वरन् किसी अन्य कारण से उत्पन्न हुए विरोध को भी शान्त करने का प्रयत्न करती हैं। पतिव्रता नारी अपने पति को शरीर से भी अधिक मानती है। पति के प्रेम से प्रेरित होकर तो वह अपने शरीर की हड्डी चमड़ी भी खो देती है लेकिन पति का प्रेम नहीं खोती।

कोई महिला कुचाल चलते हुए भी पतिव्रता बनने का ढोंग कर सकती है और अपने पति की आँखों में धूल झोंक सकती

है पर यह चालाकी ईश्वर के सामने नहीं चल सकती। पति हृदय की बात नहीं जानता मगर ईश्वर मनुष्य के हृदय को भी जानता है। वह सवज्ञ है, सवदर्शी है। जो उसको धोखा देने की कोशिश करेगी वह स्वयं धोखे की शिकार होगी।

परम पिता के पास अच्छी या बुरी नारियों का इतिहास जैसा का तैसा पहुँच जाता है। सती स्त्रियों के हृदयोद्गार कितनी शीघ्रता से ईश्वर के पास पहुँचे हैं इसके उदाहरण भी कम नहीं।

सीताहरण से रावण के वंश का नाश हो गया। चित्तौड़ की राजपूत-सतियों की हृदयाग्नि ने मुगल वंश का इस तरह नाश किया कि आज उनके नाम पर रोने वाला भी नहीं है।

द्रौपदी चीर-हरण के कारण ही कौरववंश का नाश हुआ। द्रौपदी का चरित्र जिसे विस्तार से देखना हो उसे महाभारत में देखना चाहिए। सीता का पतिव्रत कुछ कम नहीं। उसका सतीत्व बड़ा ही आश्चर्यजनक है पर द्रौपदी भी कुछ कम नहीं थी वह एक प्रखर नारी थी। सीता सौम्यमूर्ति थी। द्रौपदी शान्ति का अवतार थी पर भीष्म पितामह आदि महापुरुषों के सामने भी भाषण देने वाली थी। वह वीरांगना काम पड़ने पर युद्धशिक्षा देने से भी नहीं चूकती थी।

चंदनबाला को ही देखिये। राजकुमारी होकर बिक जाना अपने ऊपर आरोप लगने देना सिर मुंडवाना प्रहार सहन करना क्या साधारण बात है? जिस पर उसे हथकड़ी बेड़ी डाली गई और वह भौंयरे में बन्द कर दी गई। फिर भी धन्य है

चन्दनबाला महासती को, जो मुस्कराती ही रही और अपना मन मैला न होने दिया।

सचमुच स्त्रियाँ वह देवी हैं, जिनके सामने सब लोग सिर नमाते हैं और आज ऐसी ही देवियों, वीर माताओं, वीर पत्नियों और वीर बहिनों की आवश्यकता है। लेकिन यह भी दृढ सत्य है कि स्त्रियों का निरादर करके ऐसी माताएँ और बहिनें नहीं बना सकते बल्कि उनका आदर करके ही बना सकते हैं।

पति और पत्नी का दर्जा बराबर है। तथापि दोनों में जो अधिक बुद्धिमान् हो उसकी आज्ञा कम बुद्धिमान् को मानना चाहिये। ऐसा करने से ही गृहस्थी में सुख शांति रह सकती है। क्यों कि पति अगर स्वामी है तो स्त्री क्या स्वामिनी नहीं? पति अगर मालिक कहलाता है तो पत्नी क्या मालकिन नहीं कहलाती?

इसी तरह स्त्रियों के लिये अगर पतिव्रत धर्म है तो पुरुषों के लिये पत्नीव्रत धर्म क्यों नहीं? धनवान् लोग अपने जीवन का उद्देश्य भोगविलास करना समझते हैं। स्त्री मर जाए तो भले मर जाए। पैसे के बल पर वे दूसरी शादी कर लेंगे। इस प्रकार एक पत्नीव्रत की भावना न होने से अनेक स्त्रियाँ पुरुषों की लोलुपता की शिकार होती हैं।

आज के पति धर्मपत्नी को भूल रहे हैं। इसी कारण संसार में दाम्पत्य जीवन दुखपूर्ण दिखाई देता है। आज साधारण तौर पर यह रिवाज चल पड़ा है कि पति एक पत्नी के मर जाने पर दूसरी और दूसरी के मर जाने पर तीसरी ब्याह लाता है। मगर यह अन्याय है। पुरुष अपनी स्त्री को तो

पतिव्रता देखना चाहते हैं पर स्वयं पत्नीव्रतधारी नहीं बनना चाहते। पुरुषों ने अपनी सुख-सुविधा के अनुकूल नियम बना लिये हैं। परन्तु शास्त्रकार स्त्री और पुरुष के बीच किसी प्रकार का अनुचित भेद न करते हुए, समान रूप से पुरुष को पत्नीव्रत और स्त्री को पतिव्रत पालने का आदेश देते हैं शास्त्रकार सर्वप्रथम मार्ग के रूप में ब्रह्मचर्य पालन का आदेश देते हैं। अगर पूर्ण ब्रह्मचर्य पालने की शक्ति न हो तो पुरुष को पत्नीव्रत और पत्नी को पतिव्रत पालने को कहते हैं। लेकिन पुरुष अपने आप को स्वपत्नी सन्तोषव्रत से मुक्त समझते हैं। और सिर्फ पत्नी से स्वपतिसंतोषव्रत का पालन कराना चाहते हैं। व यह नहीं सोचते कि जब हम अपने व्रत का पालन नहीं करते तो स्त्री से यह आशा कैसे रख सकते हैं कि वह अपने व्रत का पालन करे ही! अतएव पुरुषों और स्त्रियों के लिये उचित मार्ग यही है कि दोनों अपने-अपने व्रत का पालन करें। जो व्रत का भलीभाँति पालन करता है उसका कल्याण अवश्य होता है।

वे मनुष्य वास्तव में धन्य हैं जो सौन्दर्यमूर्ति नवयौवना स्त्री को देखकर भी विचलित नहीं होते किन्तु अपने निज स्वरूप में स्थित रहते हैं। उनको कवि ने तो भगवान् की उपमा दे दी है। किन्तु विचार करते हुए यह उपमा अतिशयोक्ति नहीं है। क्योंकि इन्द्र चन्द्र नागेन्द्र और नरेन्द्र भी जिसकी आँख के इशारे पर नाचते रहते हैं उस मनोहरा स्त्री को देखकर जो क्षुब्ध नहीं होते वे मनुष्य तो क्या देवों के भी पूज्य हैं और संसार में ऐसे महापुरुष तो बहुत ही कम हैं। अधन्य पुरुष पत्नी होते हुए भी किसी रूपवती को देखकर और उसे स्वाधीन करने के लिए आकाश पाताल एक कर डालते हैं और उचित अनुचित

सभी उपाय काम में लेते हैं। न बोलने जैसे वचन बोलते हैं और स्त्री के दास होकर रहना भी स्वीकार करते हुए नहीं सकुचाते। कामान्ध मनुष्य यह नहीं सोचता कि मैं कौन हूँ। किस कुल में उत्पन्न हुआ हूँ। मेरी व मेरे खानदान की प्रतिष्ठा कैसी है ? और मैं यह क्या कर रहा हूँ ? मैंने जब विवाह किया था तब अपनी पत्नी को मैंने क्या २ अधिकार दिये थे ? उसे क्या २ विश्वास दिया था और अब उसका हक, उसका अधिकार दूसरी को देने का मुझे क्या हक है ?

वह उचित और अनुचित रीति से उसे लालच और विश्वास देकर अपनी तरफ रुजू करने की चेष्टा करता है। हर तरह लाचारी आजीजी भी करता है परन्तु जो चतुर स्त्री होती है वह उसके दम्भ में नहीं आती और अपने शील धर्म एवं पतिव्रत धर्म को ही आदर्श मान कर उन लालच भरे वचनों को भी ठुकरा देती है। किन्तु जो मूर्ख स्त्रियाँ होती हैं वे झासे में आकर भ्रष्ट हो जाती हैं। वे न घर की रहती हैं, न घाट की।

४—पतिव्रता का आदर्श

गुर्जर सम्राट् महाराजा सिद्धराज ने भी एक मजदूरनी के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर क्या २ चेष्टाएँ की सो तो 'सती जसमा' पढ़ने से ही मालूम होगा। उसके चरित्र की कथाएँ आज भी गाने बन बन कर गुजरात भर में घर-घर गाई जा रही हैं।

गुजरात के पाटन नगर के महाराज सिद्धराज सोलंकी ने एक तालाब खुदवाना आरम्भ किया था। उसकी खुदाई के लिये

को मजदूर थाए थे व जाति के 'ओड' थे। उन्हीं में एक मजदूर टीकम नाम का था जिसकी पत्नी जसमा थी।

जसमा युवती थी और साथ साथ अत्यन्त सौन्दर्यमयी भी थी। तालाब के बाँध पर बार बार मिट्टी ले जाकर डालती हुई जसमा पर एक दिन महाराज सिद्धराज की नजर पड़ गई और उसे देखते ही मायापाश से चेष्टा करके वे उसे अपनाने की कोशिश करने लगे।

तालाब का काम चालू हुए करीब पन्द्रह दिन हो चुके थे। महाराज को अब भी जसमा याद आती वे तालाब पर पहुँच जाते। इन पन्द्रह दिनों में एक दिन भी ऐसा नहीं गया कि जिस दिन महाराज तालाब पर न पहुँचे हों।

एक दिन महाराज कुछ और जल्दी आगए। यद्यपि मध्याह्न बीत चुका था परन्तु समय बहुत था। धूप भी कड़ाके की पड़ रही थी। ओड लोग खुदाई कर रहे थे और उनकी स्त्रियाँ टोकरियों में मिट्टी भर भर कर फेंक रही थीं। महाराज को ऐसी धूप में आया देख सभी को आश्चर्य हुआ। कुछ देर तक महाराज इधर उधर घूमते रहे। प्यास बरस ही रही थी। महाराज ने मौका पाकर जसमा से पानी माँगा।

जसमा महाराज को इन्कार तो कैसे कर सकती थी? वह शरमाती हुई पानी का प्याला महाराज के पास लाई।

महाराज ने पानी पीते-पीते ही कहा—तुम्हारा ही नाम जसमा है? अचानक महाराज के मुँह से अपना नाम सुन कर जसमा शरमा गई। लज्जा की रेखा उसके मुँह पर आई और

आते ही उसका सौन्दर्य और अधिक खिल उठा। जसमा ने महाराज को तीन-चार बार इस झाड़ के नीचे देखा था। उसने सक्षेप में ही उत्तर दिया—'जी'। राजा पानी पी गया और फिर दूसरी बार पानी माँगा और साथ ही दूसरा प्रश्न भी किया—

महाराज—जसमा! तू ऐसी कड़ी धूप कैसे सहती होगी?

जसमा—क्या करे महाराज! हम क्या राजा हैं? मजदूरी करते हैं और गुजारा चलाते हैं। जसमा ने पानी का पात्र दूसरी बार देते हुए नजर दूसरी तरफ रखकर जवाब दिया।

महाराज—परन्तु ऐसी धूप में?

जसमा—नहीं तो पूरा कैसे पड़े? बोलते-बोलते अधिक देरी हो जाने से डर से जसमा ने खुदती हुई जमीन पर दृष्टि डाली और अपने पति को काम करता हुआ देखकर झोली में सोते हुए बालक को झुला देती हुई चली गई। महाराज देखते रह गए। पर महाराज की इच्छा उसे प्राप्त करने के लिए यत्नवती हो उठी।

जिस मनुष्य के हृदय मे किसी को देखकर विकार उत्पन्न हो जाता है उसे यही धुन लग जाती है कि इसे मैं कैसे प्राप्त करूँ और अपनी प्रेयसी बनाऊँ? उस लालसा के वेग में वह अपना आपा भी भूल जाता है। अपनी एव पूर्वजों की इज्जत का जरा भी खयाल नहीं रखता हुआ ऐसे ऐसे प्रपच रचता है जिन्हें समझना बड़ी ही कठिन बात है। इस फन्दे मे फँसा हुआ मनुष्य सभी कुकृत्य कर अपना इहलोक और परलोक दोनों ही बिगाड़ लेता है।

जिस दिन महाराज ने जसमा के हाथ से पानी पीया था उस दिन के बाद से तो बराबर तालाब पर आना और प्रसंग पाकर उससे बात-चीत कर उसे अपनाना महाराज का ध्येय बन चुका था। एक दिन इसी प्रकार वे पेड़ के नीचे खड़े थे। जसमा ने आकर बच्चे को सुलाया और चलने लगी कि पीछे से धीमी आवाज आई—'जसमा!' जसमा ने पीछे फिर कर देखा तो महाराज थे। वह चुपचाप खड़ी रह गई।

महाराज—जसमा! ऐसी मेहनत करने के लिये तू बनी है यह मैं नहीं मानता। फिर क्यों इस तरह तू जीवन बर्बाद कर रही है?

जसमा—क्या करें महाराज! हमारा धन्धा ही ऐसा है। जसमा मुस्कराते हुए बोली।

महाराज—मैं तुम्हारे लिए यह सुविधा किये देता हूँ कि तुम आज से तालाब के किनारे पर बैठी हुई अपने बच्चे का पालन किया करो। मिट्टी मत उठाया करो। मिट्टी उठाने वाली तो बहुत हैं।

जसमा—आप मालिक हैं इसलिए ऐसी दया दिखाते हैं। परन्तु मैं बिना मेहनत किये दाम का खाना नहीं चाहती। मिहनत करना मैं अच्छा समझती हूँ।

महाराज—जसमा! यह शरीर आराम तुम्हारा है मिट्टी ढोने लायक नहीं। इसकी कदर तो महाराज ही कर सकता है। तू मिट्टी ढोकर इसको मटियामेट मत कर।

जसमा—महाराज! बिना मेहनत किये बैठे खाने से तो कई प्रकार के रोग हो जाते हैं। कुछ भी बार रोग हो जाय और

डाक्टर लोग फीस माँगे तो हम मजदूर कहाँ से लाएँ ? हम मजदूरों के पास धन कहाँ है ?

हिस्ट्रीया का रोग, जिसे सयानी औरतें भेड़ा-चेड़ा कहती हैं और जिसके हो जाने पर अक्सर देवी-देवताओं और पीरों के स्थान पर ले जाना पड़ता है वह प्राय परिश्रम न करते हुए बैठे बैठे खाने से ही होता है। यह रोग जितना गरीब स्त्रियों को नहीं होता उतना धनवान् स्त्रियों को होता है। जहाँ परिश्रम नहीं किया जाता वहाँ यह रोग जल्दी लागू होता है। फिर डाक्टरों की हाजरी और देवी देवताओं की मिन्नतें करनी पडती हैं। महाराज, मैं ऐसा नहीं करना चाहती। मेरा काम अच्छी तरह चल रहा है परिश्रम करने से मेरा शरीर स्वस्थ रहता है आप फिक्र न करें।

महाराज—जसमा ! मैं फिर कहता हूँ कि तू जंगल में बसने योग्य नहीं है। देख तो यह तेरा कोमल शरीर क्या जगल मे भटकने योग्य है ? तू मेरे शहर में चल ! 'पाटन' इस समय स्वर्ग बन रहा है और मैं तुझे रहने के लिए अत्यन्त सुन्दर जगह दिखाऊँगा।

जसमा समझ गई कि राजा ने पहला दाव न चलने से दूसरा पासा फैंका है और मुझे लोभ दिया जा रहा है।

जसमा—महाराज, कहाँ तो यह आनन्ददायक जगल और कहाँ गन्दा नगर ? जिस प्रकार गर्मी के मारे कीडे-मकोड़े भूमि में से निकल कर रेंगते हैं उसी प्रकार शहरों के तग मार्ग में मनुष्य फिरते हैं। वहाँ अच्छी तरह चलने के लिए मार्ग भी तो पूरा नहीं मिलता। जगल में तो सदा ही मगल है। ऐसी शुद्ध और स्वच्छ वायु और विस्तृत स्थान शहरों में कहाँ है ?

राजा—जसमा ! तेरी बुद्धि बिगड़ी हुई है। गँवारों को गँवारपना ही अच्छा लगता है। इसी से तू ऐसी बातें कर रही है। जंगल की रहने वाली तू शहर का मजा क्या समझे। अब मैं तुझे बड़े आराम से महल में रखूंगा। महाराज ने डाँट डपट कर फिर लालच दिखाया।

जसमा—चाहे आप मेरी ढिठाई समझें या गँवारपन, सच्ची बात तो यह है कि जैसा आपको नगर प्रिय है वैसा मुझे जंगल प्रिय है। शहर के आदमी जैसे मन के मैले होते हैं वैसे जंगल के नहीं। बड़े बड़े शहर आज पाप के किले बने हैं। चोर जुआरी व्यभिचारी नशेबाज आदि आदि सभी तरह के मनुष्य शहरों में होते हैं। देहातों में ये बातें अधिकांश नहीं होती हैं। यहाँ किसी का सोना चान्दी का जेवर भी पड़ा रह जाए तो देहाती लोग उसके मालिक को ढूंढकर उसे पहुँचाने की चेष्टा करेंगे। यह बात शहरों में नहीं है। शहरों के लोग तो छोटी से छोटी वस्तु के लिए भी परस्पर हत्या करने से नहीं चूकते हैं।

महाराज—तेरा पति कहाँ है जिस पर तू इतना गर्व कर रही है? जरा मैं भी तो देखूँ वह कैसा है?

जसमा—वह जो कमर कस कर काम कर रहा है, और जिसके सिर पर फूल का गुच्छा है।

महाराज—क्या तालाब में ही है?

हाँ कहकर जसमा झूले की तरफ गई और बच्चे को झुला देकर अपने काम में लगने के लिए चली। मगर पीछे से महाराज ने आँचल पकड़ रखा था जिसे देखकर जसमा बोली—महाराज यह क्या!

महाराज—क्या वही तेरा पति है? कहाँ तू और कहाँ वह? 'कौए के गले में रत्नों की माला?' उस मिट्टी खोदने वाले के पीछे तू इतनी इतरा रही है और मेरा निरादर कर रही है। हँसनी कौए के पास नहीं सोहती। इसलिये हंसनी को कौए के पास छोड़ना ठीक नहीं। तू महल में चल। महल में ही शोभा देगी। देख! तेरे पति को तेरे ऊपर विश्वास नहीं है। वह तेरी तरफ टेढा टेढा देख रहा है। उसका देखने का ढंग ही बतला रहा है कि तुझ पर न तो उसका विश्वास ही है और न प्रेम ही। ऐसा आदमी तेरी कदर क्या जाने? ऐसे अविश्वासी पति के पास रहना क्या तुझे उचित है?

जसमा—महाराज! सच्चे को संसार में जरा भी भय नहीं है। मेरे पति का मेरे प्रति पूर्ण विश्वास है। मैं अपने पति के सिवाय अन्य पुरुषों को भाई मानती हूँ। यह अविश्वास तो आप लोगों में होता है। मेरे मन में यदि पति के प्रति अविश्वास हो तो पति को मेरे प्रति अविश्वास हो। मेरा पति मुझे नहीं देख रहा है। पर आपकी बिगड़ी हुई दृष्टि को देख रहा है। महाराज, हम तो मजदूर हैं। मिट्टी उठाये बिना कैसे काम चलेगा? पर आपके महल में रानियों की क्या कमी है?

महाराज—पर एक बार जसमा! तू महल देख तो आ।

जसमा—महाराज, पाटन के महल में रहने की अपेक्षा मैं अपने झोंपड़े को किसी तरह कम नहीं समझती। राजा की रानी होने की अपेक्षा मैं एक ओड की स्त्री कहलाना अधिक पसन्द करती हूँ। आप सरीखे का क्या भरोसा? आज आपने मेरे साथ ऐसी बात की कल आपकी नजर दूसरी

कितने ही मरे और कुछ भाग निकले और अन्त में ओड़ों का नायक टीकम, जसमा का प्रिय पति भी मारा गया। जीवित रही केवल जसमा।

सिद्धराज ने हुक्म दिया और सैनिकों ने शस्त्र गिरा दिये। रक्त-रंजित भूमि पर जसमा निर्भीक खड़ी थी। महाराज घोड़े से उतर कर जसमा के पास पहुँच गए, बोले—जसमा!

जसमा—महाराज, यह आशा छोड़ ही दीजिये। आपकी इच्छा पूरी होने वाली नहीं है।

राजा—जसमा, तू देख तो सही मेरा दरबार कितना भव्य है! ये महल कैसे बने हुए हैं! कितने अच्छे बाग-बगीचे हैं! तू इन सबकी स्वामिनी होगी। महाराज ने लालच दिखाया।

जसमा—महाराज, जंगल के प्राकृतिक दृश्य के सामने आपके ये बाग-बगीचे सब धूल हैं। जिस तरह सूर्य के सामने तारे कान्तिहीन हो जाते हैं उसी तरह प्राकृतिक जंगल के सामने आपके बगीचे कुछ नहीं। जो जंगल में नहीं रह सकता वह भले ही बाग में रहे। मुझे तो इन बागों और महलों की जरूरत नहीं है।

महाराज—जसमा! तुझ में सोचने, विचारने व अपना लाभालाभ देखने की शक्ति नहीं है। इन महलों में तुझे मृदंग के मीठे सुरीले स्वर और गायन की मधुर तान सुनने को मिलेगी।

जसमा-महाराज! आपके गायन और बाजों में विष भरा है। मुझे ऐसा स्वर अच्छा नहीं लगता। मेरा मन तो जंगल में रहने वाले मोर, पपीहे, और कोयल की आवाजों से ही प्रसन्न रहता है। मेरे कान तो इन्हीं की टेर सुनने को व्याकुल रहते हैं।

महाराज—जसमा, कहाँ तू सूखी रूखी रोटी खाकर शरीर सत्यानाश करती रही है। मेरे महलों में चलकर देख वहाँ तेरे लिये अनेक तरह के मेवा मिष्टान्न तैयार हैं जिससे तेरा शरीर चमक उठेगा।

जसमा—महाराज! आपके महल का आराम तो आप की रानियों को ही मुबारिक हो। मैंने तो घाट खा रखी है। मेरे पेट में तो पकवान पच ही नहीं सकते। मेरे लिये तो राब व दलिया ही अच्छा है। महाराज! आप तो पिता तुल्य हैं, प्रजा के रक्षक हैं, शूरवीर सम्राट् को ऐसा करना शोभा देता है?

महाराज—जसमा यह सुनने का मुझे अवकाश नहीं। यह तो मैंने बहुत सुन रखा है। यदि तू हाँ कहती है तो मैं आनन्द से तुझे महल में रखने को तैयार हूँ और अगर इन्कार करेगी तो मैं वापिस लौटने वाला नहीं हूँ तुझे जबर्दस्ती चलना पड़ेगा।

जसमा—अच्छा यह आजमा लीजिये। मैं भी देखती हूँ कि आप किस तरह जबर्दस्ती ले चलते हैं। जसमा जोश पूर्वक बोली—महाराज! जाकर पाटन की पटरानी को दूसरी ढूँढो।

महाराज—जसमा तुझे खबर है कि तू निरास्त्र है।

जसमा—कोई परवाह नहीं।

सिद्धराज चिढ़ गए और सैनिकों की तरफ मुँह करके बोले तुम लोग दूर चले जाओ। सैनिकों ने आज्ञा पालन की। सिद्धराज बिलकुल जसमा के पास आए और बोले—क्यों अभी और चमत्कार देखना है?

जसमा—महाराज दूर रहना।

महाराज—क्यों ?

जसमा—मैं पाटन चलने को तैयार हूँ। जसमा ने युक्ति का प्रयोग किया।

सिद्धराज आश्चर्य-मुग्ध हो गया और कहने लगा—पहले क्यों नहीं समझी !

जसमा अनसुनी करती हुई बोली—परन्तु मुझे पाटन में ले जाकर करोगे क्या ?

सिद्धराज—गुर्जर देश की महारानी बनाऊँगा।

जसमा—महारानी ? महारानी तो बनाना अपनी रानी को। मैं महारानी बनकर क्या करूँगी ? जसमा ने अपनी आँखों को स्थिर करते हुए कहा और साथ ही महाराज को असावधान देखकर छलांग मार कर महाराजा के हाथ मे कटार छुडाने के लिये हाथ मारा। महाराज जसमा का हाथ अलग करते हैं तब तक तो कटार जसमा के हाथ में पहुँच चुकी थी। वह गरजकर बोली—महाराज ! चौंकना मत, मैं अभी तुम्हारे सैनिकों के देखते २ तुम्हारा खून पी सकती हूँ और तुम्हारे किये का बदला ले सकती हूँ। परन्तु मैं ऐसा करना नहीं चाहती। मैं भले ही विधवा हुई पर गुर्जरभूमि को विधवा नहीं बनाना चाहती। यह कहने के साथ ही जसमा कटार उठाती हुई बोली—लो ! जिस रूप के कारण तुमने मेरा परिवार नष्ट किया है उसका खोखा सम्हालो और जसमा ने कटार हृदय में भोंक ली।

वीरांगना सती जसमा ने और कोई उपाय न देखकर वीरता का परिचय देते हुए अपना बलिदान देकर संसार

के सामने स्त्री-धर्म का उच्च आदर्श स्थापित किया है।

जसमा का जीवन तो पवित्र था ही परन्तु उसमें इन्द्रिय संयम और मनोबल भी उच्च कोटि का था। महाराज ने उसे लुभाने के लिए अनेकों प्रयत्न किये। मान-पान, वस्त्राभूषण खान-पान मद्यादि के अनेकों प्रलोभन दिये परन्तु पतिव्रता इन सब चीजों को अपने जीवन को पवित्र बनाए रखने में विघ्न स्वरूप समझती हैं, यह जसमा ने अच्छी तरह बता दिया।

इसके विपरीत आज की अनेक नारियाँ उत्तम-उत्तम भोजन उत्तम वस्त्राभूषण उत्तम रहन-सहन के पीछे बावली होकर मौज-शौक ऐश आराम को ही सब कुछ समझकर अपने धर्म कर्म को भूल जाती हैं और अपनी जाति, समाज व देश को कलंकित करने की कोशिश करती हैं। उनके लिए जसमा का चरित्र एक पाठ है, ज्वलन्त उदाहरण है। जसमा ने बता दिया है कि छोटी से छोटी जाति में भी नारी सती पतिव्रता और वीरांगना हो सकती है और जब कि ऐसी छोटी जाति में भी ऐसे नारीरत्न होते हैं तो बड़े बड़े घराने अत्यन्त ऊँचे ऊँचे कहलाने वाले कुल—खानदान हैं, उनमें प्रत्येक नारी को कैसा होना चाहिए यह स्पष्ट है।

पर पहले के समय की अपेक्षा भी हमारा आज का जीवन अत्यन्त दूषित हो गया है। उस पर भी शहरों का वातावरण तो गन्दा है ही पर गाँवों में भी इसका असर होना शुरु हो गया है। पहले जहाँ किसी गाँव के एक घर की लड़की को समस्त गाँव वाले अपनी बेटी मानते थे और बहू को अपनी बहू

वहाँ आज एक ही घर में भी एक दूसरे के सम्बन्ध को पवित्र बनाए रखना कठिन हो गया है। फिर भी आज भी सीता, अजना, सावित्री सरीखी नारियाँ मिल सकती हैं पर राम, पवन व सत्यवान जैसों का तो कहीं दर्शन भी नहीं हो सकता।

पुरुष जाति मे स्वार्थ की भावना पूर्ण रूप से घर कर गई है। आज का प्रत्येक पुरुष तो अपनी पत्नी को पूर्ण पतिव्रता देखना चाहता है पर अपने लिए पत्नीव्रत का नाम आते ही नाक भौं चढाता है। पत्नी को श्मशान मे फूक कर आ भी नहीं पाते और दूसरी शादी के लिए उतावले हो उठते हैं। यह स्वार्थ-वृत्ति नहीं तो और क्या है ? प्राचीन समय मे जब कि रामचन्द्र जी ने सीता के अभाव मे किसी तरह भी दूसरी पत्नी न लाकर अश्वमेध यज्ञ मे सीता की स्वर्णमूर्ति ही बनवा कर सीता की पूर्ति की थी, क्योंकि रामचन्द्रजी एक पत्नीव्रत के व्रती थे। इसी प्रकार यदि आज भी पतिव्रत की ही तरह पत्नीव्रत को भी उच्च स्थान नहीं दिया जाता तो स्त्री-पुरुषों का जीवन बहुत आदर्शमय नहीं हो सकता।

आजकल तो स्त्रियों की समस्या को लेकर भारी आन्दोलन खड़ा हो रहा है। स्त्री सुधार के लिये गर्मागर्म व्याख्यान दिये जा रहे हैं। बड़े बडे अखबारों और पुस्तकों में बहस छिड़ रही है। स्त्रियों को बराबरी के अधिकार दिलाने को उतावले हो रहे हैं। पर पुरुष यह नहीं देखते कि इस भावनाओं के वेग में बहकर गलत रास्ते पर जा रहे हैं। स्त्रियाँ अपने उद्धार आन्दोलन से फायदा उठाकर पुरुषों के जुल्मों और अत्याचारों को गिन गिन कर नारी और पुरुष के बीच के अन्तर को और खिसकाए चली जा रही हैं।

यह अनुचित है। स्त्रियों को गलत मार्ग पर चलाने की अपेक्षा उचित यही है कि पुरुष अपने सच्चे कर्त्तव्य और आदर्शों को ध्यान में रखकर राम, कृष्ण, बुद्ध महावीर आदि को अपने जीवन में पथप्रदर्शक समझें। और स्त्रियाँ सीता सावित्री अंजना, दमयंती मीरां आदि को आदर्श बनावें। तथा दोनों एक दूसरे के प्रति मधुरता सरलता सहानुभूति भरा व्यवहार रखकर एक दूसरे के जीवन को ऊँचा उठावें। तथा एक दूसरे के दोषों को निकाल कर गिनाने की अपेक्षा एक दूसरे की कठिनाइयों व एक दूसरे के सुख-दुख को समझने की चेष्टा करें।

आजकल का समय कुछ विचित्र-सा ही है। अपने कौटुम्बिक जीवन को मधुर बनाने की तरफ तो किसी का ध्यान नहीं है पर जाति समाज और देश के उत्थान के लिये सभी प्रयत्न कर रहे हैं। यह तो वही हुआ जैसे जड़ को न सींचकर पत्तियों में पानी देना। इसका नाम उन्नति नहीं है। समाज का उत्थान इस प्रकार नहीं हो सकता। कारण कि जिस नींव पर हम समाजोद्धार के भव्य महल का सुनहरा स्वप्न देख रहे हैं वह नींव खराब है। समाज की नींव कुटुम्ब है। अनेकों समाज-सेवकों नेताओं के घरेलू जीवन अत्यन्त दुःखपूर्ण होते हैं। पति-पत्नी में जैसा परस्पर सम्बन्ध होना चाहिए वैसा कभी नहीं रहता। और यही वजह है कि स्त्री का सहधर्मिणी नाम बिलकुल उठता जाता जा रहा है। पुरुष कमाने घर के कामों में इस प्रकार डूबे रहते हैं कि जरा भी वे घर का ख्याल नहीं रखते। और स्त्रियाँ

पति का प्रेम न पाकर, बल्कि समानता का खिताब पाकर पुरुषों के विरुद्ध शिकायतें दर्ज किया करती हैं।

समाज की उन्नति की जड़ सुखमय, शान्त और सतोष-युक्त गृह ही है। और यह तभी हो सकता है जब कि पति-पत्नी एक दूसरे के अन्दर खो जाने की कोशिश करें। और एक ही नहीं हर घर में इसी प्रकार सुखमय दाम्पत्य जीवन बिताने की कोशिश की जाय। एक के ही किये यह नहीं हो सकता। कहते हैं—

एक बार अकबर ने बावड़ी खुदवाई। पानी उसमें बिलकुल नहीं था। बीरबल ने उसे सलाह दी कि शहर भर से कह दिया जाय कि प्रत्येक व्यक्ति रात को इस बावड़ी में एक एक घड़ा दूध डाल जाय। ऐसा ही किया गया। शहर भर में मुनादी करवा दी गई कि रात को हर एक को इसमें एक घड़ा दूध छोड़ देना पड़ेगा। रात होने पर प्रत्येक ने यह सोचा कि सब तो दूध डालेंगे ही, यदि मैं चुपके से एक घड़ा पानी डाल आऊँ तो उतने सारे दूध में क्या मालूम पड़ेगा? सब ने इसी प्रकार किया। सुबह देखा गया तो बावड़ी पानी से भरी थी। दूध का तो नाम भी नहीं था।

इसी प्रकार पति और पत्नी दोनों के सहयोग से घर का सुधार और सभी घरों से समाज का और समाज से देश का सुधार होना निश्चित है। पर समाज के सुधार से यह तात्पर्य हरगिज नहीं है कि स्त्रियाँ पढ़-लिखकर ही एकदम अप टू डेट हो जावें। पुरुषों की गलतियाँ ढूंढ ढूंढ कर अपनी गलतियों को सुधारने की अपेक्षा बदला लेने की भावना लिये हुए बराबरी का

दासा करती जाएँ। नारी घर की देवी है। पुराणादि में पति को देवता बताया गया है पर इसका यह मतलब नहीं कि पत्नी देवी नहीं है। हमारे ग्रन्थों में तो हर बातों में पत्नी का महत्त्व और जिम्मेवारी पति से भी अधिक है क्योंकि स्त्री ने ही पुरुष को जन्म दिया है। अतः यह विचार करना कि पुरुष जैसा करते हैं हम भी वही क्यों न करें अनुचित है। यह कोई वजह नहीं कि पुरुष गिर गए हैं और गिरते जा रहे हैं तो नारियों को भी गिरते ही जाना चाहिये। नहीं! बल्कि यह सोचना चाहिए कि स्त्री ही समाज का निर्माण करने वाली है क्योंकि वह पुरुष का निर्माण करती है। अतः एक पुरुष के ऊँचे उठने अथवा गिरने से समाज में जितनी खराबी नहीं आती उतनी एक स्त्री के गिरने पर आती है। इसलिए आज जब कि पुरुषों ने अपना पुरातन तेज गौरव खो दिया है, तब तो नारी का अनिवार्य फर्ज है कि वह अपने जीवन को पवित्र रखते हुए अनन्य त्याग सेवा कष्टसहिष्णुता आदि से सच्चे नारीत्व का सच्चे दाम्पत्य का आदर्श उपस्थित कर अपना अपने पति का व आगे बढ़कर अपनी सन्तान का जीवन उज्ज्वल बनाए।

हिन्दू नारी का सारा जीवन ही कष्टसहिष्णुता से भरा हुआ त्यागमय और सेवामय होता है। दाम्पत्य जीवन में सेवा बड़ी ऊँची और कल्याणकारी वस्तु है। इससे चाहे दूसरों को पूर्ण सुखी न भी हो पर अपना मन स्वयं ही बड़ा पवित्र और निर्मल हो जाता है। दाम्पत्य जीवन को मधुर और सुखी बनाने के लिये अथक परिश्रम और सेवा की जरूरत पड़ती है उसके बिना नारी का काम नहीं चल सकता। और वह भी सिर्फ पति की ही नहीं अपितु अपने कुटुम्ब की सेवा का भी जबर्दस्त बोझ

अकेली नारी के कन्धों पर रहता है। पति के सारे कुटुम्ब से कटी कटी रहने वाली पत्नी भले ही पति की प्रसन्नता के लिए प्रयत्न करती रहे लेकिन वह उसका परिश्रम पति के आनन्द को बढ़ा नहीं सकता। धीरे-धीरे वह पत्नी के प्रति उदासीन होता जायगा और सुखमय दाम्पत्य में भी कलह का अकुर अपनी जड़ जमाने में समर्थ हो जाएगा।

अनेकों स्त्रियाँ आजकल इतनी ईर्ष्यालु होती हैं कि अगर घर में उनका पति कमाऊ होता है तो सास ससुर देवर जेठ आदि सभी को दिन रात व्यग-बाणों से छेदा करती है। जिसका फल कभी कभी तो अत्यन्त ही दुखदायी हो जाता है और दाम्पत्य सुख को एक दम नष्ट कर देता है। इसलिये जरूरी है कि हर पत्नी को सदा यह ध्यान में रखना चाहिये कि सास ने मेरे पति के लिये अनेकों कष्ट सहे हैं। उसे जन्म दिया है। अत॰ पति जैसा भी है, जो कुछ भी कमाता है, उसमें सास का सर्व प्रथम और बड़ा भारी हिस्सा है। क्योंकि पति को अच्छा या बुरा बनाने का श्रेय भी तो सास को ही है। इसलिये प्रत्येक पत्नी को पति के साथ ही सास ससुर एव समस्त कुटुम्बी जनों को सुख पहुँचाने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये, भले ही इसमें स्वय को कुछ कष्ट हो पर उसे अपने कष्ट की परवाह न करके भी और सबको ज्यादा से ज्यादा सुख मिले, मन में यही भावना हमेशा रखना व इसके लिये प्रयत्न करना चाहिये, दाम्पत्य सुख की यह सबसे बड़ी और मजबूत कुजी है।

दाम्पत्य सुख में सबसे मुख्य बात यही है कि पति का पत्नी में गहरा स्नेह व पत्नी की पति में अत्यन्त गहरी श्रद्धा हो, ऐसा

अगर नहीं होगा तो दम्पती का गृहस्थी में कभी पूर्ण सुख का अनुभव नहीं हो सकता। क्योंकि स्त्री के मन के भाव ही उसे सुखमय या दुःखमय बना सकते हैं। नारी जाति अत्यन्त कोमल और भोली होती है। पति का थोड़ा सा प्रेम पाने पर ही बहुत अधिक सुख का अनुभव करती है एवं थोड़ा सा उपालम्भ पाने पर बहुत अधिक दुःख का। हालाँकि वह यह कहती किसी से नहीं मूक रहकर ही सब कुछ सहन करती है, पर फिर भी मन पर तो सब भावनाओं का असर होता है। इसलिये यह जरूरी है कि प्रत्येक बहिन को इस बात का ख्याल रखना चाहिये कि मन के बांधे हुए हवाई किले सभी नहीं बने रहते। अतः मन में कल्पना किये हुए पति पर प्यार सभी कुछ वैसा ही न मिलने पर भी कभी खिन्न और निराश न हों।

बहुत कुछ सुख को बढ़ाना घटाना तो मनोभाव पर भी निर्भर है। अतः जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मनोनुकूल वातावरण न मिलने पर भी जो कुछ मिले उसी के सहारे जीवन निर्माण करने की कोशिश करनी चाहिये। सुख की सबसे बड़ी कुंजी संतोष है। संतोष का फल सदा मीठा होता है यह सत्य है कि अधिक सुख प्राप्त करने का यत्न सभी स्त्रियाँ करती हैं पर अधिक सुख न मिलने पर भी जो कुछ मिला है उस पर संतोष करने वाली स्त्री ही सुखी हो सकती है। किसी भी हालत में हो पर पति के सुख में सुख मानने वाली व हर अवस्था में पति का कल्याण चाहने वाली स्त्री ही सच्चे दाम्पत्य सुख का अनुभव कर सकती है व करा सकती है।

प्राचीन काल का दाम्पत्य संबंध कैसा आदर्श था ! पत्नी अपने आपको पति में विलीन कर देती थी और पति उसे अपनी अर्धांगना, अपनी शक्ति, अपनी सखी और अपनी हृदय-स्वामिनी समझता था। एक पति था, दूसरी पत्नी थी, पुरुष स्वामी और स्त्री स्वामिनी थी। एक का दूसरे के प्रति समर्पण का भाव था। वहाँ अधिकारों की माग नहीं थी, सिर्फ समर्पण था। जहाँ दो हृदय मिलकर एक हो जाते हैं वहाँ एक को हक मांगने का और दूसरे को हक देने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। ऐसा आदर्श दाम्पत्य संबंध किसी समय भारतवर्ष में था। आज विदेशों के अनुकरण पर जहाँ दाम्पत्य संबंध नाम मात्र का है—भारत में भी विकृति आ गई है। नतीजा यह हुआ है कि पति-पत्नी का अद्वैत भाव नष्ट होता जा रहा है और राजकीय कानूनों के सहारे समानाधिकार की स्थापना की जा रही है। आज की पढ़ी-लिखी स्त्री कहती है—

मैं अंगरेजी पढ़ गई सैंया।
रोटी नहीं पकाऊँगी ॥

शिक्षा का परिणाम यह निकला है। पहले की स्त्रियाँ प्रायः सब काम अपने हाथों से करती थीं। आजकल सभी काम नौकरों द्वारा कराये जाते हैं। परिणाम यह हुआ कि डाक्टरों की बाढ़ आ गई और स्त्रियों को डाकिन-भूत लगने लगे। स्त्रियों के निकम्मे रहने के कारण हिस्टीरिया आदि रोग होते हैं और डाकिन-भूत के नाम पर लोग ठगाई करते हैं। अगर स्त्री को मार्ग पर चलना है तो इन सब बुराइयों को छोड़ना पड़ेगा।

कई एक भोली बहिनें हाथ से पीसने में पाप लगना समझती हैं और दूसरे से पिसवा लेने में पाप से बच जाने की कल्पना करती हैं। पीसने में आरम्भ तो होता ही है लेकिन अपने हाथ से यतना और विवेक के साथ किया जाय तो बहुत से निरर्थक पापों से बचाव भी हो सकता है। शक्ति होते हुए दूसरे से काम कराना एक प्रकार की कायरता है और कहना चाहिए कि अपनी शक्ति का विनाश करना है। इस प्रकार का परावलम्बी जीवन बिताना अपनी शक्ति की घोर अवहेलना करना है।

पग धरिता संताप ने वरवा मे कड़ा ।
हिया कंठ में लारा हार नो सर्वा परा ॥
सोग टाई ने सुघर धरा घूघटा करा ।
मान राखणा नहीं रो सिर मोर गूथ ना ॥पेम ॥

बुद्धिमती स्त्रियाँ कहती हैं—"जिस प्रकार सीता ने पैर के आभूषण उतार दिये हैं, उसी प्रकार अगर हम भी दिखावे के लिये पैर के गहने उतार दें तो इससे कोई काम नहीं होता। पैर के आभूषण पैर में भले ही पड़े रहें मगर एक शिक्षा याद रखनी चाहिए। अगर सीता में धैर्य और संतोष न होता तो वह वन में जाने को तैयार न होती। सीता में कितना धैर्य और कितना संतोष है कि वह वन की विपदाओं की अवगणना करके और राजकीय वैभव को ठुकरा करके पति के पीछे-पीछे चली जा रही है! हमें सीता के चरित से इस धैर्य और संतोष की शिक्षा लेनी है। यह गुण न हुए तो आभूषणों को धिक्कार है।

जहाँ ज्यादा गहने हैं वहाँ धैर्य की और संतोष की उतनी ही कमी है। वन-कामिनी भीलनी पीतल के गहने पहनती है और रूखा सूखा भोजन करती है, फिर भी उसके चेहरे पर जैसी प्रसन्नता और स्वस्थता दिखाई देगी, बड़े घर की महिलाओं में वह शायद ही कहीं दृष्टिगोचर हो। भीलनी जिस दिन बालक को जन्म देती है उसी दिन उसे झोंपड़ी में रखकर लकड़ी बेचने चल देती है। यह सब किसका प्रताप है ? संतोष और धैर्य की जिन्दगी साक्षात् वरदान है। इसी से दाम्पत्य-सम्बन्ध मधुर बनता है।

× × × ×

आपने पत्नी का पाणिग्रहण धर्मपालन के लिए किया है। इसी प्रकार स्त्री ने भी आपका। जो नर या नारी इसी उद्देश्य को भूलकर खान-पान और भोग विलास में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझते हैं वे धर्मके पति-पत्नी नहीं वरन् पाप के पति-पत्नी हैं।

आज राग के वश होकर पति-पत्नी न जाने कैसी-कैसी अनीति का पोषण कर रहे हैं। पर प्राचीन साहित्य देखने से स्पष्ट विदित होता है कि उस समय पति-पत्नी अलग २ कमरों में सोते थे—एक ही जगह नहीं सोते थे। पर आज की स्थिति कितनी दयनीय है। आज अलग २ कमरों में सोना तो दूर रहा अलग २ बिस्तर पर भी बहुत कम पति पत्नी सोते हैं। इस कारण विषय-वासना को कितना वेग मिलता है यह संक्षेप में नहीं बताया जा

सकता। अग्नि पर जो डालने से वह बिना पिघले नहीं रहता एक ही शय्या पर शयन करने से अनेक प्रकार की बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं। वह बुराइयाँ इतनी घातक होती हैं कि उनसे न केवल धार्मिक जीवन निर्माल्य बनता है वरन् व्यावहारिक जीवन भी निकम्मा बन जाता है।

× × × ×

लग्न के समय वर-वधू अग्नि की प्रदक्षिणा करते हैं। पति के साथ अग्नि की प्रदक्षिणा करने के पश्चात् एक सच्ची आर्य महिला अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देती है पर की हुई प्रतिज्ञा से विमुख नहीं होती।

पुरुष भी पत्नी के साथ अग्नि की प्रदक्षिणा करते हैं परन्तु जो कर्त्तव्य स्त्री का माना जाता है वही क्या पुरुष का भी समझा जाता है?

जैसे सदाचारिणी स्त्री परपुरुष को पिता एवं भाई के समान मानती है, उसी प्रकार सदाचारशील पुरुष वही हैं जो परस्त्री को माता बहन की दृष्टि से देखते हैं। पर ती शक्ति में बरती विरले पति हैं वमि हैं वमि हैं नर व

पति-पत्नी संबंध की विडम्बना देखकर किसका हृदय आहत नहीं होगा? जिन्होंने पति और पत्नी बनने का उत्तरदायित्व स्वेच्छा से अपने सिर लिया है वह भी पति-पत्नी के कर्त्तव्य को न समझें, यह कितने खेद की बात है। पति का कर्त्तव्य पत्नी को स्वादिष्ट भोजन देना रंग बिरंगे कपड़े देकर

तितली के समान बना देना या मूल्यवान आभूषणों से गुड़िया के समान सजा देना नहीं है। इसी प्रकार पत्नी का कर्त्तव्य पति को सुस्वादु भोजन बनाकर परोस देने के समान नहीं होता। वासना की पूर्ति का साधन बनना भी स्त्री का कर्तव्य नहीं है। ऐसे कार्यों के लिए ही दाम्पत्य संबंध नहीं है। दम्पती का संबंध एक दूसरे को सहायता देकर आत्मकल्याण की साधना में समर्थ बनाने के लिए है। जहाँ इस उद्देश्य की पूर्ति होती है वहीं सात्विक दाम्पत्य समझा जा सकता है।

मातृत्व

१—माता की महिमा

किसी मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण जितनी आसानी से तथा सफलतापूर्वक माता कर सकती है, उतना और कोई नहीं। बच्चे के लिये माता की वात्सल्यमयी गोद ही सबसे महत्त्वपूर्ण शिक्षिका है। इसी पवित्र स्नेहधारा से मनुष्य प्रेम तथा मानवता का पहला सबक ग्रहण करता है। कौटुम्बिक वातावरण में बच्चा प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से अनेक गुण-दोष ग्रहण करता है, जो उसके व्यक्तित्व के निर्माण में बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध होते हैं। पुराणादि में बताया गया है कि बच्चा गर्भावस्था से ही माता के रहन-सहन आचार विचार, गुण-दोष खान-पान आदि के प्रभाव को अपनाया करता है और वही आगे चलकर उसके जीवन में समय-समय पर प्रगट होता है। महाभारत में अभिमन्यु के लिये बताया गया है कि उसने माँ के पेट में रहते हुए ही किसी दिन पिता के द्वारा माँ को बताए जाने पर चक्रव्यूह तोड़ने का ज्ञान सीख लिया था। इससे सिद्ध होता है कि अप्रत्यक्ष रूप से भी माता पिता के मनोभावों से ही बच्चे के मनोभावों का निर्माण और विकास होता है।

हमारे इतिहास में ऐसे सैकड़ो उदाहरण अंकित हैं जिनमें यह बताया है कि अनेकों महान् पुरुषों का जीवन-निर्माण उनकी माताओं के द्वारा ही किया गया है। रानी कौशल्या के हृदय की उदारता, वत्सलता, दयालुता रामचन्द्रजी के जीवन में भरी गई। जीजा बाई, जो हिन्दू जाति के गौरव व प्रतिष्ठा के लिये मर मिटने को निरन्तर तत्पर रहती थीं, अपने बेटे शिवाजी के जीवननिर्माण में साधन हुई। उन्होंने बचपन से ही शिवाजी को रामायण महाभारत आदि की कथाएँ सुना-सुना कर उनके शिशु-हृदय में ओज और वीरत्व का बिगुल फूँकना शुरू कर दिया था। देश और जाति की रक्षा प्राण देकर भी करने की भावना कूट कूट कर भर दी थी। उसी वीर माँ की शिक्षा का फल था कि उसके वीर बेटे शिवा ने हिन्दू साम्राज्य की नींव रखकर हिन्दू जाति का उद्धार किया।

वीर और स्वाभिमानिनी शकुन्तला का पुत्र भरत अपनी माँ के हाथों शिक्षा पाकर नि.शंक शेर के मुँह के दाँत गिनने का शौक करने लगा।

इसी प्रकार महात्मा बुद्ध की भी कथा है। जब वे अपनी माँ के गर्भ में थे, उस समय उनकी माँ को बहुत ही वैराग्य उत्पन्न हुआ। संसार के दु'ख, दारिद्रय, रोगादि को देखकर उनके मन में निरंतर यह भावना रही कि मेरा पुत्र बड़ा होकर इस जगत का दु ख अवश्य दूर करे। इन्हीं भावनाओं में बुद्ध का जीवननिर्माण हुआ और वे लोक भर में कल्याणकारी सिद्ध हुए।

इसी प्रकार हमारे देश में ही नहीं पाश्चात्य देशों में भी अनेकों महापुरुषों ने माताओं से ही सबक सीखा है। ईसाई धर्म के प्रणेता ईसा को लीजिये। उन्हें पूज्य बनने का श्रेय उनकी माता मरियम को ही पूर्ण रूप से है। वे निरंतर बालक ईसा को धार्मिक शिक्षा दिया करती थी। धार्मिक पुस्तकें पढ़ २ कर उनकी प्रतिभा का विकास किया करती थी। इन बातों से ही उनके चरित्र में महानता आई और उनकी आत्मा का गौरव सतत बढ़ता ही गया।

नैपोलियन बोनापार्ट ने भी अपनी माता के अत्यन्त कठोर शासन में रहकर अपने जीवन का निर्माण किया। अपनी माँ के लिये वे स्वयं ही कह गए हैं कि —"मेरी माँ एक साथ ही कोमल और कठोर थीं। सभी संतानें उनके लिये समान थीं। कोई बुरा काम करके हम बाद में कभी उनसे क्षमा नहीं पा सकते थे। हमारे ऊपर माँ की तीक्ष्ण दृष्टि रहा करती थी। नीचता की वे अत्यन्त अवज्ञा करती थीं। उनका मन उदार और चरित्र उज्ज्वल था। मिथ्या से उन्हें आन्तरिक घृणा थी। बीभत्स देखकर उनके नेत्र कठोर हो जाते थे। हमारा एक भी दोष उनकी दृष्टि से छिपना संभव नहीं था। इस प्रकार उनकी माँ ने अपने पुत्र का चरित्र निर्माण किया और संकटों में कष्ट सहन करने की शक्ति दी।

जार्ज वाशिंगटन ने कहा है:—मेरी विद्या बुद्धि, धन, वैभव पद एवं सम्मान इन सब का मूल कारण मेरी आदरणीया जननी ही है।'

मुसोलिनी लिखते हैं —सब संतानों में माता का मुझ पर अधिक स्नेह था। वह जितनी शांत थीं, उतनी ही कोमल और तेजस्विनी थी। वह केवल मेरी माँ ही न थी, अध्यापिका भी थी। मुझे सदा भय रहा करता था कि मेरी माँ मुझसे अप्रसन्न न हों। वे मुझसे बड़ी आशा रखती थीं। वे कहा करती थीं कि 'यह भविष्य में कोई महान् व्यक्ति होगा। उन्होंने सदा इसका ध्यान रक्खा कि उनकी संतान निर्भीक, साहसी, दृढ, और निश्चयशील बने' इसी से यह साबित हुआ है कि मुसोलिनी का अपरिमित तेजभरा पौरुष उनकी माता की ही देन थी।

२—माता का दायित्व (७-२-५०)

पर आजकल की स्त्रियाँ इस बात को भूल चली हैं। अपने बच्चे के जीवननिर्माण में, चरित्रविकास में, उनका हाथ कितना महत्त्वपूर्ण है, यह वे समझने की कोशिश नहीं करती हैं। जन्म से ही वे बच्चे को लाड़-प्यार करके बिगाड़ देती हैं और इस प्रकार वे बच्चों के उज्ज्वल जीवन को अंधकारमय पथ की ओर अग्रसर करने में सहायक होती हैं। जिन गुणों को माँ शुरु से बच्चे के जीवन में उतारना चाहती है, माँ स्वयं उन सब का आचरण करे, क्योंकि झूठ बोलकर माँ बच्चे को सत्यवादिता का पाठ नहीं पढा सकती। स्वयं क्रोध करके बच्चे को शांत रहने की सीख नहीं दी जा सकती। तात्पर्य यह कि उज्ज्वल चरित्र वाली माता ही बच्चे को महापुरुष बनाने में समर्थ हो सकती है।

बच्चों के बचपन में ही संस्कार सुधारने चाहिये। बड़े होने पर तो वह अपने आप सब बातें समझने लगेंगे, मगर उनका झुकाव और उनकी प्रवृत्ति बचपन में पड़े हुए संस्कारों के ही अनुसार होगी। बचपन में जिन बच्चों के संस्कार माता पिता विशेषकर माता के द्वारा नहीं सुधरे उनकी दशा यह है कि वे कोई भी अच्छी बात इस कान से सुनते और उस कान से निकाल देते हैं। इसके विपरीत, सुसंस्कारी पुरुष जो अच्छी और उपयोगी बात पाते हैं, उसे ग्रहण कर लेते हैं। यह बचपन की शिक्षा का महत्त्व है।

बालजीवन को शिक्षित और सुसंस्कृत बनाने के लिये घर ही उपयुक्त शाला है। माता-पिता ही बच्चे के सच्चे शिक्षक हैं। मगर माता और पिता सुशिक्षित और सुसंस्कृत हों तभी उनकी प्रजा वैसी बन सकती है। अतएव माता या पिता का पद प्राप्त करने के लिये माता-पिता को शिक्षित और संस्कारी बनना आवश्यक है।

बालक का जीवन अनुकरण से प्रारम्भ होता है। वह बोलते-चालते खाते-पीते और कोई भी काम करते घर का और विशेषतया माता का ही अनुकरण करता है तथा बोलचाल क्या व्यवहार क्या मनोवृत्तियाँ और क्या अन्य प्रवृत्तियाँ सब माँ की ही ग्रहण होती हैं, जिसके प्रति उसके हृदय में स्नेह का भाव स्वतः उत्पन्न आता है। अतएव प्रत्येक माता को सोचना चाहिये कि अगर हम बालकों को सुसंस्कृत सदाचारी विनीत और धार्मिक बनाना चाहती हैं तो हमारे घर का वातावरण किस प्रकार का होना चाहिये?

जहाँ माता क्षण-क्षण में गालियाँ बड़-बड़ाती हो, पिता माता पर चिढ़ता रहता हो, और उद्धततापूर्ण व्यवहार करता हो, वहाँ बालक से क्या आशा की जा सकती है? हजार यत्न करो, बालक को डराओ, धमकाओ, मारो, पीटो, फिर भी वह सुसंस्कारी या विनयी नहीं बन सकता। 'माँ सौ शिक्षकों का काम देती है' यह कथन जितना सत्य है उतना ही आदरणीय और आचरणीय है।

बालक को डरा धमकाकर या मारपीट कर अथवा ऐसे ही किसी हिंसात्मक उपाय का अवलम्बन लेकर नहीं सुधारा जा सकता।

३—सन्तति-सुधार का उपाय

प्राय देखा जाता है कि जब बालक मचलता है या कहा नहीं मानता तो सर्वप्रथम माँ को उसके प्रति आवेश आ जाता है और आवेश आते ही मुख से गालियों की वर्षा आरम्भ हो जाती है, लात घूँसे आदि से उस अनजान बालक पर माँ हमले किया करती है। कभी-कभी तो इसका परिणाम इतना भयकर होता है कि आजीवन माता-पिता को पछताना पड़ता है। वास्तव में यह प्रणाली बच्चो के लिये लाभ के बदले हानि उत्पन्न करती है। इससे बालक गालियाँ देना सीखता है, और सदा के लिये ढीठ बन जाता है। इस ढिठाई में से और भी अनेकों दुर्गुण फूट पड़ते हैं। इस प्रकार बालक का सारा जीवन बर्बाद हो जाता है।

विवेकशील माता भय की प्रणाली का उपयोग नहीं करती। वह आवेश पर अङ्कुश रखती है। बालक की परिस्थिति को

समझने का यत्न करती है। तथा उसे सुधारने के लिये घर का वातावरण सुन्दर बनाने की कोशिश करती है। ऐसा करने से माता के जीवन का विकास होता है और बालक के जीवन का भी। वह यह भली-भांति जानती है कि बालक अगर रोता है तो उसका इलाज डराना नहीं है रोने के कारण को खोजकर दूर करना है। इसी प्रकार अगर बालक में कोई दुर्गुण उत्पन्न हो गया है तो उसे वह अपनी ही किसी कमजोरी का फल समझती है और समझना ही चाहिये कि माता की किसी दुर्बलता के बिना बालक में कोई भी दुर्गुण क्यों पैदा हो ? इस अवस्था में माता के लिए उसका वास्तविक कारण खोज निकालना और दूर करना ही इलाज है। समझदार माँ ऐसे अवसर पर धैर्य से काम लेती है।

भय डराने वाले और डरनेवाले के अंतरंग या बहिरंग पर अनेक प्रकार से आघात करता है। अतः यह भय हिंसा का भी रूप है। आत्मा के गुणों का घात करने वाली प्रवृत्ति करना हिंसा है। जो ऐसी प्रवृत्ति करता है वह हिंसक है, यह जैनागम का विधान है।

आजकल हर माता को सदूपम की उसत भावना की तालीम लेने की आवश्यकता है। क्योंकि सामाजिक जीवन में देखा जाता है कि आज के माता-पिताओं के मन काम-वासना से वासित हैं। दोनों के मन अंधेरा के रंग में रंग हुए हैं और बात बात में न अश्लील वाक्यव्यवहार और सब जिसे तो बालक बहार करते भी संकोच नहीं करते। जहाँ यह स्थिति है वहाँ भला शिक्षा और संस्कृति का संरक्षण किस प्रकार हो सकता है ?

माता का जीवन जब तक शिक्षित, संस्कृत और आदर्श न बने तब तक संतान में सुसंस्कारों का सिंचन नहीं हो सकता। अतएव अपनी संतान की भलाई के लिये माता को अपना जीवन संस्कारमय अवश्य बनाना चाहिये। प्रत्येक माँ को यह न भूल जाना चाहिये कि आज का मेरा पुत्र ही भविष्य का भाग्यविधाता है।

माता, बच्चे या बच्ची का गुड्डे-गुड़िया की तरह शृंगार कर और अच्छा भोजन देकर छुट्टी नहीं पा सकती। उसे यह अच्छी तरह समझना चाहिये कि मैंने जिसे जीवन दिया है उसके जीवन का निर्माण भी मुझे ही करना है। जीवननिर्माण का अर्थ है संस्कारसंपन्न बनाना और बालक की विविध शक्तियों का विकास करना। शक्तियों का विकास हो जाने पर वह सन्मार्ग में लगे, सत्कार्य में उसका प्रयोग हो, दुरुपयोग न हो, यह सावधानी रखना माता का पूर्ण कर्तव्य है।

स्त्रियाँ जग जननी की अवतार हैं। स्त्रियों की कूँख से ही महावीर, बुद्ध, राम, कृष्ण आदि उत्पन्न हुए हैं। पुरुष समाज पर स्त्री-समाज का बड़ा भारी उपकार है। उस उपकार को भूल जाना और उसके प्रति अत्याचार करने में लज्जित न होना घोर कृतघ्नता है। समाज का एक अंग स्त्री और दूसरा अंग पुरुष है। शरीर का एक हिस्सा भी खराब होने से शरीर दुर्बल हो जाता है, उसी प्रकार समाज भी किसी हिस्से के विकारयुक्त होने से दूषित होने लग जाता है। क्या संभव है कि किसी का आधा अंग बलिष्ठ और आधा निर्बल हो? जिसका आधा अंग निर्बल होगा उसका पूरा अंग निर्बल होगा।

शरीर में मस्तिष्क का जो स्थान है समाज में शिक्षक का भी वही स्थान है। पर इस सबसे ऊँचा स्थान बच्चे के जीवन-निर्माण में माता का है। बच्चे के प्रति माँ का जो आकर्षण, ममत्व है, वही बच्चे को उचित रूप से जीवन-पथ में अग्रसर होने का प्रयत्न किया करता है।

४—मातृ-स्नेह की महिमा

माता का हृदय बच्चे से कभी तृप्त नहीं होता। माता के हृदय में बहने वाला वात्सल्य का अजस्र झरना कभी सूख नहीं सकता। वह निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। माता का प्रेम सदैव अतृप्त रहने के लिये है और उसकी अतृप्ति में ही शायद जगत् की स्थिति है। जिस दिन मातृ-हृदय सन्तान-प्रेम से तृप्त हो जाएगा उस दिन जगत में प्रलय हो जाएगा।

बच्चे के प्रति माँ के हृदय में इतना उत्कट प्रेम होता है कि मनुष्य तो वीर समझदार होता ही है पर पशु पक्षी का भी अपने बच्चे के प्रति ममत्व देखकर दंग रह जाना पड़ता है।

सुबुक्तगीन बादशाह का वृत्तान्त इतिहास में आता है। वह अफगानिस्तान का बादशाह था। वह एक गुलाम खान दान में पैदा हुआ था। एक बार वह ईरान से अफगानिस्तान की ओर घोड़े पर सवार होकर आ रहा था। मार्ग की थकावट से या किसी अन्य कारण से उसका घोड़ा मर गया। जो सामान उससे उठ सका वह तो उसने उठा लिया और बाकी का वहीं छोड़ दिया। मगर उसे भूख इतनी तेज लगी कि वह अत्यंत व्याकुल हो गया। इसी समय एक तरफ से हिरनों का एक झुंड

आ निकला और उसने दौड़कर उनमें से एक बच्चे की टाँग पकड़ ली। झुंड के और हिरण-हिरणियाँ तो भाग गईं पर उस बच्चे की माता वहीं ठिठक गई और अपने बच्चे को दूसरे के हाथ में पड़ा देखकर आँसू बहाने लगी। अपने बालक के लिये उसका दिल फटने लगा।

बच्चे को लेकर सुबुक्तगीन एक पेड़ के नीचे पहुँचा और उसे भून कर खाने का विचार करने लगा। उसने रूमाल से बच्चे की टाँगें बाँध दीं ताकि वह भाग न जाए। उसके बाद वह कुछ दूर जाकर एक पत्थर से अपनी छुरी पैनी करने लगा। इतने में मृगी बच्चे के पास जा पहुँची और वात्सल्यवश बच्चे को चाटने लगी, रोने लगी और अपना स्तन बच्चे की ओर करने लगी। बच्चा बेचारा बँधा हुआ तड़फ रहा था। वह अपनी माता से मिलने और उसका दूध पीने के लिये कितना विकल था यह कौन जान सकता है? मगर विवश था। टाँगें बँधी होने के कारण वह खड़ा भी नहीं हो सकता था। अपने बच्चे की यह हालत देखकर मृगी की क्या हालत हुई होगी, यह कल्पना करना भी कठिन है। माता का भावुक हृदय ही मृगी की अवस्था का अनुमान कर सकता है। मगर वह लाचार थी। वह आँसू बहा रही थी और इधर उधर देखती जाती थी कि कोई किसी ओर से आकर मेरे बच्चे को बचा ले।

इतने में ही छुरी पैनी करके सुबुक्तगीन लौट आया। बच्चे की माँ हिरणी यहाँ भी इसके पास आ पहुँची है, यह देखकर उसको आश्चर्य हुआ। उसने हिरनी के चेहरे पर गहरे विषाद की परछाई देखी और नेत्रों में बहते हुए आँसू देखे। यह देखकर उसका हृदय भी भर आया। वह व्याकुल होकर सोचने लगा

कि मेरे लिए तो यह बच्चा घास-रोटी के बराबर है, पर इस माँ के हृदय में इसके प्रति कितना गहरा प्रेम है ? इसका हृदय इस समय कितना तड़फ रहा होगा ? अपना खाना-पीना छोड़ कर और अपने प्राणों की भी परवाह न करके हिरणी यहाँ तक भागी आई है। धिक्कार है मेरे ऐसे खाने को जिससे दूसरे को घोर व्यथा पहुँच रही है। अब मैं चाहे भूख का मारा मर ही जाऊँ पर अपनी माँ के इस दुलारे को हर्गिज नहीं खाऊँगा।

आखिर उसने बच्चे को छोड़ दिया। बच्चा अपनी माँ से और माता अपने बच्चे से मिलकर चहकने लगे। यह स्वर्गीय दृश्य देखकर सुबुक्तगीन की प्रसन्नता का पार न रहा। इस प्रसन्नता में वह खाना-पीना भी भूल गया। आज उसकी समझ में आया और उसे विश्वास हो गया कि माँ के प्रेम से बढ़कर विश्व में कोई दूसरी चीज नहीं।

मातृ प्रेम के समान संसार में और कोई प्रेम नहीं। मातृ प्रेम संसार की सर्वोत्तम विभूति है, संसार का अमृत है, अतएव जब तक पुत्र गृहस्थ-जीवन से पृथक् होकर साधु नहीं बना है, माता तब तक उसके लिए देवता है।

मातृ-हृदय की तुलना में सभी ने प्रशंसा की है। आज के वैज्ञानिकों का भी यही कहना है कि माता में हृदय का बल होता है। इसी बल के कारण वह सन्तान का पालन करती है और संतान के लिए कष्ट उठाती है। यदि माता में हृदय-बल न होता तो वह स्वयं कष्ट सह करके सन्तान का पालन क्यों करती ? कहा जा सकता है कि माता भविष्य सम्बन्धी आशाओं से प्रेरित होकर सन्तान का पालन करती है। इसके उत्तर में

यही कहा जायगा कि, पशु-पक्षियों को अपनी सन्तान से क्या आशा रहती है ? पक्षी के बच्चे बड़े होकर उड़ जाते हैं। वे न पिता को पहचानते हैं और न माता को ही। फिर पक्षी अपनी सन्तान का पालन क्यों करते हैं ? उन्हें किसी प्रकार की आशा नहीं रहती फिर भी वे अपनी सन्तान का उसी प्रेम के साथ पालन करते हैं। इसका एक मात्र कारण हृदयबल ही है। इस प्रकार मातृ-हृदय संसार की अनूठी सम्पदा है, अनमोल निधि है। यही कारण है, दुनिया में मातृ हृदय की सभी ने प्रशंसा की है।

इस प्रकार माता अपने उत्कट हृदयबल से सन्तान का पालन करती है, लेकिन आजकल के लोग उस हृदय-बल को भूल कर मस्तिष्क के विचारों के अधीन हो जाते हैं और पत्नी के गुलाम बनकर माता की उपेक्षा करते हैं। यह कृतघ्नता नहीं तो क्या है ?

संसार में प्रत्येक प्राणी को सोचना चाहिए कि मेरी माता ने मुझे हृदय-बल से ही पाला है। माता में हृदय बल न होता, करुणा न होती तो वह मेरा पालन क्यों करती ? हृदय-बल के प्रताप से ही वह मेरा रोना सुनकर पालने के पास दौड़ी आती थी और सब काम छोड कर पहले मेरी फरियाद सुनती थी।

माता अपने पुत्र को कभी थप्पड भी मार देती है पर उसका हृदय तो पुत्र के कल्याण की कामना से सदैव परिपूर्ण ही रहता है और इसी से फिर वह उसे पुचकार भी लेती है। माता को थप्पड भी मारनी पडती है और पुचकारना भी पडता है, लेकिन जो भी वह करती है हृदय की प्रेरणा से। उसके हृदय में बालक की एकान्त कल्याणकामना निरंतर वर्तमान रहती है।

कि मेरे लिए तो यह बच्चा पाव-रोटी के बराबर है, पर इस माँ के हृदय में इसके प्रति कितना गहरा प्रेम है ! इसका हृदय इस समय कितना तड़फ रहा होगा ! अपना खाना-पीना छोड़ कर और अपने प्राणों की भी परवाह न करके हिरणी यहाँ तक भागी आई है । धिक्कार है मेरे ऐसे खाने को जिससे दूसरे को घोर व्यथा पहुँच रही है । अब मैं चाहे भूख का मारा मर ही जाऊँ पर अपनी माँ के इस दुलारे को हर्गिज नहीं खाऊँगा ।

आखिर उसने बच्चे को छोड़ दिया । बच्चा अपनी माँ से और माता अपने बच्चे से मिलकर उछलने लगे । यह स्वर्गीय दृश्य देखकर सुबुक्तगीन की प्रसन्नता का पार न रहा । इस प्रसन्नता में वह खाना-पीना भी भूल गया । आज उसकी समझ में आया और उसे विश्वास हो गया कि माँ के प्रेम से बढ़कर विश्व में कोई दूसरी चीज नहीं ।

मातृ प्रेम के समान संसार में और कोई प्रेम नहीं । मातृ प्रेम संसार की सर्वोत्तम विभूति है, संसार का अमृत है, अतएव जब तक पुत्र गृहस्थ-जीवन से पृथक् होकर साधु नहीं बना है, माता तब तक उसके लिए देवता है ।

मातृ-हृदय की दुनिया में सभी ने प्रशंसा की है । आज के वैज्ञानिकों का भी यही कहना है कि माता में हृदय का बल होता है । इसी बल के कारण वह सन्तान का पालन करती है और संतान के लिए कष्ट उठाती है । यदि माता में हृदय-बल न होता तो वह स्वयं कष्ट सह करके सन्तान का पालन क्यों करती ? कहा जा सकता है कि माता भविष्य सम्बन्धी आशाओं से प्रेरित होकर सन्तान का पालन करती है । इसके उत्तर में

यही कहा जायगा कि, पशु-पक्षियों को अपनी सन्तान से क्या आशा रहती है ? पक्षी के बच्चे बड़े होकर उड जाते हैं। वे न पिता को पहचानते हैं और न माता को ही। फिर पक्षी अपनी सन्तान का पालन क्यों करते हैं ? उन्हें किसी प्रकार की आशा नहीं रहती फिर भी वे अपनी सन्तान का उसी प्रेम के साथ पालन करते हैं। इसका एक मात्र कारण हृदयबल ही है। इस प्रकार मातृ-हृदय ससार की अनूठी सम्पदा है, अनमोल निधि है। यही कारण है, दुनिया में मातृ-हृदय की सभी ने प्रशसा की है।

इस प्रकार माता अपने उत्कट हृदयबल से सतान का पालन करती है, लेकिन आजकल के लोग उस हृदय-बल को भूल कर मस्तिष्क के विचारों के अधीन हो जाते हैं और पत्नी के गुलाम बनकर माता की उपेक्षा करते हैं। यह कृतघ्नता नहीं तो क्या है ?

ससार में प्रत्येक प्राणी को सोचना चाहिए कि मेरी माता ने मुझे हृदय-बल से ही पाला है। माता में हृदय-बल न होता, करुणा न होती तो वह मेरा पालन क्यों करती ? हृदय-बल के प्रताप से ही वह मेरा रोना सुनकर पालने के पास दौड़ी आती थी और सब काम छोड कर पहले मेरी फरियाद सुनती थी।

माता अपने पुत्र को कभी थप्पड भी मार देती है पर उसका हृदय तो पुत्र के कल्याण की कामना से सदैव परिपूर्ण ही रहता है और इसी से फिर वह उसे पुचकार भी लेती है। माता को थप्पड भी मारनी पडती है और पुचकारना भी पडता है, लेकिन जो भी वह करती है हृदय की प्रेरणा से। उसके हृदय में बालक की एकान्त कल्याणकामना निरतर वर्तमान रहती है।

५—मातृ भक्ति

पर हृदय-बल न होने अथवा हृदय बल पर मस्तिष्क बल की विजय होने पर ही माता का अपमान किया जाता है और पत्नी की अधीनता स्वीकार की जाती है। यद्यपि संसार में ऐसे ऐसे नरवीर भी हुए हैं जिन्होंने माता के लिये सब कुछ यहाँ तक कि पत्नी को भी त्याग दिया है। लेकिन ऐसे लोग भी कम नहीं हैं जो स्त्री को प्रसन्न रखने के लिये माता का अपमान करने से नहीं चूकते।

हृदय-बल के बिना जगत् का काम क्षण भर भी नहीं चलता। माता में हृदय-बल न होता तो मस्तिष्कबल वाले व्यक्ति का जन्म ही कैसे होता? उसका पालन-पोषण कौन करता? अतएव स्पष्ट है कि मस्तिष्कबल की अपेक्षा हृदय बल की ही अधिक आवश्यकता है। और आवश्यकता ही नहीं पर यह कहना भी अनुचित नहीं कि मस्तिष्क के बल को हृदय बल के अधीन रहना चाहिये। जैसे माता अपने पुत्र को अपने अधीन रखकर उसकी उन्नति करती है उसी प्रकार मस्तिष्कबल को हृदय-बल के अधीन रखकर विकसित करना चाहिये। माता यह कदापि नहीं चाहती कि मेरे पुत्र की उन्नति न हो। वह उन्नति चाहती है और इसीलिये शिक्षा दिलवाती है मगर रखना चाहती है अपनी अधीनता में। वह अपने बालक का निरंकुश होना पसंद नहीं करती। यह बात अलग है कि आज की शिक्षा का ढंग बदला हुआ है और माताएँ भी इसी ढंग से प्रभावित होकर वैसी ही शिक्षा दिलवाती हैं। लेकिन जो कुछ भी वे करती हैं, पुत्र की हितकामना से प्रेरित होकर ही।

पर आज का संसार मस्तिष्कबल से हृदयबल को दबाता चला जा रहा है। यह अनुचित है। जैसे अपनी माता को अपनी पत्नी के पैरों पर गिरने को बाध्य करना उचित नहीं है, उसी प्रकार जिस हृदय बल से आपका जन्म हुआ उस हृदय-बल को कुचलना नीचता है।

अपनी माता को भूलकर पत्नी का गुलाम बन जाना ज्ञान की निशानी नहीं है। जिस माता ने पुत्र का पालन पोषण किया है उसी की उपेक्षा करना क्या पुत्र को उचित है ?

कल्पना करो कि एक आदमी किसी श्रीमंत की लड़की को ब्याह कर लाया है, लड़की छबिली है, बनी ठनी है। और आज-कल की फैशन के अनुसार रहती है। दूसरी ओर उस पुरुष की माता है जो पुराने विचार की है। अब वह पुरुष किसके अधीन होकर रहना चाहेगा ? वास्तव में उसे माता के अधीन रहना चाहिये। उचित तो यही है पर देखा जाता है कि इसके विपरीत पुरुष पत्नी के अधीन हो जाता है। वह यह नहीं सोचता कि सुसर ने मेरी श्रीमंताई देखकर अपनी लड़की दी है पर माता ने क्या देखकर मेरा पालन-पोषण किया है ? माता ने केवल हृदय की प्रेरणा से ही तो मेरा पालन किया है ? उसने और कुछ नहीं देखा। हार्दिक विचारों से प्रेरित होकर ही माता ने मेरे लिये कष्ट उठाये हैं और उस हृदय को भूल जाना या उपेक्षा करना कृतघ्नता है। मगर ऐसा विचार कितनों का होता है ? संसार में आज पत्नी के अधीन होकर माता की उपेक्षा करने वाले ही अधिक होंगे।

माता का स्थान अनोखा होता है। माता पुत्र को जन्म देती है। माता से ही पुत्र को शरीर मिलता है। संतान पर माता

का असीम ऋण है। उस ऋण को चुकाना अत्यन्त कठिन है। मगर क्या आजकल संतान यह समझती है? आज तो कोई २ सपूत ऐसे होते हैं कि नीति की सीख देने के कारण भी अपनी माता का सिर फोड़ने को तैयार हो जाते हैं। औरतों की बातों में आकर पत्नी का अपमान कर बैठते हैं। पर पुराना आदर्श क्या ऐसा था? राम का आदर्श भारत को क्या शिक्षा देता है? राम सोचा करते थे कि माँ अगर आशीर्वाद दे देगी कि जाओ जंगल में रहो तो मैं तो जंगल में भी आनन्द से रहूँगा। ऐसा यह गुण और आदर्श चरित्र भारत को छोड़ कर कहाँ मिल सकता है? नैपोलियन के लिये कहा जाता है कि वह माता का बड़ा भक्त था। वह कहा करता था—तराजू के एक पलड़े में सारे संसार का प्रेम रखूँ और दूसरे पलड़े में मातृप्रेम रखूँ तो मेरा मातृप्रेम ही भारी ठहरेगा।

मातृभक्ति का अनुपम उदाहरण मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र ने उपस्थित किया था। कैकेयी ने राजा दशरथ से अपने दो वरदानों से रामचन्द्र के लिए चौदह वर्ष का वनवास और अपने पुत्र भरत के लिये राज सिंहासन की माँग की। यद्यपि राम को वनवास देना अनुचित एवं अन्यायपूर्ण था फिर भी वनवास के कठोर दुःखों और यातनाओं की चिन्ता न करते हुए रामचन्द्र माता की आज्ञा शिरोधार्य कर वन जाने को उद्यत हो गए। उनकी माता कौशल्या के दुःख की सीमा न रही। उन्हें स्वप्न में भी यह आशा न थी कि कैकेयी वरदान में इस प्रकार की याचना कर बठेगी। वे मातृ-स्नेहवश विकल हो उठीं और मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। अत्यन्त स्नेह से इतने वर्षों तक पालन-पोषण करने वाली माता को अचानक इतना बड़ा

वियोग बिलकुल असह्य सा प्रतीत हुआ। वे अपने पुत्र को क्षण-मात्र के लिए भी आँखों से ओझल नहीं देखना चाहती थीं। वे सर्वदा उसे अपने नयनों में रखकर अपने हृदय को शीतल एवं आह्लादमय करना चाहती थीं। प्रतिक्षण उनके मन में रामचन्द्र की सुन्दर व सजीव मूर्ति व्याप्त रहती थी। क्षण भर भी उन्हें देखकर वे स्वर्गीय सुख का अनुभव करती थीं। पुत्र के बिना उनके लिए कुबेर की समस्त धन सम्पत्ति भी तुच्छ थी। मातृत्व स्नेह को ऐश्वर्य के पलड़े में तो किसी भी तरह नहीं तोला जा सकता।

कौशल्या अत्यन्त विकल हो रही थी यह सोच-सोच कर कि मैं इसका वियोग कैसे सह सकूँगी? प्राण (राम) चले जाने पर यह निष्प्राण शरीर कैसे रहेगा?

इस प्रकार के विचारों से व्यथित कौशल्या मूर्च्छित हो गई। राम आदि ने शीतोपचार करके उन्हें सचेष्ट किया। सचेष्ट होकर आँसू बहाती हुई कौशल्या फिर प्रलाप करने लगीं—हाय, मैं जीवित क्यों हूँ? पुत्र वियोग का यह दारुण दुःख सहने की अपेक्षा मर जाना ही मेरे लिए अच्छा था। मर जाती तो वियोग की ज्वालाओं से तिल-तिल करके जलने से तो बच जाती। मेरा हृदय कैसा वज्र कठोर है कि पुत्र वन को जा रहा है और मैं जी रही हूँ।

कौशल्या की मार्मिक व्यथा का प्रभाव राम पर पड़े बिना न रहा। वे स्वयं व्यथित हो उठे सोचने लगे—अयोध्या की महारानी, प्रतापी दशरथ की पत्नी और राम की माता होकर भी इन्हें कितनी वेदना है! मेरी माता इतनी शोकातुरा!

मगर इनमें इतना मोह क्यों है ? यह माता का मोह और सन्ताप मिटाने के लिए वचन रूपी शीतल जल छिड़कने लगे। कहने लगे—माता! अभी आप धर्म की बात कहती थीं और पिताजी के वरदान को उचित बतलाती थीं और अभी अभी आपकी यह दशा! बुद्धिमती और ज्ञानशीला नारी की यह दशा नहीं होनी चाहिए। यह कायर स्त्रियों को शोभा देता है—राम की माता को नहीं। इतनी कायरता देखकर मेरा भी चित्त विह्वल हो रहा है। जिस माता से मेरा जन्म हुआ उसे इस तरह की कायरता शोभा नहीं देती। आप मेरे लिये दुःख मना रही हैं और मैं स्वेच्छापूर्वक वन जा रहा हूँ! आपको इतना शोक क्यों है ?

सिंहनी एक ही पुत्र जनती है। मगर ऐसा जनती है कि उसे किसी भी समय उसके लिये चिन्ता नहीं करनी पड़ती। सिंहनी गुफा में रहती है और उसका बच्चा जंगल में फिरता रहता है। क्या वह उसके लिये चिन्ता करती है ? वह जानती है कि उसका बच्चा अपनी रक्षा अपने आप कर लेगा। माता! जब सिंहनी अपने बच्चे की चिन्ता नहीं करती तो आप मेरी चिन्ता क्यों करती हैं ? आपकी चिन्ता से तो यह आशय सिद्ध होता है कि राम कायर है और आप कायर की जननी हैं। आप मेरे वन जाने से घबराती हैं पर वन में जाने से ही मेरी महिमा बढ़ सकती है। फिर मैं सदा के लिये नहीं जा रहा हूँ, कभी न कभी लौट कर आप के दर्शन करूँगा ही। आप मुझे जगत् का कल्याणकारी समझती हो मगर आपकी कायरता से तो उलटी ही बात सिद्ध होती है। इस प्रकार अनेकों तरह से मातृभक्त रामचन्द्रजी ने माता को समझाया कि वहीं दुःख से व्यथित

विकल होकर माता वचन भग न करें और मैं माता की आज्ञा न मानने वाला कलकी सिद्ध होऊँ।

इसी प्रकार जब लक्ष्मण भी रामचन्द्रजी के साथ वन जाने को तैयार हो गए तब उनकी माता सुमित्रा पुत्रप्रेम के वशीभूत होकर अत्यत व्याकुल हो उठी। जैसे कुल्हाड़ी से काटने पर कल्पलता गिर जाती है उसी प्रकार वह भी मूर्छित होकर गिर पड़ी। लक्ष्मण यह देख बड़ी चिन्ता में पड गए। सोचने लगे कहीं स्नेह के वश होकर माता मुझे मनाई न कर दे! लेकिन होश में आकर सुमित्रा सोचने लगी हाय, मेरी बहिन कैकेयी ने भी यह कैसा वर माँगा कि राम जैसे आदर्श पुत्र को वन जाना पड़ा। उसने सब किये कराए पर पानी फेर दिया। समस्त अवध-वासियों की आशा मिट्टी में मिल गई। हाय राम! तुम क्यों सकट में पड गए! मगर नहीं; यह मेरी परीक्षा का अवसर है। पुत्र को कर्त्तव्य पथ से च्युत करने वाली माँ कैसी? माँ का मातृत्व इसी में है कि वह पुत्र को निरन्तर उचित मार्ग की ओर अग्रसर करे। स्नेह से विह्वल होकर उचित मार्ग पर जाते हुए पुत्र को लौटा कर कर्त्तव्य भ्रष्ट करना मातृत्व को लज्जित करना है। मैं गौरवमयी माँ हूँ। सारा विश्व मेरे पुत्र की जगह है। मैं जग जननी हूँ।

मातृत्व के गौरव की आभा से दीप्त सुमित्रा ने अपना कर्त्तव्य तत्काल निश्चित कर लिया। मीठी वाणी से उन्होंने लक्ष्मण से कहा—वत्स, जिसमें राम को और तुम्हें सुख हो वही करो। मैं तुम्हारे कर्त्तव्यपालन में तनिक भी बाधक होना नहीं चाहती। थोड़े में इतना ही कहती हूँ कि इतने दिनों तक मैं

तुम्हारी माता और राजा दशरथ तुम्हारे पिता थे। मगर आज से राम तुम्हारे पिता और सीता तुम्हारी माता हुई। तुमने राम के साथ वन जाने का निश्चय किया है यह तुम्हारा नया जन्म है। मैं तेरी पुत्र सम्पत्ति का क्या बखान करूँ ? तू राम के रंग में गहरा रंग गया है यह कम सौभाग्य की बात नहीं है। पुत्र ! तू ने राजमहल त्याग कर राम की सेवा के लिये वन जाने का विचार करके मेरी कूँख को प्रशस्त बना दिया है। तेरी बुद्धि अच्छी है पर फिर भी मैं तुझे कुछ सीख देती हूँ। वत्स ! अप्रमत्त भाव से राम की सेवा करना। उन्हीं को अपना पिता और जानकी को अपनी माता समझना। मैं तुझे राम को सौंपती हूँ। राम को सौंपने के बाद तुझे कोई कष्ट नहीं हो सकता। पुत्र ! अयोध्या वहीं है जहाँ राम हैं। जहाँ सूर्य है वहीं दिन है। जब राम ही अयोध्या छोड़ रहे हैं तो तुम्हारा यहाँ क्या काम है ? इसलिये तुम आनन्द से जाओ। माता पिता गुरु देव बन्धु और सखा को भाव के समान समझ कर उनकी सेवा करना नीति का विधान है। तुम राम को ही सब कुछ समझना और सर्वतोभाव से उन्हीं की सेवा में निरत रहना।

वत्स ! जननी के उदर से जन्म लेने की सार्थकता राम की सेवा करने में ही है। वह तुम्हें अपने जीवन का बहुमूल्य लाभ मिला है। पुत्र ! तू आज बड़भागी हुआ और तेरे पीछे मैं भी भाग्यशालिनी हुई। सब प्रकार के छल-कपट को छोड़कर तेरा सम्पूर्ण मन राम में ही लगा है इसल मैं तुझ पर बार-बार बलि जाती हूँ। मैं उसी को पुत्रवती समझती हूँ जिसका पुत्र सेवाभावी त्यागी परोपकारी स्वार्थ-मद से मुक्त और

सदाचारी हो। जिसके पुत्र में यह गुण नहीं, उस स्त्री का पुत्र को जन्म देना ही वृथा है।

पुत्र सभी स्त्रियाँ चाहती हैं, पर पुत्र कैसा होना चाहिये, यह बात कोई विरली ही समझती है। कहावत है—

जननी जने तो ऐसा जन, के दाता के सूर।
नीतर रेजे बाँझड़ी, मती गमावे नूर॥

अर्थात्—माँ, अगर पुत्र पैदा करना है तो ऐसा करना कि या तो वह दानी हो और या शूरवीर हो। नहीं तो बाँझ भले ही रहना पर अपनी शक्ति को कलंकित नहीं करना।

बहिनें पुत्र तो चाहती हैं पर यह जानना नहीं चाहतीं कि पुत्र कैसा होना चाहिए? पुत्र उत्पन्न हो जाने पर उसे सुसंस्कारी बनाने की कितनी जिम्मेवारी आ जाती है, इस बात पर ध्यान न देने से उनका पुत्र उत्पन्न करना व्यर्थ हो जाता है।

सुमित्रा फिर कहती है—लक्ष्मण! तेरा भाग्योदय करने के लिये ही राम वन में जा रहे हैं। वह अयोध्या में रहते तो उनकी सेवा करने वालों की कमी नहीं रहती। वन में की जाने वाली सेवा तेरी सेवा-मूल्यवान सिद्ध होगी। सेवक की परीक्षा संकट के समय पर ही होती है। राम वन न जाते तो तुम्हारी परीक्षा कैसे होती?

धन्य है सुमित्रा! उसके हृदय में पुत्र वियोग की व्यथा कितनी गहरी होगी? इसका अनुमान लगाना कठिन है। लेकिन उसने धैर्य नहीं छोड़ा। वह लक्ष्मण से कहने लगी—वत्स! राम,

द्वेष, और मोह त्याग करके वन में राम और सीता की सेवा करना। राम के साथ रहकर सब विकार तज देना। जब राम और सीता तेरे साथ हैं तो वन तुझे कष्टदायक नहीं हो सकता है वत्स! मेरा आशीर्वाद है कि तुम दोनों भाई सूर्य और चन्द्र की भाँति जगत् का अंधकार मिटाओ प्रकाश फैलाओ, तुम्हारी कीर्ति अमर हो।

रामचन्द्रजी का वनवास के लिये प्रस्थान कर देने पर तो अवधनिवासी बहुत ही व्याकुल हुए। वे तो चाहते थे कि राम राज्य-सिंहासन को सुशोभित करें। अतः उन्हें लौटाने के लिये फिर सब लोग वन को गए। साथ में कैकेयी भी स्वयं वहाँ पहुँची और उन्हें लौटाने का प्रयत्न करने लगी। यद्यपि वह विमाता थी लेकिन वह बात नहीं थी कि वह कौशल्या सुमित्रा आदि से द्वेष रखती थी तथा राम लक्ष्मण आदि से प्रेम नहीं करती थी। कैकेयी के चरित्र से यह स्पष्ट था कि उसके हृदय में किसी भी प्रकार की मलिनता नहीं थी। वह भी उतनी ही दयालु तथा कोमल स्वभाव वाली थी जितनी कि कौशल्या व सुमित्रा। तीनों सहोदरों कि भाँति एक दूसरे से प्रेम करती थीं। उनके चारों पुत्रों में भी किसी प्रकार का भेद-भाव न था। सुमित्रा लक्ष्मण को भी उतना ही प्रेम करती थी जितना राम को। कौशल्या और कैकेयी ने भरत और राम को अपने पुत्रों की ही भाँति स्नेह किया था। कैकेयी को किन्हीं विशेष परिस्थितियों तथा कुछ गलत फहमियों से दो वरदान माँगने पड़े। उसका पूर्व चरित्र कदापि इतना दूषित नहीं था। राम के वन जाने पर उसे बहुत ही दुःख हुआ। अपने किये पर उसे बहुत पश्चात्ताप हुआ। उसके सहज स्नेह और वात्सल्य पर एक प्रकार की कुबुद्धि का जो आवरण

पड़ गया था, वह छट कर निर्मल स्नेह-रस में परिणत हो गया। क्योंकि आखिर मातृप्रेम ही तो ठहरा! कुछ समय के लिये चाहे माता बच्चे को यातनाएँ तथा ताड़नाएँ भी दे, पर उसका प्रेम तो कहीं नहीं जा सकता। वह तो हृदय की एक सदैव स्थित रहने वाली बहुमूल्य वस्तु है जो माता से कभी पृथक् नहीं की जा सकती। कैकेयी के हृदय से पुत्रप्रेम फूट २ कर बह निकला। वह राम को अयोध्या लौट चलने के लिए आग्रह करने लगी। राम के हृदय में तो माताओं के प्रति कोई भेद-भाव था ही नहीं, वे जरा भी भिन्नता का अनुभव नहीं करते थे।

महारानी कैकेयी ने अत्यन्त सरल हृदय से पश्चात्ताप किया। बोली—'वत्स! जो कुछ होना था सो हो चुका। मुझे कलंक लगना था सो लग गया। अब इस स्थिति का अन्त लाना तुम्हारे हाथ है। मेरा कलंक कम करना हो तो मेरी बात मान कर अयोध्या चलो। तुमने मुझे बहिन कौशल्या के ही समान समझा है तो मेरी बात अवश्य मान लो। मैं अब तक भरत को ही अपना सब से अधिक प्रिय समझती थी। मोहवश मैं मानती थी कि भरत ही मेरा पुत्र है और वही मुझे सबसे अधिक प्रिय होना चाहिए। अपने प्रिय के लिए सब कुछ किया जाता है। इसीलिये मैंने सोचा कि अगर मैंने भरत के लिये वरदान में राज्य न माँगा तो फिर वर माँगना ही किस काम का? लेकिन भरत ने मेरी भूल सुधार दी है। भरत ने मुझे सिखा दिया है कि 'अगर मैं तुम्हें प्रिय हूँ तो राम मुझे प्रिय हैं। तू मेरे प्रिय से छुड़ा कर मुझे सुखी कैसे कर सकती है? यह राज्य तो राम के सामने नगण्य है। मुझ से राम को दूर करना तो मेरे साथ शत्रुता करना है। राज्य मुझे प्यारा नहीं है, मुझे तो राम प्यारे

है ? इस प्रकार भरत के समझाने से मैं समझ गई हूँ कि आपने प्रिय राम के बिछुड़ जाने से भरत निष्प्राण सा हो रहा है। राम तुम मेरे प्रिय के प्रिय हो तो मेरे लिए तो दुगुन प्रिय हो। अब तुम मुझे छोड़कर चलता नहीं रह सकता। यह निश्चय है कि तुम्हारे रहने ही भरत मेरा रह सकता है। तुम्हारे न रहने पर भरत भी मेरा नहीं रह सकता।

कैकयी कहती है—'राम ! मैं नहीं जानती थी कि भरत मेरा नहीं राम का है। अगर मैं जानती कि मैं राम की रहूँ तभी भरत मेरा है नहीं तो भरत भी मेरा नहीं है, तो मैं तुम्हारा राज्य छीनने का प्रयत्न ही न करती। मुझे क्या पता था कि भरत राम को छोड़न वाली माता को त्याग देगा।

अगर आपको माता-पिता परमात्मा का परित्याग कर दें और ऐसी स्थिति हो कि आपको माता-पिता या परमात्मा में से किसी एक को ही चुनना पड़े तो आप किसे चुनेंगे ? माता पिता का परित्याग करेंगे या परमात्मा का ? परमात्मा को त्यागने वाला चाहे कोई भी क्यों न हो उसका त्याग किये बिना कल्याण नहीं हो सकता।

कैकेयी फिर कहने लगी—'मुझे पहले मालूम नहीं था कि तुम भरत को अपने से भी पहिले मानते हो। काश ! मैं पहले समझ गई होती कि तुम भरत का कष्ट मिटाने के लिये इतना महान् कष्ट उठा सकते हो। ऐसा न होता तो तुम्हारा राज्य छीनने की हिम्मत किसमें होती ? खास तौर पर जब दशरथ भी तुम्हारे साथ थे। तुमने महाराज के सामने भरत को और अपने आप को चाँद और कोई चकोर बताया था। वह सच्चाई अब मैं

भलीभांति समझ रही हूँ। मैं अब जान गई कि तुम भरत को प्राणों से भी ज्यादा प्यार करते हो।'

कैकेयी कहती गई—'वत्स ! तुम्हारे राज्य त्याग से सूर्य-वंश के एक नररत्न की परीक्षा हुई है। तुम्हारे वन आने पर लक्ष्मण ने भी सब सुखों का त्याग करके वन जाना पसंद किया। भरत ने राजा होकर भी क्षण भर भी शांति नहीं पाई। शत्रुघ्न भी बेहद दुःखी हो रहा है। चारों भाइयों में से एक भी अपना स्वार्थ नहीं देखता है। सभी एक दूसरे को सुखी करने के लिये अधिक से अधिक त्याग करने के लिये तैयार हैं। सब का सब पर अपार स्नेह है। तुम्हारा यह भ्रातृप्रेम मेरे कारण ही प्रकट हुआ है। इस दृष्टिकोण से मेरा पाप भी पुण्य सा हो गया है और मुझे संतोष दे रहा है। भले ही मैंने अप्रशस्त कार्य किया है किन्तु फल उसका यह हुआ कि चिरकाल तक लोग भ्रातृप्रेम के लिए तुम लोगों का स्मरण करेंगे। कीचड़ कीचड़ ही है पर कमल उत्पन्न होने से कीचड़ की भी शोभा बढ़ जाती है। मेरा अनुचित कृत्य भी इस प्रकार अच्छा हो गया। मैं अच्छी हूँ या बुरी, जैसी भी हूँ सो हूँ। मगर तुम्हारा अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध है। मेरी लाज आज तुम्हारे हाथ में है। अयोध्या लौटने पर ही उसकी रक्षा होगी, अन्यथा मेरे नाम पर जो धिक्कार दिया जा रहा है वह बंद न होगा।'

कैकेयी में अपनी भूल सुधारने का साहस था। इसी कारण उसने बिगड़ी बात बना ली। वह कहने लगी—'राम मैं तर्क नहीं जानती। मुझे वाद-विवाद करना नहीं आता। मैं राजनीति से अनभिज्ञ हूँ। मेरे पास सिर्फ अधीर हृदय है।

अधीर हृदय लेकर मैं तुम्हारे पास आई हूँ। मैं माता हूँ और तुम मेरे बालक हो फिर भी प्रार्थना करती हूँ कि अब अयोध्या लौट चलो। 'गई सो गई अब राख रही को।' बीती बात को बार-बार याद करके वर्त्तमान की रक्षा न करना अच्छा नहीं है।

हे राम! इस परिवर्त्तनशील संसार में एक सा कौन रहता है? सूर्य भी प्रतिदिन तीन अवस्थाएँ धारण करता है। इसी प्रकार सभी कुछ बदलता रहता है। तो फिर तुम्हारी इस स्थिति में परिवर्तन क्यों नहीं होगा? मेरे भाग्य ने मेरे साथ छल किया था इससे मुझे अपयश मिला लेकिन मेरा भाग्य अब बदल गया है और इसी कारण मुझे अपनी भूल मालूम पड़ी है। अब मैं पहले वाली कैकेयी नहीं हूँ। पुत्र! मैं तुम्हारे निहोरे करती हूँ कि अब तुम अयोध्या वापिस लौट चलो।

रामचन्द्रजी अभी तक माता की बातें सुन रहे थे। अब उन्होंने नम्रतापूर्वक मुस्कराते हुए कहा—माताजी बचपन से ही आपका मातृस्नेह मुझ पर रहा है और अब भी वह वैसा ही है। आप माता हैं मैं आपका पुत्र हूँ। माता को पुत्र के आगे इतना अधीर नहीं होना चाहिए। आपने ऐसा किया ही क्या है जिसके लिए इतना खेद और पश्चात्ताप करना पड़े? राज्य कोई बड़ी चीज नहीं है और वह भी मेरे भाई के लिए ही आपने माँगा था किसी गैर के लिए नहीं। जब मैं और भरत दो नहीं हैं तब तो यह प्रश्न ही नहीं उठता कि कौन राजा है और कौन नहीं? इतनी साधारण-सी बात को इतना अधिक महत्त्व मिल गया है। आप चिन्ता न करें। मेरे मन में तनिक भी मैल नहीं है। भरत ने एक जिम्मेवारी लेकर मुझे दूसरा काम करने के लिए स्वतन्त्र कर दिया है।'

'माताजी ! जहाँ माँ बेटे का सम्बन्ध हो वहाँ इतनी लम्बी बात-चीत की आवश्यकता ही नहीं है। आपके सम्पूर्ण कथन का सार यही है कि मैं अवध को लौट चलूँ। लेकिन यह कहना माता के लिए उचित नहीं है। आप शान्त और स्थिर चित्त हो विचार करें कि ऐसी आज्ञा देना क्या उचित होगा ? आपकी आज्ञा मुझे सदैव शिरोधार्य है। माता की आज्ञा का पालन करना पुत्र का कर्त्तव्य है। लेकिन माता ! तुम्हीं ने तो मुझे पाल-पोस कर एक विशिष्ट साँचे में ढाला है। मुझे इस योग्य बनाया है। इसलिये मैं तो आपकी आज्ञा पालन करूँगा ही, मगर निवेदन यही है कि आप उस साँचे को न भूलें जिसमें आपने मुझे ढाला है। मेरे लिए एक ओर आप हैं और दूसरी ओर सारा संसार है। सारे संसार की उपेक्षा करके भी मैं आपकी आज्ञा मानना उचित समझूँगा।'

'माताजी आपका आदेश मेरे लिए सब से बड़ा है और उसकी अवहेलना करना बहुत बड़ा पाप होगा। लेकिन यह बात आप स्वयं सोच लें कि आपका आदेश कैसा होना चाहिए ? आप मुझसे अवध चलने को कहती हैं, यह तो आप अपनी आज्ञा की अवहेलना कर रही हैं। मैंने आपकी आज्ञा पालन करने के लिये ही वनवास स्वीकार किया है। क्या अब आपकी ही आज्ञा की अवहेलना करना उचित होगा ? इस साँचे में आपने मुझे ढाला ही नहीं है। रघुवंश की महारानियाँ एक बार जो आज्ञा देती हैं फिर उसका कदापि उल्लंघन नहीं करतीं।'

आप कह सकती हैं कि क्या मेरा और भरत का यहाँ आना असफल हुआ ? लेकिन यह बात नहीं है। आपका आगमन सफल हुआ है। यहाँ आने पर ही आपको मालूम हुआ

होगा कि आपका आदेश मेरे सिर पर है। पहले आप सोचती होंगी कि वन में राम आदि दुखी हैं, यहाँ आने पर आपको मालूम हो गया कि हम तीनों यहाँ सुखी हैं। क्या आपको इस सीता के चेहरे पर कहीं दुःख की रेखा भी दिखाई पड़ती है? हमने संसार को यह दिखा दिया कि सुख अपने मन में है कहीं बाहर से नहीं आता।

'माता! आपने यहाँ आकर देख लिया कि राम लक्ष्मण और जानकी दुखी नहीं हैं वरन् सन्तुष्ट और सुखी हैं। अगर अब भी आपको विश्वास न हो तो हम फिर भी कभी विश्वास दिला देंगे कि हम प्रत्येक परिस्थिति में आनन्दमय ही रहते हैं, कभी दुखी नहीं होते। सूर्यकुल में जन्म लेने वालों की प्रतिज्ञा होती है कि वे प्राण जाते समय भी आनन्द मानें लेकिन वचन भंग होते समय प्राण जाने की अपेक्षा अधिक दुःख मानें। पिताजी ने भी यही कहा था ऐसी दशा में आप अयोध्या ले चलकर मेरे प्रण को भंग करेंगी और मुझे दुःख में डालेंगी? अगर आप सूर्यकुल की परम्परा को कायम रहने देना चाहती हैं, और मेरे प्रण को भंग नहीं होने देना चाहतीं तो अयोध्या लौटने का आग्रह न करें। साथ ही साथ आत्म-ग्लानि की भावना का भी परित्याग कर दें। मैं स्वेच्छा से ही वनवास कर रहा हूँ। इसमें आपका कोई दोष नहीं है। विशेषतः इस दशा में जब कि आप स्वयं आकर अयोध्या लौट चलने का आग्रह कर रही हैं। तो इसमें आपका दोष कैसे हो सकता है?

माताजी ! मैंने जो कुछ भी कहा है स्वच्छ अंतःकरण से ही कहा है । आप उस पर विश्वास कीजिये । आप मेरी गौरवमयी माँ हैं । ऐसा मन में विचार कर प्रसन्नतापूर्वक मुझे वनवास का आदेश दीजिये ।

इस प्रकार मातृप्रेम व वात्सल्य का उदाहरण कैकेयी ने उपस्थित कर भारतीय नारियों के लिए एक आदर्श स्थापित किया । विमाता होते हुए भी उसके हृदय में स्नेह की धाराएँ सदा प्रवाहित होती थीं । किन्हीं परिस्थितियों में या अज्ञानता-वश चाहे कुछ समय के लिए माता बच्चे पर नाराज भी हो उठे, पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह उससे स्नेह नहीं करती । बाल्यकाल में माताओं के इन्हीं संस्कारों का ही तो परिणाम था, जिनके कारण राम के ऐसे आदर्श व्यक्तित्व और चरित्र की नींव पड़ी । अगर माताएँ योग्य न होतीं, अशिक्षित, असंस्कृत और मूर्ख होतीं तो उनसे क्या आशा की जा सकती थी कि वे रामचन्द्र जैसे पुत्ररत्न को पैदा करतीं ? तीनों विमाताएँ सगी माताओं से किसी भी प्रकार कम न थीं, अतः तीनों के सत्संस्कार चारों पुत्रों पर अंकित थे ।

नाना यातनाएँ सहकर भी रामचन्द्र ने विश्व को बता दिया कि—जब तक माता-पिता खाने पीने को दें, अच्छा पहनने ओढ़ने को दें, खूब सुखपूर्वक रखे, तब तक उनकी सेवा करने में कोई विशेषता नहीं है । विशेषता तो तब है जब माता पिता द्वारा सभी कुछ छीन लेने पर भी पुत्र उनकी उसी प्रकार सेवा करे जैसी पहिले करता था । इस प्रकार सेवा करने वाला पुत्र वास्तव में सच्चा पुत्र है और भाग्यशाली है ।

६—माता का उपकार

माँ बच्चे को जन्म देती है। नौ महीने उदर में रखे हुए नाना तकलीफों का सामना करती है। पैदा होने के बाद तो उसके संकटों की गिनती ही नहीं रहती। फिर भी वह हँसती हँसती पुत्र का मुँह देखकर सब दुःख सहन करती है। माता का पुत्र पर असीम उपकार है। माता बालक को जन्म देती है अतएव कहा जा सकता है कि यह शरीर माता ने दिया है। लेकिन बहुत से लोग माता पिता के महान् उपकारों का विस्मरण करके पीछे से आई हुई स्त्री के मनोहारी हावभाव से मुग्ध होकर उसकी सम्मोहिनी माया के जाल में फँसकर माता-पिता के शत्रु बन जाते हैं और स्त्री की उँगली के इशारे पर नाचते हैं। वह जिस प्रकार नचाती है, पुरुष बन्दर की तरह उसी प्रकार नाचता है। कई लोग तो माता पिता को इतनी पीड़ा देते हैं कि सुनकर हृदय मर्माहत हो उठता है। उन्हें अपशब्द सुनाने मार पीट करने तक की घटनाएँ घटती हैं। यह सब बातें मनुष्य की निम्न दर्जे की कृतघ्नता सूचित करती हैं ?

जिस माता ने अपने यौवन के सौन्दर्य की परवाह न करके अपने हृदय के रस से—दूध से बालक के प्राणों की रक्षा की, जिसने उदर में रहने पर उसकी रक्षा के लिये संयम से रही, प्रसव के पश्चात् जिसने सब प्रकार की इच्छा को ममता के ऊपर न्योछावर कर दिया जो बालक पर अपना सर्वस्व निछावर करने को उद्यत रही जिसकी बदौलत पुत्र पत्नी पाने योग्य बना जिसने अपने पुत्र और पुत्रवधू से अनेकानेक मंसूबे बाँधे उसी माता की वृद्धावस्था में जब दयनीय दशा होती है और वह भी अपने पुत्र के हाथ से, तब उस पूत को क्या कहा जा सकता है ?

इस प्रश्न का उत्तर मिलना आज कठिन है। पुरुषों ने स्त्रियों की आज जो अवहेलना की है, उस अवहेलना की छाया में इस प्रश्न का उत्तर सूझना आज कठिन है।

अगर तटस्थता से विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि महिलावर्ग के प्रति कितना अन्याय किया जा रहा है! पुरुषों ने स्त्रीसमाज को ऐसी परिस्थिति में रखा है जिससे वे निरी बेवकूफ रहना ही अपना कर्त्तव्य समझें। कई पुरुष तो स्त्रियों को पैर की जूती तक कह देने का साहस कर डालते हैं। लेकिन तीर्थंकर की माता को प्रणाम करके इन्द्र क्या बता गया है, इस पर विचार करो। इस पर भी विचार करो कि इन्द्र ने तीर्थंकर की माता को प्रणाम क्यो किया और तीर्थंकर के पिता को प्रणाम क्यों नहीं किया ?

इन्द्र कहता है—'हे रत्नकुक्षि धारिणी! हे जगद्विख्याता! हे महामहिमा-मण्डिता माता! आप धन्य हैं। आपने धर्म तीर्थ की स्थापना करने वाले और भव सागर से पार उतारने वाले, संसार में सुख एवं शान्ति की संस्थापना करने वाले त्रिलोकीनाथ को जन्म दिया है। अम्बे! आप कृतपुण्या और सुलक्षणा हैं। आपने जगत् को पावन किया है।'

अब बताइये कि माता का पक्ष बड़ा होता है या पिता का? पिता को सिर नहीं झुकाता, इसका क्या कारण है? देवों का राजा इन्द्र मनुष्यों में से संसारत्यागियों को छोड़कर अगर किसी को नमस्कार करता है, तो तीर्थंकर भगवान् की माता को ही। और किसी के सामने इन्द्र का मस्तक नहीं झुकता।

इन्द्र ने महारानी त्रिशला को नमस्कार किया तो क्या भूल की थी? या सिद्धार्थ महाराज रानी त्रिशला की अपेक्षा किसी बात में कम थे? महारानी त्रिशला को इन्द्र ने प्रणाम किया। इसका कारण यह है कि भगवान् महावीर माता के ही निकट हैं। भगवान् को बड़ा बताना और भगवान् जिसके प्रति अति सन्निकट हैं उन्हें बड़ा न बताना यह उनका अपमान है।

आजकल चक्कर उल्टा चल रहा है। लोग पूजा-पाठ, जप-तप आदि में इन्द्र की स्थापना करते हैं, बुलाते हैं, उसे चाहते हैं पर इन्द्र भी जिसको प्रणाम करता है ऐसी माता को नहीं चाहते। पर माता कितनी स्नेहमयी होती है! वह पुत्र के सिवाय इन्द्र को भी नहीं चाहती। इन्द्र भगवान् की माता के पास प्रणाम करने आता है पर भगवान् की माता क्या उससे किसी प्रकार की याचना करती है? इन्द्र माता को नमस्कार करता है पर माता इन्द्र को न चाहकर तीर्थंकर को ही चाहती है। ऐसी माता के ऋण से क्या कोई उऋण हो सकता है?

ठाणांग सूत्र में वर्णन आता है कि गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा भगवन्-अगर पुत्र माता पिता को नहलावे वस्त्राभूषण पहनावे भोजन आदि का सब प्रकार से सुख देवे और उन्हें कन्धे पर उठाकर फिरे तो क्या वह माता-पिता के ऋण से उऋण हो सकता है? भगवान् ने उत्तर दिया

णो इणट्ठे समट्ठे।

अर्थात् ऐसा होना संभव नहीं। इतना करके भी पुत्र माता के ऋण से उऋण नहीं हो सकता।

इसका आशय यही है कि वास्तव में इतना करने पर भी माता के उपकार का बदला नहीं चुक सकता। कल्पना कीजिये, किसी आदमी पर करोड़ों का ऋण है। ऋण माँगने वाला ऋणी के घर गया। ऋणी ने उसका आदर सत्कार किया। हाथ जोड़कर कहा-'मैं आपका ऋणी हूँ और ऋण को अवश्य चुकाऊँगा।' अब आप कहिये कि आदर सत्कार करने और हाथ जोड़ने से ही क्या ऋणी ऋणरहित हो गया?

राजा बाग तैयार करवाए और किसी माली को सौंप दे। माली बाग में से दस-बीस फल लाकर राजा को सौंप दे तो क्या वह राजा के ऋण से मुक्त हो जाएगा?

नहीं।

इसी प्रकार यह शरीर रूपी बगीचा माता-पिता के द्वारा बनाया गया है। उनके बनाए शरीर से ही उनकी सेवा की तो क्या विशेषता हो गई? यह शरीर तो उन्हीं का था फिर शरीर से सेवा करके पुत्र उनके उपकार से मुक्त किस प्रकार हो सकता है?

एक माता ने अपने कलियुगी पुत्र से कहा—मैंने तुझे जन्म दिया है। पाल पोसकर बड़ा किया है। जरा इस बात पर विचार तो कर बेटा।

बेटा नई रोशनी का था। उसने कहा—फिजूल बड़बड़ मत कर। तू जन्म देने वाली है कौन? मैं नहीं था तब तू रोती

थी बाँझ कहलाती थी। मैंने जन्म लिया तब तेरे यहाँ बाजे बजे और तेरी बदौलत संसार में पूजा होने लगी। नहीं तो बाँझ समझ कर कोई तेरा मुँह देखना भी पसन्द नहीं करता था। फिर मेरे इस कोमल शरीर को तुम अपना खिलौना बनाया। इससे अपना मनोरंजन किया। लाड़ प्यार करके आनन्द उठाया। इस पर भी उपकार जतलाती हो ?

माता ने कहा मैंने तुझे पेट में रक्खा था ?

बेटा—तुमने जान-बूझकर पेट में थोड़े ही रक्खा था। तुम अपने सुख के लिये प्रयत्न करती थी। इसमें तुम्हारा उपकार ही क्या है ? फिर भी अगर उपकार जतलाती हो तो पेट का किराया ले लो।

यह आज की सभ्यता है। भारतीय संस्कृति आज पश्चिमी सभ्यता का शिकार बनी जा रही है। और भारतीय जनता अपनी पूँजी को नष्ट कर रही है।

माता ने कहा-कोठरी की तरह तू मेरे पेट का भाड़ा देने को तैयार है पर मैंने तुझे अपना दूध भी तो पिलाया है।

बेटा—हम दूध न पीते तो तू मर जाती। तेरे स्तन फटने लगते। अनेक बीमारियाँ हो जातीं। मैंने दूध पीकर तुझे जिन्दा रक्खा है।

माता ने सोचा यह बिगड़ैल बेटा ऐसे नहीं मानेगा। तब उसने कहा अच्छा चल गुरुजी से इसका फैसला करा लें। अगर गुरुजी कहदें कि पुत्र पर माता पिता का उपकार नहीं है

तो मैं अब से कुछ भी नहीं कहूँगी। मैं माता हूँ। मेरा उपकार मान या न मान, मै तेरी सेवा से मुँह नहीं मोड सकूँगी।

माता की बात सुनकर लड़के ने सोचा—शास्त्रवेत्ता तो कहते हैं कि मनुष्य कर्म से जन्म लेता है और पुण्य से पलता है। इसके अतिरिक्त गुरुजी माता पिता की सेवा करने को एकान्त पाप भी कहते हैं। फिर चलने में हर्ज ही क्या है ?

यह सोचकर लडके ने गुरुजी से फैसला कराना स्वीकार कर लिया। वह गुरुजी के पास चला गया।

दोनों माता-पुत्र गुरु के पास पहुँचे। वहाँ माता ने पूछा-'महाराज, शास्त्र में कहीं माता-पिता के उपकार का भी हिसाब बतलाया है या नहीं ? गुरु ने कहा-जिसमें माता पिता के उपकार का वर्णन न हो वह शास्त्र शास्त्र ही नहीं। वेद में माता-पिता के सबंध में कहा है।

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव।

ठाणांग सूत्र में भी ऐसी ही बात कही गई है।

गुरु की बात सुनकर माँने पूछा-माता-पिता का उपकार पुत्र पर है या पुत्र का उपकार माता पिता पर है ?

गुरु ने ठाणांग सूत्र निकाल कर बतलाया और कहा-बेटा अपने माता-पिता के ऋण से कभी उऋण नहीं हो सकता चाहे वह कितनी ही सेवा करे।

गुरु की बात सुनकर पुत्र अपनी माता से कहने लगा देखलो, शास्त्र में भी यही लिखा है न कि सेवा करके पुत्र माता पिता के उपकार से मुक्त नहीं होता ! फिर सेवा करने से क्या लाभ है ?

पुत्र ने जो निष्कर्ष निकाला, उसे सुनकर गुरु बोले-मूर्ख, माता का उपकार अनन्त है और पुत्र की सेवा परिमित है। इस कारण वह उपकार से मुक्त नहीं हो सकता। पावनेदार जब कर्जदार के घर तकाजा करने जाता है तब उसका सत्कार करना तो शिष्टाचार मात्र है। इस सत्कार से ऋण नहीं पट सकता। इसी प्रकार माता-पिता की सेवा करना शिष्टाचार मात्र है। इतना करने से पुत्र उनके उपकारों से मुक्त नहीं हो सकता। पर इससे यह मतलब नहीं निकलता कि माता-पिता की सेवा नहीं करना चाहिये। अपने धर्म का विचार करके पुत्र को माता-पिता की सेवा करना ही चाहिये। माता-पिता ने अपने धर्म का विचार करके तेरा पालन-पोषण किया है। नहीं तो क्या ऐसे माता-पिता नहीं मिलते जो अपनी संतान के प्राण ले लेते हैं ?

गुरु की बात सुनकर माता को कुछ जोर बँधा। उसने कहा-अब सुन ले कि मेरा तुझपर उपकार है या नहीं ? इसके बाद उसने गुरुजी से कहा-महाराज यह मुझसे कहता है कि तू ने पेट में रक्खा है तो उसका भाड़ा ले ले। इस विषय में शास्त्र क्या कहता है ?

प्रश्न सुनकर गुरुजी ने शास्त्र निकालकर बताया। उसमें लिखा था कि गौतम स्वामी के प्रश्न करने पर भगवान् ने उत्तर

दिया कि इस शरीर में तीन अंग माता के, तीन अंग पिता के और शेष अंग दोनों के हैं। मांस, रक्त और मस्तक माता के हैं। हाड़, मज्जा और रोम पिता के हैं। शेष भाग माता और पिता दोनों के सम्मिलित हैं।

माता ने कहा-बेटा! तेरे शरीर का रक्त और मांस मेरा है। हमारी चीजें हमें देदे और इतने दिन इनसे काम लेनेका भाड़ा भी चुकता कर दे।

यह सब सुनकर बेटे की आँख खुली। उसे माता और पिता के उपकारों का ख्याल आया तो उनके प्रति प्रबल भक्ति हुई। वह पश्चात्ताप करके कहने लगा-मैं कुचाल चल रहा था। कुसंगति के कारण मेरी बुद्धि मलीन हो गई थी। इसके बाद वह गुरुजी के चरणों में गिर पड़ा। कहने लगा—माता-पिता का उपकार तो मैं समझ गया पर उस उपकार को समझाने वाले का उपकार समझ सकना कठिन है। आपके अनुग्रह से मैं माता पिता का उपकार समझ सका हूँ।

कहने का आशय यही है कि मातृत्व को समझने के लिये सर्वप्रथम माता-पिता के प्रति श्रद्धा की भावना लाओ।

भले ही पुत्र कितना भी पढा लिखा क्यों न हो, बुद्धि वैभव कितना ही विशाल क्यों न हो, समाज में कितनी ही प्रतिष्ठा क्यों न हो, फिर भी माता के समक्ष विनम्रता धारण करना पुत्र का कर्तव्य है। अगर पुत्र विनीत है तो उसके सद्गुणों का

विकास ही होगा। प्रतिष्ठा में वृद्धि ही होगी। ह्रास होने की तो कोई संभावना ही नहीं की जा सकती। पुत्र अगर माता-पिता का आदर करेगा तो लोग भी उसका आदर करेंगे।

जो अविनीत है, जो माता-पिता की अवज्ञा करता है और जो माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध चलता है, वह कुल के लिये अंगार है। इसीलिये वह अविनीत कहलाता है।

७—संस्कारों का आरोपण

लेकिन अविनय अशिष्टता आदि दुर्गुणों को दूर करने का प्रयत्न सर्वप्रथम बाल्यावस्था में ही माता के द्वारा किया जाना चाहिये। बचपन के संस्कार जीवन भर के लिये होते हैं। माता के सभी अच्छे या बुरे संस्कार बच्चे पर पड़े बिना नहीं रहते। माता अगर चाहे तो अपने सद्गुणों द्वारा बच्चे को गुणवान बना सकती है।

ज्ञानियों का कथन है कि बालक का जितना सुधार बचपन में होता है उतना और कभी नहीं होता। मान लीजिये किसी वृक्ष का अंकुर अभी फूटा है। वह फल फूल नहीं देता। उस अंकुर से काम तो फल फूल आने पर होगा लेकिन फल फूल आदि की समस्त शक्तियाँ उस अंकुर में उस समय भी अव्यक्त रूप में मौजूद रहती हैं। अंकुर अगर जल जाय तो फल फूल आसकी कोई क्रिया नहीं होती।

इसी प्रकार बालक में मनुष्य की सब शक्तियाँ छिपी हुई हैं। योग्य शिक्षा में उसका विकास होने पर समय पाकर उसकी शक्तियाँ खिल उठती हैं। मगर बालक को पालन में डालकर दबा

रखने से उसका विकास नहीं होता। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक जगह लिखा है कि "पाँच वर्ष तक के बालक को सिले कपड़े पहनाने की आवश्यकता नहीं है। इस अवस्था में बालक को कपड़ों से लाद देने का परिणाम वही होता है जो अंकुर को ढाँक देने से होता है। बालक कपड़ा पहिनने से दबा रहता है। प्रकृति ने उसे ऐसी सज्ञा दी है कि कपड़ा उसे सुहाता नहीं और जबर्दस्ती करने पर वह रोने लगता है। लेकिन उसके रोने को मा-बाप उसी तरह नहीं सुनते जैसे भारतीयों के रोने को अंग्रेज नहीं सुनते थे। माताएँ अपने मनोरंजन के लिये या बड़प्पन दिखाने के लिये बच्चे को कपड़ों में जकड़ देती हैं और इतने से संतुष्ट न होकर हाथ-पैरों में गहनों की बेड़ियाँ सी डाल देती हैं। पैरों में बूट पहना देती हैं। -इस प्रकार जैसे उगते हुए अंकुर को ढँक कर उसका सत्यानाश किया जाता है, उसी प्रकार बालक के शरीर को ढँक कर, जकड़ कर उसका विकास रोक दिया जाता है। अशिक्षित स्त्रियां बालक के लिये गहने न मिलने पर रोने लगती हैं, जबकि उन्हें अपना और बच्चे का सौभाग्य मानना चाहिए।"

बच्चों के बचपन में ही संस्कार सुधारने चाहिये। बड़े होने पर तो वह अपने आप सब बातें समझने लगेंगे। मगर उनका झुकाव और उनकी प्रवृत्ति बचपन में पड़े संस्कारों के अनुसार ही होगी।

आजकल बहुत कम माताएँ बच्चों को बचपन में दी जाने वाली शिक्षा के महत्त्व को समझती हैं और अधिकांश माता-पिता शिक्षा को आजीविका का मददगार समझ कर, धनोपार्जन का साधन मान कर ही बच्चों को शिक्षा दिलाते हैं।

इसी कारण वह शिक्षा के विषय में भी कंजूसी करते हैं। लोग छोटे बच्चों के लिये कम वेतन वाले छोटे अध्यापक नियत करते हैं। किन्तु यह बहुत बड़ी भूल है। छोटे बच्चों में अच्छे संस्कार डालने के लिए वयस्क अनुभवी अध्यापक की आवश्यकता होती है।

एक यूरोपियन ने अपनी लड़की को शिक्षा देने के लिये एक विदुषी महिला नियुक्त की। उससे एक सज्जन ने पूछा—आपकी लड़की तो बहुत छोटी है और प्रारंभिक पढ़ाई पढ़ रही है उसके लिये इतनी बड़ी विदुषी की क्या आवश्यकता है? उस यूरोपियन ने उत्तर दिया—'आप इसका रहस्य नहीं समझ सकते। छोटे बच्चों में जितने जल्दी संस्कार डाले जा सकते हैं, बड़ों में नहीं। यह बालिका अच्छा शिक्षण पाने से थोड़े ही दिनों में बुद्धिमती बन जायगी।'

प्राचीनकाल के शिक्षक विद्यार्थियों को यह समझाते थे कि माता-पिता का क्या दर्जा है और उनके प्रति पुत्र का क्या कर्त्तव्य है? आज भी यह बात सिखाने की नितान्त आवश्यकता है।

बालक को संस्कार-सम्पन्न बनाने का उत्तरदायित्व जैसा कि पहले कहा गया है, शिक्षकों पर तो है ही, मगर पिता और विशेषकर ही नहीं पर अनिवार्य रूप से माता पर है। माता के सहयोग के बिना शिक्षक अपने प्रयत्न में पूरी तरह सफल नहीं हो सकता।

यह जो कहा गया है ठीक ही है कि सन्तान तो पशु भी उत्पन्न करते हैं। इसमें मनुष्य की कोई विशेषता नहीं। मनुष्य

की विशेषता सन्तान का समुचित रूप से पालन-पोषण करके सुसंस्कारी बनाने में है।

शिक्षक के साथ बालक के माता-पिता का सहयोग नितांत जरूरी है। मान लीजिये शिक्षक पाठशाला में बालक को सत्य बोलने की सीख देता है और स्वयं भी सत्य बोल कर उसके सामने आदर्श उपस्थित करता है, मगर बालक जब घर पर आता है और अपनी माता को एक पैसे के लिये झूठ बोलते देखता है तो पाठशाला का उपदेश समाप्त हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में वह किसका अनुकरण करे ? शिक्षक का या माता का ? शिक्षक ने ही तो बालक को मां के प्रति भक्तिभाव रखने का उपदेश दिया है। उस उपदेश के अनुसार भी वह माता के असत्य से घृणा नहीं कर सकता। बहुत सूक्ष्म विचार करने की उसमें बुद्धि ही कहां है ? बालक के सामने जब इस प्रकार की गड़बड़ उपस्थित हो जाती है; इस प्रकार की विरोधी परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं तो वह अपने आप ही मार्ग निकाल लेता है। वह सोचता है—कहना तो यही चाहिये कि असत्य मत बोलो, सत्य भाषण ही करो, मगर काम पड़ने पर मां की तरह असत्य का प्रयोग करना चाहिये। ऐसा ही कुछ निर्णय करके बालक या तो ढोंगी बन जाता है या असत्यवादी, किन्तु सत्य का उपदेशक बन जाता है। इस प्रकार का विरोधी वातावरण बालकों के सुधार में बहुत बाधक है।

अतएव आज घर में और पाठशाला में जो महान् अन्तर है उसे मिटाना पड़ेगा। प्रत्येक घर पाठशाला का पूरक हो और पाठशाला घर की पूर्ति करे तभी दोनों मिलकर बालकों के सुधार का महत्वपूर्ण कार्य कर सकेंगे।

होता हुआ अपने घर जाने के लिये निकला। रास्ते में वह विचार करने लगा—आज मेरी माँ मेरी पराक्रम-गाथा सुनकर बहुत प्रसन्न होगी। घर पहुँच कर वह सीधा माता को प्रणाम करने व आशीर्वाद लेने गया। पर जब वह माता के पास पहुँचा तो उसने देखा—माता रुष्ट है और पीठ देकर बैठी है। माता को रुष्ट व क्रुद्ध देखकर विचार करने लगा—मुझसे ऐसा कौनसा अपराध बन गया है कि माता क्रुद्ध और रुष्ट हुई है।

आजकल का पुत्र होता तो मनमाना मुंह देता। परन्तु उस क्षत्रिय-पुत्र को तो पहले से ही औरोचित शिक्षा दी गई थी कि:—

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।

अर्थात्—माता देव तुल्य है, पिता देव तुल्य है और आचार्य देव तुल्य है। अतएव माता-पिता और आचार्य की आज्ञा की अवज्ञा नहीं करनी चाहिये।

यह सुशिक्षा मिलने के कारण क्षत्रिय-पुत्र ने नम्रतापूर्वक माता से कहा—माँ मुझसे ऐसा क्या अपराध बन गया है कि आप मुझ पर इतनी क्रुद्ध हैं? मेरा अपराध मुझे बताइये, जिससे मैं उसके लिये क्षमायाचना कर सकूँ।

माता बोली—जिसका पितृहन्ता मौजूद है उसने दूसरे शत्रु को जीता भी तो उससे क्या?

क्षत्रिय-पुत्र ने चकित होकर कहा—क्या मेरे पिता का घात करने वाला मौजूद है?

माता—हाँ, वह अभी जीवित है।

क्षत्रिय-पुत्र—ऐसा है तो अभी तक मुझे बताया क्यों नहीं मां ?

माता—मैं तेरे पराक्रम की जाच कर रही थी। अब मुझे विश्वास हो गया कि तू वीर पुत्र है। जब तू दूसरे शत्रु को परास्त कर चुका है तब अपने पिता का घात करने वाले शत्रु को भी अवश्य पराजित कर सकेगा। तेरा सामर्थ्य देखे बिना शत्रु के साथ भिड़ जाने को कैसे कहती ?

क्षत्रिय-पुत्र माता का कथन सुनकर उत्तेजित होकर कहने लगा—मैं अभी शत्रु को पराजित करने जाता हूँ। अपने पिता के वैर का बदला लिये बिना हर्गिज नहीं लौटूंगा। इतना कह कर वह उसी समय चल दिया।

दूसरी ओर क्षत्रिय-पुत्र के पिता की हत्या करने वाले क्षत्रिय ने सुना कि—जिसे मैंने मार डाला उसका पुत्र क्रुद्ध होकर अपने पिता का वैर भजाने के लिये मेरे साथ लड़ाई करने आ रहा है। यह सुनकर उस क्षत्रिय ने विचार किया—वह बड़ा वीर है और उसकी शरण में जाना ही हितकर है। इसी में मेरा कल्याण है। इस तरह विचार करके वह स्वयं जाकर क्षत्रिय पुत्र के अधीन हो गया। क्षत्रिय पुत्र उस पितृघातक शत्रु को लेकर माता के पास आया। उसने माता से कहा—इसी क्षत्रिय ने मेरे पिता की हत्या की है। इसे पकड़ कर तुम्हारे पास ले आया हूँ। अब जो तुम कहो वही दण्ड इसे दिया जाय।

माता ने अपने पुत्र से कहा—इसी से पूछ देख कि इसके

माता-पिता सन्तान उत्पन्न करके छुटकारा नहीं पा जाते; किन्तु सन्तान उत्पन्न होने के साथ ही साथ उनका उत्तरदायित्व आरम्भ होता है। शिक्षक को सिपुर्द करने से उनका कार्य पूरा नहीं होता। उन्हें बालक के जीवन-निर्माण के लिये स्वयं अपने जीवन को आदर्शमय बनाना चाहिये। क्योंकि संस्कार सुधार की बहुत बड़ी जिम्मेदारी भी उन पर है। बच्चे को संस्कारी बनाने में ही माँ का असली मातृत्व है।

प्राचीनकाल के माता-पिता बीस-बीस वर्ष तक ब्रह्मचारी रहकर सन्तान उत्पन्न करते थे। इस प्रकार संयमपूर्वक रह कर उत्पन्न की हुई सन्तान ही महापुरुष बन सकती है। आजकल के लोग समझते हैं, हनुमान का नाम जप लेने से ही शारीरिक शक्ति बढ़ जाती है। उन्हें यह नहीं मालूम कि हनुमान के समान वीरपुत्र किस प्रकार उत्पन्न हुआ था? मनमुटाव हो जाने के कारण अंजना और पवनकुमार दोनों बारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करते रहे थे। तभी ऐसी वीर सन्तति उत्पन्न हुई थी। अच्छी और सदाचारी सन्तान उत्पन्न करने के लिये पहले माता-पिता को अच्छा और सदाचारी बनना चाहिये। बबूल के पेड़ में आम नहीं लगता।

माता अपने बालक को जैसा चाहे बना सकती है। माता चाहे तो अपने पुत्र को वीर भी बना सकती है और चाहे तो कायर भी बना सकती है। साधारणतया सिंह का बालक सिंह ही बन सकता है और सूअर का बालक सूअर ही बनता है। उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। परन्तु मनुष्य को इच्छानुसार वीर या कायर बनाया जा सकता है।

एक बार एक क्षत्रिय ने दूसरे क्षत्रिय को जान से मार डाला। मृत क्षत्रिय की पत्नी उस समय गर्भवती थी। वह क्षत्रिय-पत्नी विचार करने लगी—मेरे पति में थोड़ी बहुत कायरता थी, तभी तो उनकी अकाल मृत्यु हुई। वे वीर होते तो अकाल में मृत्यु न होती। क्षत्रिय-पत्नी की इस वीर भावना का उसके गर्भस्थ शिशु पर प्रभाव पड़ा और आगे जाकर वह पुत्र वीर क्षत्रिय बना।

क्षत्रिय पत्नी ने अपने बालक को वीरोचित शिक्षा देकर वीर क्षत्रिय बनाया। क्षत्रियपुत्र वीर होने के कारण राजा का कृपा-पात्र बन गया।

एक दिन राजा ने क्षत्रिय-पुत्र की वीरता की परीक्षा लेने का विचार किया। राजा ने सोचा—शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिये क्षत्रिय पुत्र को भेजने से एक पथ दो काज होंगे। एक तो शत्रु वश में आ जाएगा, दूसरे क्षत्रियपुत्र की परीक्षा भी हो जाएगी।

इस प्रकार विचार कर राजा ने क्षत्रिय पुत्र को शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिये सेना के साथ भेज दिया। क्षत्रिय पुत्र वीर था। वह तैयार होकर शत्रु को जीतने के लिये चल दिया। उसने शत्रु की सेना को अपनी वीरता का परिचय दिया, परास्त किया और शत्रु राजा को जीवित कैद करके राजा के सामने उपस्थित किया। राजा क्षत्रिय पुत्र का पराक्रम देखकर बहुत ही प्रसन्न हुआ। उसने उचित पुरस्कार देकर उसका सत्कार किया। सारे गाव में क्षत्रिय पुत्र की वीरता की प्रसशा होने लगी। जनता ने भी उसका सन्मान किया। क्षत्रिय पुत्र प्रसन्न

होता हुआ अपने घर जाने के लिये निकला। रास्ते में वह विचार करने लगा—आज मेरी माँ मेरी पराक्रम-गाथा सुनकर बहुत प्रसन्न होगी। घर पहुँच कर वह सीधा माता को प्रणाम करने व आशीर्वाद लेने गया। पर जब वह माता के पास पहुँचा तो उसने देखा—माता रुष्ट है और पीठ देकर बैठी है। माता को रुष्ट व क्रुद्ध देखकर विचार करने लगा—मुझसे ऐसा कौनसा अपराध बन गया है कि माता क्रुद्ध और रुष्ट हुई है।

आजकल का पुत्र होता तो मनचाहा सुना देता। परन्तु उस क्षत्रिय-पुत्र को तो पहले से ही यथोचित शिक्षा दी गई थी कि :—

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।

अर्थात्—माता देव तुल्य है, पिता देव तुल्य है, और आचार्य देव तुल्य है। अतएव माता-पिता और आचार्य की आज्ञा की अवज्ञा नहीं करनी चाहिये।

यह सुशिक्षा मिलने के कारण क्षत्रिय-पुत्र ने नम्रतापूर्वक माता से कहा—माँ, मुझसे ऐसा क्या अपराध बन गया है कि आप मुझ पर इतनी क्रुद्ध हैं? मेरा अपराध मुझे बताइये, जिससे मैं उसके लिये क्षमायाचना कर सकूँ।

माता बोली—जिसका पितृहन्ता मौजूद है उसने दूसरे शत्रु को जीता भी तो उससे क्या?

क्षत्रिय-पुत्र ने चकित होकर कहा—क्या मेरे पिता का घात करने वाला मौजूद है?

माता—हाँ वह अभी जीवित है।

क्षत्रिय-पुत्र—ऐसा है तो अभी तक मुझे बताया क्यों नहीं मां ?

माता—मैं तेरे पराक्रम की जांच कर रही थी। अब मुझे विश्वास हो गया कि तू वीर पुत्र है। जब तू दूसरे शत्रु को परास्त कर चुका है तब अपने पिता का घात करने वाले शत्रु को भी अवश्य पराजित कर सकेगा। तेरा सामर्थ्य देखे बिना शत्रु के साथ भिड़ जाने को कैसे कहती ?

क्षत्रिय-पुत्र माता का कथन सुनकर उत्तेजित होकर कहने लगा—मैं अभी शत्रु को पराजित करने जाता हूँ। अपने पिता के बैर का बदला लिये बिना हर्गिज नहीं लौटूंगा। इतना कह कर वह उसी समय चल दिया।

दूसरी ओर क्षत्रिय-पुत्र के पिता की हत्या करने वाले क्षत्रिय ने सुना कि—जिसे मैंने मार डाला उसका पुत्र क्रुद्ध होकर अपने पिता का बैर भजाने के लिये मेरे साथ लड़ाई करने आ रहा है। यह सुनकर उस क्षत्रिय ने विचार किया—वह बड़ा वीर है और उसकी शरण में जाना ही हितकर है। इसी में मेरा कल्याण है। इस तरह विचार करके वह स्वयं जाकर क्षत्रिय पुत्र के अधीन हो गया। क्षत्रिय-पुत्र उस पितृघातक शत्रु को लेकर माता के पास आया। उसने माता से कहा—इसी क्षत्रिय ने मेरे पिता की हत्या की है। इसे पकड़ कर तुम्हारे पास ले आया हूँ। अब जो तुम कहो वही दण्ड इसे दिया जाय।

माता ने अपने पुत्र से कहा—इसी से पूछ देख कि इसके अपराध का इसे क्या दण्ड मिलना चाहिये ?

पुत्र ने शत्रु से पूछा—बोलो, अपने पिता का बदला तुमसे किस प्रकार लूं ?

शत्रु ने उत्तर दिया—तुम अपने पिता के वैर का बदला उसी प्रकार लो जिस प्रकार शरण में आये हुए मनुष्य से लिया जाता है।

क्षत्रिय-पुत्र की माता सच्ची माँ और क्षत्रियाणी थी। उसका हृदय तुच्छ नहीं विशाल था। माता ने पुत्र से कहा—बेटा ! अब इसे शत्रु नहीं भाई समझ। अब यह शरण में आगया है, तो शरणागत से बदला लेना सर्वथा अनुचित है। शरण में आया हुआ कितना ही बड़ा अपराधी क्यों न हो फिर भी भाई के समान है। अतएव यह तेरा शत्रु नहीं भाई है। मैं अभी भोजन बनाती हूँ। तुम दोनों साथ-साथ बैठ कर आनन्द से जीमो और प्रेमपूर्वक रहो। मैं यही देखना चाहती हूँ।

माता का कथन सुन कर पुत्र ने कहा—माताजी ! तुम पितृघातक शत्रु को भी भाई बनाने को कहती हो पर मेरे हृदय में जो क्रोधाग्नि जल रही है उसे किस प्रकार शांत करूँ ?

माता ने कहा—पुत्र, किसी मनुष्य पर क्रोध उतार कर क्रोध शांत करना कोई वीरता नहीं है। क्रोध पर ही क्रोध उतार कर शांत करना अथवा क्रोध पर विजय प्राप्त करना ही सच्ची वीरता है।

माता का आदेश पाकर पुत्र ने प्रसन्नतापूर्वक अपने पितृहन्ता शत्रु को गले लगाया। दोनों ने सगे भाईयों की तरह साथ साथ भोजन किया।

इसे कहते हैं चतुर माता की सच्ची सीख! पुत्र को सन्मार्ग पर चलाना ही तो सच्चा मातृत्व है।

आजकल पुत्र को जन्म देने की लालसा का तो पार ही नहीं है, पर उसमें उत्तम सस्कार डालने की ओर शायद ही किसी का ध्यान जाता है। माताएँ पुत्र को पाकर ही अपने को धन्य मान बैठती हैं। पर पुत्र को जन्म देते ही कितना महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व सिर पर आ जाता है, यह कल्पना बहुत माताओं को नहीं है। पुत्र को जन्म देकर उसे सुसस्कृत न बनाना घोर नैतिक अपराध है। अगर कोई मा-बाप अपने बालक की आँखों पर पट्टी बाध दें तो आप उन्हें क्या कहेंगे?

निर्दयी!

बालक को देखने की जो शक्ति है उसे रोक देना माता-पिता का धर्म नहीं है। इसके विपरीत उसके नेत्र में अगर कोई रोग है, विकार है, तो उसे दूर करना उनका कर्त्तव्य है।

यह बाह्य चर्म-चक्षु की बात है, चर्म-चक्षु तो बालक के उत्पन्न होने के पश्चात् कुछ समय में अपने आप ही खुल जाते हैं, पर हृदय के चक्षु इस तरह नहीं खुलते। हृदय के चक्षु खोलने के लिये सत्सस्कारों की आवश्यकता पड़ती है। बालकों को अच्छी शिक्षा देने से उनके जीवन का निर्माण होता है।

सन्तति-नियमन

इस ज़माने में जननेन्द्रिय की लोलुपता ने प्रचण्ड रूप धारण किया है और इसके फलस्वरूप सन्तानोत्पत्ति में वृद्धि हो रही है। सन्तानों की इस बढ़ती को देखकर कई लोग यह सोचने लगे हैं कि ग़रीब भारतवर्ष के लिए सन्तान-वृद्धि एक असह्य भार है। इस भार से भारत को बचाने के लिए उपाय ईजाद किया गया है कि सन्तान की उत्पत्ति के स्थान को ही नष्ट कर दिया जाय! न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी!

यह उपाय सन्तति-नियमन या सन्तति-निरोध कहलाता है। और इसी विषय पर मुझे अपने विचार प्रकट करने हैं। इस विषय का न तो मेरा अधिक अभ्यास है और न अध्ययन ही। पर समाचारपत्रों और कुछ पुस्तकों को पढ़ कर मैं यह जान पाया हूँ कि कुछ लोग यह ज़ोर-शोर से कहते हैं कि—"बढ़ती जाती हुई सन्तान को घटाने के लिए शस्त्र या औषध द्वारा स्त्रियों की जनन शक्ति का नाश कर दिया जाय उनके गर्भाशय का ऑपरेशन कर डाला जाय या फिर उनके गर्भाशय को इतना निर्बल बना दिया जाय कि सन्तान की पैदाइश हो ही न

सके।" इस उपाय द्वारा सन्तति-निरोध करने की आवश्यकता बतलाते हुए वे लोग कहते हैं—

ससार आज बेकारी के बोझ से दबा जा रहा है। भारतवर्ष तो विशेष रूप से बेकारी की बीमारी का मारा कराह रहा है। ऐसी दुर्दशा में खर्च में वृद्धि करना उचित कैसे कहा जा सकता है ? इधर सन्तान की वृद्धि के साथ अनिवार्य रूप से व्यय में वृद्धि होती है। सन्तान जब उत्पन्न होती है तब भी खर्च होता है, उसके पालन-पोषण में खर्च होता है, उसकी शिक्षा-दीक्षा में भी खर्च उठाना पड़ता है। उस दशा में जब कि अपना और अपनी पत्नी का पेट पालना भी दूभर हो पड़ा है, सन्तान उत्पन्न करके खर्च में वृद्धि करना आर्थिक सकट को अपने हाथों आमन्त्रण देना है। आर्थिक सकट के साथ अन्य अनेक कष्ट बढ़ जाते हैं। अतएव स्त्रियों की जनन-शक्ति नष्ट करके यदि सन्तानोत्पत्ति से छुटकारा पा लिया जाय तो बहुत से कष्टों से बचा जा सकता है।

यह आधुनिक सुधारकों का संतति-नियमन के कृत्रिम उपायों के प्रचारकों की प्रधान युक्ति है। इस पर यदि गहरा विचार किया जाय तो साफ मालूम हो जायगा कि यह युक्ति निस्सार है। ससार में बेकारी बढ़ गई है, गरीबी बढ़ गई है, और इससे दु ख बढ गया है, इस कारण सन्तति-नियमन की आवश्यकता है, यह सब तो ठीक है। किन्तु गरीबी और बेकारी की विपदा से बचने के लिए सन्तति निरोध का जो उपाय बताया जाता है वह उपाय प्रत्येक दृष्टि से अत्यन्त ही हानिकारक, निन्दनीय और घृणित है। इस सम्बन्ध में मैं जो सोचता हूँ उसे कोई माने या न माने, यह अपनी-अपनी इच्छा और सस्कार

पर निर्भर है पर मैं अपने विचार प्रकट कर देना चाहता हूँ। आज कल यह कहा जाता है कि यह विचार-स्वातन्त्र्य का युग है। सबको अपने-अपने विचार प्रकट करने का अधिकार है। यदि यह सच है तो मुझे भी अपने विचार प्रकट करने का अधिकार है। अतएव इस सम्बन्ध में जो बात मेरे मन में आई है वह प्रगट कर देना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

कल्पना करो एक अत्यन्त सुन्दर बगीचा है। इस बगीचे में भांति-भांति के वृक्ष हैं। इन वृक्षों में एक बहुत ही सुन्दर वृक्ष है। भारतीयता की दृष्टि से इस सुन्दर वृक्ष को आम का पेड़ समझा जा सकता है। क्योंकि आम भारतवर्ष का ही वृक्ष है ऐसा सुना जाता है।

समय के परिवर्तन के कारण अथवा जमीन नीरस हो जाने के कारण आम के वृक्ष में यद्यपि फल बहुत लगते हैं किन्तु जो फल पहले सुन्दर स्वादिष्ट और लाभकारक होते थे उनके बदले अब उसमें नीरस और हानिकारक फल आने लगे हैं। अब कुछ लोग जो जनसमाज के हितैषी होने का दावा करते हैं आपस में मिल कर यह विचार करने लगे कि आम के फलों से जनता में फैलने वाली बीमारी का निवारण किस प्रकार किया जाय?

उनमें से एक ने कहा—इसमें आम के पेड़ का तो कोई अपराध नहीं है। पेड़ बेचारा क्या कर सकता है? उसके फलों से जनता को हानि पहुँच रही है और जनता को उस हानि से बचाने का भार बुद्धिमानों पर है, अतएव बुद्धिमानों को ऐसा

कोई उपाय खोजना चाहिए जिससे यह सुन्दर वृक्ष भी नष्ट न हो और उसके फलों से जनता को हानि भी न पहुँचे।

दूसरे ने कहा—मैं ऐसी एक रासायनिक औषधि जानता हूँ जिसे इस वृक्ष की जड़ में डाल देने से वृक्ष फल देना ही बन्द कर देगा। ऐसा करने से सारा झंझट मिट जायगा। उस औषधि के प्रयोग से न तो वृक्ष में फल लगेंगे, न लोग उसके फल खाने पावेंगे। तब फलों द्वारा होने वाली हानि आप ही बन्द हो जायगी।

तीसरे ने कहा—वृक्ष में फल ही न लगने देना उसकी स्वाभाविकता का विनाश करने के समान है। ऐसा किया जायगा तो आम वृक्ष का नाम निशान तक शेष न बचेगा। इसलिए यह उपाय उचित नहीं प्रतीत होता।

चौथे ने कहा—मैं एक ऐसा उपाय बता सकता हूँ जिससे वृक्ष में अधिक फल नहीं आने पाएँगे। जितने फलों की आवश्यकता होगी उतने ही फल आएँगे और शेष सारे नष्ट हो जाएँगे।

पाँचवाँ बोला—इससे लाभ ही क्या हुआ? जितने भी फल नष्ट होने से बच रहेंगे वे तो हानिजनक होंगे ही। वे भी नीरस, निस्तेज और खराब ही होंगे। तो फिर इस उपाय से दुनिया को क्या लाभ होगा? मैं एक ऐसा उपाय जानता हूँ, जिससे वह वृक्ष भी सुन्दर और सुदृढ़ बनेगा और इसके फल भी स्वादिष्ट और स्वास्थ्यकारी होंगे। साथ ही जितने फलों की आवश्यकता होगी उतने ही फल उसमें लगेंगे, अधिक नहीं लगेंगे। वे फल इतने मधुर और लाभप्रद होंगे कि उनसे किसी

को हानि पहुँचने की सम्भावना तक न रहेगी, वरन् लाभ ही लाभ होगा।

चौथे सज्जन ने कहा—यह एकदम अनहोनी बात है। ऐसा कोई भी उपाय सफल नहीं हो सकता। इस उपाय से वृक्ष भी नहीं सुधर सकता और आवश्यकता के अनुसार परिमित फल भी नहीं आ सकते।

पाँचवें ने उत्तर दिया—भाई, तुम्हारा उपाय कारगर हो सकता है और मेरा उपाय नहीं यह क्यों ? मेरी बात का समर्थन करने वाले अनेक प्रमाण मौजूद हैं। प्राचीनकालीन शास्त्र से भी मेरी बात पुष्ट होती है और वर्तमानकालीन व्यवहार से भी सिद्ध हो सकती है। ऐसी दशा में प्रत्यक्ष सिद्ध वस्तु को भी स्वीकार न करना और असम्भव कहकर टाल देना कहाँ तक उचित है ?

इस पाँचवें सज्जन ने अपने कथन के समर्थन में ऐसे प्रमाण उपस्थित किये जिनसे प्रभावित होकर सबने एक स्वर से उसका कथन स्वीकार कर लिया और उसके द्वारा बताया हुआ उपाय सबने पसन्द किया।

यह एक दृष्टान्त है और सन्तति-नियमन[1] के सम्बन्ध में इसे इस प्रकार घटित किया जा सकता है —

यह संसार एक बगीचे के समान है। संसारी जीव इसी बगीचे के वृक्ष हैं। जीव रूपी इन वृक्षों में मानव वृक्ष सबसे श्रेष्ठ है। इस मानव-रूपी वृक्ष में किसी कारण से अति सन्तान रूप फल बहुत लगते हैं और ये फल निःसत्त्व और हानिकारक

होने से भार-रूप प्रतीत होते हैं। अति संतति की बदौलत मनुष्य के फल-वीर्य का ह्रास हो रहा है, खर्च का भार बढ़ गया है, बेकारी बढ़ गई है और अतएव सन्तान भी दुःखी हो रही है।

आज के सुधारक—जो अपने को संसार के और विशेषतः मानव समाज के हितैषी मानते हैं—इस दुरावस्था को समझे और उसे दूर करने के लिये उपायों पर विचार करने लगे।

इन सुधारकों में से एक कहता है—विज्ञान की बदौलत मैंने एक उपाय ऐसा खोज निकाला है, जिससे मनुष्य रूपी वृक्ष कायम रहेगा, उसके सुख सौन्दर्य को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचेगी, और साथ ही उस पर अति संतति-रूप भार भी न पड़ेगा। और वह उपाय यह है कि शस्त्र या औषध के प्रयोग से गर्भाशय का सफाया कर दिया जाय।

इस प्रकार संतति-नियमन के लिये एक व्यक्ति गर्भाशय का नाश करने की सम्मति देता है। दूसरा कहता है कि ऐसा करने से तो मनुष्य समाज ही समूल नष्ट हो जायगा, अतएव यह उपाय प्रयोजनीय नहीं है।

आजकल के सुधारक बढ़ती हुई संतति का निरोध करने के लिये इसी को अंतिम उपाय मानते हैं। बहुत से लोगों को यह उपाय पसंद भी आ गया है और वे इसका प्रचार भी करते हैं। सुना तो यहाँ तक जाता है कि इस उपाय का प्रचार करने के लिए सरकार भी सहायता दे रही है।

लोग यह सोचते हैं कि इस उपाय का प्रयोग करने से

को हानि पहुँचने की सम्भावना तक न रहेगी वरन् लाभ ही लाभ होगा।

चौथे सज्जन ने कहा—यह एकदम अनहोनी बात है। ऐसा कोई भी उपाय सफल नहीं हो सकता। इस उपाय से वृक्ष भी नहीं सुधर सकता और आवश्यकता के अनुसार परिमित फल भी नहीं आ सकते।

पाँचवें ने उत्तर दिया—भाई, तुम्हारा उपाय कारगर हो सकता है और मेरा उपाय नहीं यह क्यों? मेरी बात का समर्थन करने वाले अनेक प्रमाण मौजूद हैं। प्राचीनकालीन शास्त्र से भी मेरी बात पुष्ट होती है और वर्तमानकालीन व्यवहार से भी सिद्ध हो सकती है। ऐसी दशा में प्रत्यक्ष सिद्ध वस्तु को भी स्वीकार न करना और असम्भव कहकर टाल देना कहाँ तक उचित है?

इस पाँचवें सज्जन ने अपने कथन के समर्थन में ऐसे प्रमाण उपस्थित किये जिनसे प्रभावित होकर सबने एक स्वर से उसका कथन स्वीकार कर लिया और उसके द्वारा बताया हुआ उपाय सबने पसन्द किया।

यह एक दृष्टान्त है और सन्तति-नियमन के सम्बन्ध में इसे इस प्रकार घटित किया जा सकता है—

यह संसार एक बगीचे के समान है। संसारी जीव इसी बगीचे के वृक्ष हैं। जीव रूपी इन वृक्षों में मानव वृक्ष सबसे श्रेष्ठ है। इस मानव-रूपी वृक्ष में किसी कारण से अति सन्तान रूप फल बहुत लगते हैं और वे फल निःसत्त्व और हानिकारक

होने से भार-रूप प्रतीत होते हैं। अति संतति की बदौलत मनुष्य के बल-वीर्य का ह्रास हो रहा है, खर्च का भार बढ़ गया है, बेकारी बढ़ गई है और अतएव सन्तान भी दुःखी हो रही है।

आज के सुधारक—जो अपने को संसार के और विशेषतः मानव समाज के हितैषी मानते हैं—इस दुरावस्था को समझे और उसे दूर करने के लिये उपायों पर विचार करने लगे।

इन सुधारकों में से एक कहता है—विज्ञान की बदौलत मैंने एक उपाय ऐसा खोज निकाला है, जिससे मनुष्य रूपी वृक्ष कायम रहेगा, उसके सुख सौन्दर्य को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचेगी, और साथ ही उस पर अति संतति-रूप भार भी न पड़ेगा। और वह उपाय यह है कि शस्त्र या औषध के प्रयोग से गर्भाशय का सफाया कर दिया जाय।

इस प्रकार संतति-नियमन के लिये एक व्यक्ति गर्भाशय का नाश करने की सम्मति देता है। दूसरा कहता है कि ऐसा करने से तो मनुष्य समाज ही समूल नष्ट हो जायगा, अतएव यह उपाय प्रयोजनीय नहीं है।

आजकल के सुधारक बढ़ती हुई संतति का निरोध करने के लिये इसी को अन्तिम उपाय मानते हैं। बहुत से लोगों को यह उपाय पसंद भी आ गया है और वे इसका प्रचार भी करते हैं। सुना तो यहाँ तक जाता है कि इस उपाय का प्रचार करने के लिए सरकार भी सहायता दे रही है।

लोग यह सोचते हैं कि इस उपाय का प्रयोग करने से

को हानि पहुँचने की सम्भावना तक न रहेगी, वरन् लाभ ही लाभ होगा।

चौथे सज्जन ने कहा—यह एकदम अनहोनी बात है। ऐसा कोई भी उपाय सफल नहीं हो सकता। इस उपाय से वृक्ष भी नहीं सुधर सकता और आवश्यकता के अनुसार परिमित फल भी नहीं आ सकते।

पाँचवें ने उत्तर दिया—भाई, तुम्हारा उपाय कारगर हो सकता है और मेरा उपाय नहीं यह क्यों? मेरी बात का समर्थन करने वाले अनेक प्रमाण मौजूद हैं। प्राचीनकालीन शास्त्र से भी मेरी बात पुष्ट होती है और वर्तमानकालीन व्यवहार से भी सिद्ध हो सकती है। ऐसी दशा में प्रत्यक्ष सिद्ध वस्तु को भी स्वीकार न करना और असम्भव कहकर टाल देना कहाँ तक उचित है?

इस पाँचवें सज्जन ने अपने कथन के समर्थन में ऐसे प्रमाण उपस्थित किये जिनसे प्रभावित होकर सबने एक स्वर से उसका कथन स्वीकार कर लिया और उसके द्वारा बताया हुआ उपाय सबने पसन्द किया।

यह एक दृष्टान्त है और सन्तति-नियमन के सम्बन्ध में इसे इस प्रकार घटित किया जा सकता है—

यह संसार एक बगीचे के समान है। संसारी जीव इसी बगीचे के वृक्ष हैं। जीव रूपी इन वृक्षों में मानव वृक्ष सबसे श्रेष्ठ है। इस मानव-रूपी वृक्ष में किसी कारण से अति सन्तान रूप फल बहुत लगते हैं और वे फल निःसत्व और हानिकारक

होने से भार-रूप प्रतीत होते हैं। अति सतति की बदौलत मनुष्य के फल-वीर्य का ह्रास हो रहा है, खर्च का भार बढ़ गया है, बेकारी बढ़ गई है और अतएव सन्तान भी दुःखी हो रही है।

आज के सुधारक—जो अपने को संसार के और विशेषत. मानव समाज के हितैषी मानते हैं—इस दुरावस्था को समझे और उसे दूर करने के लिये उपायों पर विचार करने लगे।

इन सुधारकों मे से एक कहता है—विज्ञान की बदौलत मैंने एक उपाय ऐसा खोज निकाला है, जिससे मनुष्य रूपी वृक्ष कायम रहेगा, उसके सुख सौन्दर्य को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचेगी, और साथ ही उस पर अति सतति-रूप भार भी न पड़ेगा। और वह उपाय यह है कि शस्त्र या औषध के प्रयोग से गर्भाशय का सफाया कर दिया जाय।

इस प्रकार सतति-नियमन के लिये एक व्यक्ति गर्भाशय का नाश करने की सम्मति देता है। दूसरा कहता है कि ऐसा करने से तो मनुष्य समाज ही समूल नष्ट हो जायगा, अतएव यह उपाय प्रयोजनीय नहीं है।

आजकल के सुधारक बढ़ती हुई सतति का निरोध करने के लिये इसी को अतिम उपाय मानते हैं। बहुत से लोगों को यह उपाय पसद भी आ गया है और वे इसका प्रचार भी करते हैं। सुना तो यहाँ तक जाता है कि इस उपाय का प्रचार करने के लिए सरकार भी सहायता दे रही है।

लोग यह सोचते हैं कि इस उपाय का प्रयोग करने से

हमारे विषय भोग में भी बाधा नहीं पड़ेगी और हमारे ऊपर संतान का बोझ भी न पड़ेगा। अति संतति की उलझन से भी छुटकारा मिल जायगा और आमोद-प्रमोद में भी कमी न करनी पड़ेगी। जान पड़ता है इसी विचार से प्रेरित होकर लोग इस उपाय का अवलम्बन करने के लिए ललचा उठे हैं।

भगवान् अरिष्टनेमि के जमाने में जिस प्रकार जिह्वा लोलुपता का प्रचार हो रहा था उसी प्रकार आज जननेन्द्रिय अथवा स्पर्शनेन्द्रिय ने प्रायः सर्व साधारण को अपना दास बना लिया है। विषय-लोलुपता के कारण आज की जनता में अपनी संतान के प्रति भी द्रोह की भावना उत्पन्न हो गई है और इसी कारण संतान को विषय भोग में बाधक माना जा रहा है। इस विघ्न बाधा को हटाकर अपनी काम-लिप्सा को निरंकुश और निर्विघ्न बनाने के जघन्य उद्देश्य से प्रेरित होकर ही लोग उपर्युक्त उपाय काम में लाना पसन्द करते हैं। जहाँ विषय-भोग की वासना में वृद्धि होती है वहाँ इस प्रकार की कुत्सित मनोवृत्ति होना स्वाभाविक है। गीता में कहा है—

> *ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते*
> *संगात्सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते।*
> *क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः,*
> *स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥*

इन्द्रिय-लोलुपता किस प्रकार विनाश को जन्म देती है, इसका स्वाभाविक क्रम गीता में इस प्रकार बताया गया है—

विषयों का विचार करने से संग उत्पन्न होता है, संग से काम की उत्पत्ति होती है। काम से क्रोध, क्रोध से सम्मोह अर्थात्

अज्ञान का जन्म होता है, अज्ञान से स्मृति का नाश होता है, स्मृति के नाश के बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और बुद्धि-भ्रष्ट हो जाने के फल स्वरूप सर्वनाश हो जाता है।

आज सतति-नियमन के लिए जिस दृष्टि को सन्मुख रख-कर उपायों की आयोजना की जा रही है और जिन उपायों को कल्याणकारी समझा जा रहा है, उनका भावी परिणाम देखते हुए यही कहा जा सकता है कि यह सब विनाश का पथ है।

जन साधारण के विचार के अनुसार विषय-भोगों का त्याग नहीं किया जा सकता। इसी भ्रान्त विचार के कारण विषय-लालसा जागृत होकर विषय-भोग का सेवन किया जाता है। अधिक से अधिक स्त्री-सग करके विषयों का सेवन किया जाय, ऐसी इच्छा की जाती है। इस इच्छा की पूर्ति के लिए कामोत्तेजक गोलियाँ, याकूती गोलियाँ आदि जीवन को बर्बाद करने वाली चीजों का उपयोग किया जाता है। आजकल विषय-भोग की लालसा इस सीमा तक बढ़ गई है कि जीवन को मटिया-मेट करने वाली, कामवर्धक चीजों के विज्ञापनों को रोकने की ओर तो तनिक भी ध्यान नहीं दिया जाता, उलटे सतति रोकने के लिए कृत्रिम उपायों का आश्रय लिया जा रहा है।

कहने का आशय यह है कि स्त्री सग करने से कामवासना जागृत होती है और उससे क्रोध उत्पन्न होता है। जो काम-वासना को चरितार्थ करने में बाधक हो उस पर क्रोध आना स्वाभाविक ही है। सतान पर क्रोध आने का यही प्रधान कारण है। इस भावना के कारण अपनी प्यारी संतान भी शैतान का अवतार प्रतीत होती है। यही कारण है कि सतान से खर्च में वृद्धि होती है, और वह भोग भोगने में विघ्न उपस्थित करती है।

हमारे विषय भोग में भी बाधा नहीं पड़ेगी और हमारे ऊपर संतान का बोझ भी न पड़ेगा। अति संतति की उलझन से भी छुटकारा मिल जायगा और आमोद-प्रमोद में भी कमी न करनी पड़ेगी। जान पड़ता है इसी विचार से प्रेरित होकर लोग इस उपाय का अवलम्बन करने के लिए उतावले हुए हैं।

भगवान् अरिष्टनेमि के जमाने में जिस प्रकार जिह्वा-लोलुपता का प्रचार हो रहा था उसी प्रकार आज जननेन्द्रिय अथवा स्पर्शनेन्द्रिय ने प्रायः सर्व साधारण को अपना दास बना लिया है। विषय-लोलुपता के कारण आज की जनता में अपनी सन्तान के प्रति भी द्रोह की भावना उत्पन्न हो गई है और इसी कारण संतान को विषय भोग में बाधक माना जा रहा है। इस विघ्न बाधा को हटाकर अपनी काम-लिप्सा को निरंकुश और निर्विघ्न बनाने के जघन्य उद्देश से प्रेरित होकर ही लोग उपर्युक्त उपाय काम में लाना पसन्द करते हैं। जहाँ विषय-भोग की वासना में वृद्धि होती है वहाँ इस प्रकार की कुत्सित मनोवृत्ति होना स्वाभाविक है। गीता में कहा है—

> ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते
> संगात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते।
> क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः,
> स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

इन्द्रिय लोलुपता किस प्रकार विनाश को जन्म देती है, इसका स्वाभाविक क्रम गीता में इस प्रकार बताया गया है—

विषयों का विचार करने से संग उत्पन्न होता है, संग से काम की उत्पत्ति होती है। काम से क्रोध; क्रोध से सम्मोह अर्थात्

यह सोच सकती हैं कि सन्तान की बदौलत ही मेरे गर्भाशय का ऑपरेशन किया जाता है, अतएव ऑपरेशन की झंझट से बचने के लिए सन्तान उत्पन्न होते ही क्यों न उसका गला घोट दूं ?'

शस्त्र-प्रयोग से जब सन्तति की उत्पत्ति रोकी जा सकती है और इस प्रकार सतति के प्रति अन्त करण में बसने वाली स्वाभाविक ममता और दया को तिलांजलि दी जा सकती है, तो यह क्या असभव है कि एक दिन ऐसा आ जाय जब लोग अपनी लूली लंगड़ी या अविनीत सतान का भी वध करने पर उतारू हो जाएँ ?

इस प्रकार सतति-नियमन के लिए किये जाने वाले कृत्रिम उपायों क कारण घोर अनर्थ फैल जाएँगे और मानवीय अन्त:करण में विद्यमान नैसर्गिक दया आदि सद्भावनाएँ समूल नष्ट हो जाएँगी।

यहाँ एक आशका की जा सकती है। वह यह कि जो सतान उत्पन्न हो चुकी हो उसे नष्ट करना तो पाप है, मगर सतान को उत्पन्न न होने देने के लिए गर्भाशय का ऑपरेशन कराना पाप कैसे कहा जा सकता है ?

इस आशका का समाधान यह है। मान लीजिये एक मनुष्य किसी नौका में छेद कर रहा है और उस पर बहुत से मनुष्य सवार हैं। वह मनुष्य नौका पर सवार मनुष्यों को तो मार नहीं रहा है, सिर्फ नौका में छेद कर रहा है। तो क्या यह कहा जा सकता है कि वह सचमुच उन आदमियों के प्राण नहीं ले रहा है ? यदि यह नहीं कहा जा सकता तो यह कैसे कहा जा

इस कारण ऐसे उपायों की योजना की जाती है जिससे संतान पैदा ही न होने पाए। किन्तु यह वृत्ति अत्यन्त भयंकर है। जिस दृष्टि को सम्मुख रखकर आज संतान पर कोप किया जाता है, उसके प्रति द्रोह किया जा रहा है और उसकी उत्पत्ति का नाश किया जा रहा है, उस दृष्टि पर यदि गहरा और दूरदर्शितापूर्ण विचार किया जाय तो जान पड़ेगा कि यह दृष्टि धीरे-धीरे बढ़ती हुई कुछ भी काम न कर सकने वाले—अतएव भार-स्वरूप समझे जाने वाले—वृद्ध और अपाहिज पुरुषों के विनाश के लिये प्रेरित करेगी। इससे जिस प्रकार सन्तान के प्रति व्यवहार किया जा रहा है उसी प्रकार वृद्धों के प्रति भी निर्दयतापूर्ण व्यवहार करने की भावना उत्पन्न होगी। फिर स्त्रियाँ भी यह सोचने लगेंगी कि मेरा पति अब अशक्त और अयोग्य हो गया है। यह मेरे लिये अब भार-स्वरूप है और मेरी स्वतन्त्रता में बाधक है। ऐसी दशा में क्यों न उसका विनाश कर डाला जाय? पुरुष भी इसी प्रकार स्त्रियों को अयोग्य एवं असमर्थ समझ कर उनके विनाश का विचार करेगा। इस प्रकार शस्त्र या औषध का जो कृत्रिम उपाय गर्भ से बचने और संतति-नियमन के काम में लाया जाता है, वही उपाय स्त्री और पुरुष के प्राणों का संहार करने के काम में लाया जाने लगेगा। परिणाम यह होगा कि मानवीय सद्गुणों का नाश हो जायगा, समाज की मधुरता नष्ट हो जायगी, हिंसा-राक्षसी की चंडाल चौकड़ी मच जायगी और जो भयंकर काल अभी दूर है वह एकदम नजदीक आ जायगा।

सन्तति-नियमन के भयंकर और प्रलयंकर उपाय से और भी अनेक अनर्थ उत्पन्न हो सकते हैं। इस उपाय के विषय में स्त्रियाँ

यह सोच सकती हैं कि सन्तान की बदौलत ही मेरे गर्भाशय का ऑपरेशन किया जाता है, अतएव ऑपरेशन की झंझट से बचने के लिए सन्तान उत्पन्न होते ही क्यों न उसका गला घोट दू ?

शस्त्र-प्रयोग से जब सन्तति की उत्पत्ति रोकी जा सकती है और इस प्रकार सतति के प्रति अन्त करण में बसने वाली स्वाभाविक ममता और दया को तिलांजलि दी जा सकती है, तो यह क्या असभव है कि एक दिन ऐसा आ जाय जब लोग अपनी लूली-लंगड़ी या अविनीत सतान का भी वध करने पर उतारू हो जाएँ ?

इस प्रकार सतति-नियमन के लिए किये जाने वाले कृत्रिम उपायों के कारण घोर अनर्थ फैल जाएँगे और मानवीय अन्त करण में विद्यमान नैसर्गिक दया आदि सद्भावनाएँ समूल नष्ट हो जाएँगी।

यहाँ एक आशंका की जा सकती है। वह यह कि जो सतान उत्पन्न हो चुकी हो उसे नष्ट करना तो पाप है, मगर सतान को उत्पन्न न होने देने के लिए गर्भाशय का ऑपरेशन कराना पाप कैसे कहा जा सकता है ?

इस आशका का समाधान यह है। मान लीजिये एक मनुष्य किसी नौका में छेद कर रहा है और उस पर बहुत से मनुष्य सवार हैं। वह मनुष्य नौका पर सवार मनुष्यों को तो मार नहीं रहा है, सिर्फ नौका में छेद कर रहा है। तो क्या यह कहा जा सकता है कि वह सचमुच उन आदमियों के प्राण नहीं ले रहा है ? यदि यह नहीं कहा जा सकता तो यह कैसे कहा जा

इस कारण ऐसे उपायों की योजना की जाती है जिससे संतान पैदा ही न होने पाए। किन्तु यह वृत्ति अत्यन्त भयंकर है। जिस दृष्टि को सम्मुख रखकर आज संतान पर कोप किया जाता है, उसके प्रति द्रोह किया जा रहा है और उसकी उत्पत्ति का नाश किया जा रहा है उस दृष्टि पर यदि गहरा और दूरदर्शितापूर्ण विचार किया जाय तो जान पड़ेगा कि यह दृष्टि धीरे धीरे बढ़ती हुई कुछ भी काम न कर सकने वाले—अतएव भार-स्वरूप समझे जाने वाले-वृद्ध और अपाहिज पुरुषों के विनाश के लिये प्रेरित करेगी। इससे जिस प्रकार सन्तान के प्रति व्यवहार किया जा रहा है उसी प्रकार वृद्धों के प्रति भी निर्दयतापूर्ण व्यवहार करने की भावना उत्पन्न होगी। फिर स्त्रियाँ भी यह सोचने लगेंगी कि मेरा पति अब अशक्त और अयोग्य हो गया है। वह मेरे लिये अब भार-स्वरूप है और मेरी स्वतन्त्रता में बाधक है। ऐसी दशा में क्यों न उसका विनाश कर डाला जाय? पुरुष भी इसी प्रकार स्त्रियों को अयोग्य एवं असमर्थ समझ कर उनके विनाश का विचार करेगा। इस प्रकार शस्त्र या औषध का जो कृत्रिम उपाय गर्भ से बचने और संतति-नियमन के काम में लाया जाता है, वही स्त्री की और पुरुष के प्राणों का संहार करने के काम में लाया जाने लगेगा। परिणाम यह होगा कि मानवीय सद्गुणों का नाश हो जायगा समाज की श्रृंखला भग्न हो जायगी हिंसा-राक्षसी की चंडाल-चौकड़ी मच जायगी और जो भयंकर काल अभी दूर है वह एकदम नजदीक आ जायगा।

सन्तति-नियमन के भयंकर और प्रलयंकर उपाय से और भी अनेक अनर्थ उत्पन्न हो सकते हैं। इस उपाय के विषय में स्त्रियाँ

यह सोच सकती हैं कि सन्तान की बदौलत ही मेरे गर्भाशय का ऑपरेशन किया जाता है, अतएव ऑपरेशन की झंझट से बचने के लिए सन्तान उत्पन्न होते ही क्यों न उसका गला घोट दू ?

शस्त्र-प्रयोग से जब सन्तति की उत्पत्ति रोकी जा सकती है और इस प्रकार सतति के प्रति अन्त करण में बसने वाली स्वाभाविक ममता और दया को तिलांजलि दी जा सकती है, तो यह क्या असभव है कि एक दिन ऐसा आ जाय जब लोग अपनी लूली लगड़ी या अविनीत सतान का भी वध करने पर उतारू हो जाएँ ?

इस प्रकार संतति-नियमन के लिए किये जाने वाले कृत्रिम उपायों के कारण घोर अनर्थ फैल जाएँगे और मानवीय अन्त · करण में विद्यमान नैसर्गिक दया आदि सद्भावनाएँ समूल नष्ट हो जाएँगी।

यहाँ एक आशका की जा सकती है। वह यह कि जो सतान उत्पन्न हो चुकी हो उसे नष्ट करना तो पाप है, मगर सतान को उत्पन्न न होने देने के लिए गर्भाशय का ऑपरेशन कराना पाप कैसे कहा जा सकता है ?

इस आशका का समाधान यह है। मान लीजिये एक मनुष्य किसी नौका में छेद कर रहा है और उस पर बहुत से मनुष्य सवार हैं। वह मनुष्य नौका पर सवार मनुष्यों को तो मार नहीं रहा है, सिर्फ नौका में छेद कर रहा है। तो क्या यह कहा जा सकता है कि वह सचमुच उन आदमियों के प्राण नहीं ले रहा है ? यदि यह नहीं कहा जा सकता तो यह कैसे कहा जा

सकता है कि उत्पत्तिस्थान को नष्ट करके अपने विषयभोग चालू रखने के लिए हिंसा नहीं की जा रही है ? इसके अतिरिक्त जब मनुष्य को परोक्ष हिंसा से घृणा नहीं होगी वरन् जान-बूझकर परोक्ष हिंसा की जायगी तो प्रत्यक्ष हिंसा करने में भी घृणा उठ जायगी।

कहा जा सकता है कि इस बढ़ती जाने वाली संतान का निग्रह किस प्रकार करना चाहिए ? संतान का नियमन न किया जाय तो पिल्लों की तरह संतान बढ़ाते हुए चले जावें ? इस प्रश्न के उत्तर में सबसे पहले हम यह कहना चाहते हैं कि विषयवासना को सदा के लिए ही शांत क्यों न कर दिया जाय ? काम-वासना में वृद्धि क्यों की जाय और स्त्री-प्रसंग क्यों किया जाय ? इस समस्या को हल करने के लिए भीष्म पितामह और भगवान् अरिष्टनेमि का आदर्श सामने रखकर ब्रह्मचर्य का ही पालन क्यों न किया जाय ? ब्रह्मचर्य का पालन यदि पूर्ण रूप से किया जाय तो संतति-नियमन की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होगी।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य का आश्रय होने से संतति-नियमन की समस्या सहज ही सुलझ जाती है। फिर उसके लिए हानिकारक उपायों का अवलम्बन करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। संतति नियमन के लिए ब्रह्मचर्य अमोघ उपाय है। पर विलासी लोग उसका उपयोग न करते हुए चाहते हैं कि न तो विषय भोग का परित्याग करना पड़े और न सन्तान ही उत्पन्न होने पाये। और इस दुरभिसन्धि की पूर्ति के लिए शस्त्र-प्रयोग आदि उपायों से जननशक्ति का ही नाश करने की तरकीबें खोजते हैं। पर स्मरण रहना चाहिए, ब्रह्मचर्य का पालन न करके कृत्रिम उपायों द्वारा सन्तति-नियमन किया जायगा तो इससे भविष्य में भयानक

और असीम हानियाँ होंगी। ब्रह्मचर्य का पालन न करते हुए संतान को कृत्रिम साधनों द्वारा रोका जायगा और पानी की भांति वीर्य का दुरुपयोग किया जायगा तो निर्बलता मानव-समाज को ग्रस लेगी और तब सन्तान की अपेक्षा मनुष्य स्वयं अपने लिए भार-रूप बन जायगा, ऐसा भार जिसे सहारना कठिन हो जायगा।

सन्तति-नियमन के लिए ब्रह्मचर्य ही अमोघ उपाय है—यही प्रशस्त साधन है। इस अमोघ उपाय की उपेक्षा करके—उसका तिरस्कार करके कृत्रिम साधनों से सन्तति-नियमन-करना और विषयभोग का व्यापार चालू रखना निसर्ग के नियमों का अतिक्रमण करना है। और नैसर्गिक नियमों का अतिक्रमण करके कोई भी व्यक्ति और कोई भी समाज सुखी नहीं हो सकता। यदि सन्तति-नियमन का उद्देश्य विषय-भोग का सेवन नहीं है, किन्तु आर्थिक और शारीरिक निर्बलता के कारण ही सन्तति नियमन की आवश्यकता का प्रतिपादन किया जाता है, तो भी ब्रह्मचर्य ही एक मात्र अमोघ उपाय है।

कोई यह कह सकता है कि सन्तति-नियमन के लिए ब्रह्मचर्य उत्तम उपाय तो है, पर विषय-भोग की इच्छा को रोक सकना शक्य नहीं है। ऐसी लाचारी की हालत में ब्रह्मचर्य का उपाय किस प्रकार काम में लाया जाय ?

किसी उपवास चिकित्सक के पास कोई रोगी जाय और चिकित्सक से कहे कि अपने रोग का निवारण करना चाहता हूँ और उपवास-चिकित्सा-पद्धति को अच्छा भी मानता हूँ, पर उपवास करने में असमर्थ हूँ। तो चिकित्सक उस रोगी को क्या

उत्तर देगा ? निस्संदेह वह यही कह सकता है कि अगर उपवास नहीं कर सकते तो आपके रोग की औषधि हम चिकित्सालय में नहीं है ! इसी प्रकार जब तुम विषय-भोग की इच्छा को जीत नहीं सकते, तो ब्रह्मचर्य के सिवाय और क्या इलाज है ? तुम ब्रह्मचर्य पालन नहीं करना चाहते और विषय भोग की प्रवृत्ति चालू रख कर सन्तति का नियमन करना चाहते हो तो, इसका अर्थ यही है कि तुम सन्तति-नियमन के सच्चे उपाय को काम में नहीं लाना चाहते, बल्कि विषय-वासना की पूर्ति में तुम्हें सन्तान बाधक जान पड़ती है इसलिये उसका विरोध करना चाहते हो।

खेद है कि लोगों के मन में यह भ्रम उत्पन्न हो गया है कि विषय-भोग की इच्छा का दमन करना असम्भव है। परन्तु जैसे नैपोलियन ने असम्भव शब्द को कोष में से निकाल डालने को कहा था उसी प्रकार तुम अपने हृदय में से काम-भोग की इच्छा का दमन करने की असम्भवता को निकाल बाहर करो। ऐसा करने से तुम्हारा मनोबल सुदृढ़ बनेगा और तब विषय-भोग की कामना पर विजय प्राप्त करना तनिक भी कठिन न होगा।

मर्यादित ब्रह्मचर्य का पालन करके उत्पन्न की हुई संतान कितनी बलिष्ठ होती है इस बात को समझने के लिए हनुमान की कथा पर विचार करो। हनुमान हमें बल देंगे इस भावना से लोग उनकी पूजा करते हैं पर हनुमान की मूर्ति पर तेल या सिंदूर पोत देने से ही क्या बल की प्राप्ति हो सकती है ? हनुमान को जिस बल की प्राप्ति हुई थी वह ब्रह्मचर्य के प्रताप से हुई थी। वे शील के ही पुत्र थे। पवन महासुन्दरी अंजना का पाणिग्रहण करके उन्हें अपने घर लाये। फिर अंजना के प्रति

उनके हृदय में किंचित् सन्देह उत्पन्न हो गया और इस कारण उन्होंने अंजना का परित्याग कर दिया। उन्होंने इस अवस्था में अपने पर पूर्ण नियंत्रण रक्खा। अंजना ने यह समझ लिया था कि पतिदेव को मेरे विषय में शंका उत्पन्न हो गई है और इसी कारण वे अपने ऊपर पूर्ण अंकुश रखते हुए मुझसे अलग अलग रहते हैं। यह समझ कर अंजना ने भी अपने मन को वशीभूत करने का निश्चय कर लिया।

अंजना की दासी ने एक बार अंजना से कहा—पवनजी तुम्हारे लिए पति नहीं, प्रत्युत पापी हैं। वह जो पति होते तो क्या इस तरह अपनी पत्नी का परित्याग कर देते ?

अंजना ने उत्तर दिया—दासी ! जीभ संभाल कर बोल। मेरे पति की निन्दा मत कर। वे सच्चे धर्मात्मा हैं। वे राजपुत्र हैं—चाहें तो अनेक कन्याओं का पाणिग्रहण कर सकते हैं। पर नहीं, मेरी खातिर वे अपने मन पर संयम रख रहे हैं। मेरे किसी पूर्व-कृत पाप के कारण उन्हें मेरे विषय मे सन्देह उत्पन्न होगया है। जब मेरा पाप दूर हो जायगा तो मेरे पति का सन्देह दूर हो जायगा और तब वे फिर मुझे पहले की तरह चाहने लगेंगे।

एक दिन वह था जब स्त्रियाँ अपने पति का प्रेम सम्पादन करने के लिए आत्म समर्पण करती थीं और आज यह दिन है कि पुनर्विवाह करने के लिए स्त्रियों को भरसक उत्तेजित किया जाता है। उसके हृदय में काम-वासना की आग भड़काई जाती है। पुरुष स्वयं काम-वासना के गुलाम बन रहे हैं और इसी कारण आज विधवा-विवाह या पुनर्विवाह का प्रश्न खड़ा हो गया है। अगर विधवाओं की भाँति पुरुष भी पत्नी की मृत्यु के

पश्चात् ब्रह्मचर्य का पालन करें और त्यागमय जीवन व्यतीत करें तो सहज ही यह प्रश्न हल हो सकता है। किन्तु स्त्री की मृत्यु के बाद पुरुष ऊपर से रोने का ढोंग भले ही करते हों पर नई स्त्री के आने के विचार से हृदय में प्रसन्न होते हैं।

जैसे स्त्रियों के लिए अंजना का आदर्श है, इसी प्रकार पुरुषों के लिए पवनकुमार का आदर्श है। पवनकुमार और अंजना—दोनों ने बारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन किया था। जैसे अंजना बारह वर्ष तक ब्रह्मचारिणी रही उसी प्रकार पवनकुमार १२ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रहे। वह राजकुमार थे। चाहते तो एक और एक विवाह कर लेते अथवा आजकल की तरह दुराचार भी कर सकते थे। पर उन्होंने वह नहीं किया। उन्होंने सोचा जब मैं अपनी पत्नी को पतिव्रता देखना चाहता हूँ तो मैं स्वयं दुराचार करके क्यों भ्रष्ट होऊँ—मैं भी क्यों न पत्नीव्रती बनूं? मैं यह अनर्थ कैसे कर सकता हूँ?

आज का पुरुष-वर्ग स्त्रियों की टीका करने में कमी नहीं रखता पर खुद कैसी-कैसी करतूत कर रहा है, इस ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। पुरुष समझता है मुझे सब कुछ करने का अधिकार है क्योंकि मैं पुरुष हूँ! पर यह पक्षपातपूर्ण बात है। अतएव मैं यह कहता हूँ कि स्त्री और पुरुष दोनों को ही शील का पालन करना चाहिए। शास्त्र में पुरुष के लिए स्वदार संतोष और स्त्री के लिए स्वपति संतोष का पालन करें तो स्त्रियाँ स्वपति संतोष व्रत का पालन क्यों न करेंगी? पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन न हो सके तो भी यदि इस आंशिक व्रत का पालन किया जाय और स्त्री-पुरुष सन्तोषपूर्वक मर्यादित जीवन व्यतीत करें तो सन्तति-नियमन का प्रश्न सहज ही हल हो सकता है।

बारह वर्ष बाद युद्ध में जाते हुए पवनकुमार ने जगल में पड़ाव डाला। वहीं पास में किसी पेड़ के नीचे एक चकवी रो रही थी। पवनकुमार ने अपने मित्र प्रहस्त से उस चकवी के रोने का कारण पूछा। प्रहस्त ने कहा—रात में चकवा-चकवी का वियोग हो जाता है और इसी वियोग की वेदना से व्याकुल होकर यह चकवी रो रही है।

पवनकुमार ने प्रहस्त से कहा—जब यह चकवी केवल एक रात के वियोग से कल्पात मचा रही है, तो मेरी पत्नी के दुःख का क्या ठिकाना होगा जिसे मैंने बारह वर्ष से त्याग रक्खा है! मुझे उसके विषय में सन्देह उत्पन्न हो गया था और इसी कारण मैंने उसका त्याग कर दिया है।

प्रहस्त ने पवन से पूछा—अपनी पत्नी के प्रति आपको क्या सन्देह हो गया था? इस विषय में आपने आज तक मुझसे कुछ भी जिक्र नहीं किया। जिक्र किया होता तो मैं आपके सन्देह का निवारण कर देता।

पवनकुमार ने अपना सन्देह प्रहस्त को बता दिया। प्रहस्त ने कहा—वह सती है। उस पर आपका यह सन्देह अनुचित है। आपका सन्देह सच्चा होता तो वह इतने दिनों तक घर में न बैठी रहती, वह कभी की मायके चली गई होती। आपने जिसे दूषण समझा और जिसके कारण आपको सन्देह हो गया है, वह दूषण नहीं, भूषण है—गुण है।

पवनकुमार सारी बात समझ गये। उनका सन्देह काफूर हो गया। उन्होंने प्रहस्त से कहा—मैंने एक सती-साध्वी स्त्री को

बहुत कष्ट पहुँचाया है। इस समय मैं समरांगण में जा रहा हूँ और कदाचित् मैं युद्ध में मारा गया तो यह दुःख काँटे की तरह मुझे सदा ही सालता रहेगा। क्या ऐसा कोई उपाय नहीं है कि मैं रात भर उसके पास रह कर वापिस लौट सकूँ? प्रहस्त ने कहा—है, क्यों नहीं? मैं ऐसी विद्या जानता हूँ।

आज एरोप्लेन—वायुयान हैं, पर पहले आकाश में उड़ने की विद्या भी थी। इस विद्या के बल से प्रहस्त के साथ पवनकुमार अंजना के निवास-स्थान पर आए। जिस समय पवनकुमार अंजना के पास पहुँच रहे थे, उस समय अंजना की एक दासी उससे कह रही थी—जिसे तुम अपना सुहाग समझती हो तुम्हारे उस पति ने तुम्हारा सम्मान न देकर तुम्हारा अपमान किया है। वास्तव में तुम्हारा पति अत्यन्त क्रूर है। मैं तो सोचती हूँ—वह युद्ध में अवश्य मारा जायगा।

अंजना और उसकी दासी के वार्तालाप से सहज ही यह समझा जा सकेगा कि वास्तव में दासी और रानी में कितना अन्तर होता है! दासी के कथन के उत्तर में अंजना ने कहा—खबरदार जो ऐसी बात मुँह से निकाली! युद्ध में मेरे स्वामी अवश्य विजय प्राप्त करेंगे। मेरी भावना तो निरन्तर यही रहती है कि उन्हें शीघ्र ही विजय प्राप्त हो।

दासी—जिसने तुम्हारा घोर अपमान किया है उसी की तुम विजय चाहती हो! कैसी भोली हो मालकिन!

अंजना—मेरे पतिदेव के हृदय में मेरे विषय में सन्देह उत्पन्न हुआ है। वे मुझे दुराचारिणी समझते हैं और इसी

कारण युद्ध के लिए जाते समय उन्होंने मेरा शकुन नहीं लिया है। मेरे पति महापुरुष और वीर हैं। उन्होंने अपने पिताजी को युद्ध में नहीं जाने दिया और आप स्वयं युद्ध में सम्मिलित होने गये हैं। वे ऐसे शूरवीर हैं और बारह वर्ष से ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे हैं। ऐसे सच्चरित्र और वीर पुरुष की जीत नहीं होगी, तो किसकी होगी?

इस प्रकार अंजना और उसकी दासी में चल रही बातचीत पवनकुमार ने शांत चित्त से सुनी। पवनकुमार अंजना की अपने प्रति अगाध निष्ठा देख कर गद्गद हो गये। प्रहस्त से उन्होंने कहा—मित्र! मैंने इस सती के प्रति अक्षम्य अपराध किया है। अब किस प्रकार इसे अपना मुँह दिखाऊँ?

प्रहस्त ने कहा—थोड़ी देर और धैर्य धारण कीजिए। इतना कह कर प्रहस्त ने अंजना के मकान की खिड़की खड़खड़ाई। खिड़की की खड़खड़ाहट सुन कर अंजना गरज उठी—कौन दुष्ट है जो कुमार को बाहर गया देखकर इस समय आया है? जो भी कोई हो, फौरन यहाँ से भाग जाय, अन्यथा उसे प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा।

प्रहस्त ने उत्तर दिया—और कोई नहीं है। दूसरे किसकी हिम्मत है जो यहाँ आने का विचार भी कर सके। यह पवनकुमारजी हैं और इनके साथ मैं इनका मित्र प्रहस्त हूँ। यह शब्द सुनते ही अंजना के अंग-अंग में मानो बिजली दौड़ गई। उसकी प्रसन्नता का पारावार न रहा। पर जब तक उसे खातिरी न हो गई, उसने किवाड़ न खोले। जब उसने खिड़की में से देखकर यकीन कर लिया, तभी दरवाजा खोला।

अंजना ने अर्घ लेकर अपने प्राण-पति पवनकुमार की आरती उतारी और फिर हाथ-जोड़ नवाते हुए कहा सकुचाते हुए विनम्र वाणी से कहने लगी—'क्षमा करना नाथ मैंने आपको बहुत कष्ट पहुँचाया है।

वह किसने किसे पहुँचाया था ? पवनकुमार ने अंजना को अथवा अंजना ने पवनकुमार को ? वास्तव में तो पवनकुमार ने ही अंजना को कष्ट दिया था। फिर भी अंजना ने इस तरह की शिकायत न करते हुए उल्टा यही कहा कि—'मैंने आपको बहुत कष्ट दिया है ! मेरे कारण ही आपने एक-निष्ठा के साथ बारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य पाला है। इस कष्ट के लिए मुझे क्षमा दीजिए। आपका सन्देह दूर हो गया है, यह जानकर आज मुझे असीम आनन्द की अनुभूति हो रही है।

पवनकुमार ने मन ही मन लजाते हुए कहा—सती ! क्षमादान दो। अनजान में मैंने तुम सरीखी परम सती महिला को मिथ्या कलंक लगाया है। मेरे इस घोर अपराध को क्षमा करो।

अन्त में दोनों का संसार-सम्बन्ध हुआ। दोनों ने बारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य पाला था अतएव पवनकुमार के वीर्य से हनुमान जैसे बली बालक का जन्म हुआ।

आशय यह है कि ब्रह्मचर्यपूर्वक मर्यादित जीवन व्यतीत करने से सन्तान भी बलवान् होती है। अतएव सन्तति नियमन के सम्बन्ध में पवनकुमार का आदर्श सामने रखना चाहिए।

तुम कदाचित् भीष्म और भगवान् अरिष्टनेमि की तरह

पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं रह सकते, तो पवनकुमार की भाँति ब्रह्मचर्य-पूर्वक मर्यादित जीवन तो अवश्य बिता सकते हो । काम-वासना पर काबू नहीं रक्खा जा सकता, इस भ्रमपूर्ण भावना का परित्याग करो। इस दुर्भावना के कारण ही विषय वासना वेगवती बनती है।

मेरे सम्पूर्ण कथन का सार यही है कि इस समय सतति-नियमन की आवश्यकता तो है, पर आजकल उसके लिए शस्त्र-क्रिया या औषध का जो उपाय बताया जाता है, वह सच्चा हितकर उपाय नहीं है। यह उपाय तो प्रत्येक दृष्टि से लाभ के बदले हानि ही पहुँचाएगा। अतएव हानिकारक उपायों का उप-योग न करके सन्ततिनियमन के लिए ब्रह्मचर्य का अमोघ और कल्याणकारी उपाय काम में लाना चाहिए। ब्रह्मचर्य के अवलम्बन से सन्तति का नियमन होगा और जो सन्तान होगी, वह स्वस्थ, सबल और सम्पन्न होगी। साथ ही तुम भी शक्ति शाली और चिरजीवी बन सकोगे।

सन्तति-नियमन करके द्रव्य के अपव्यय या अधिक व्यय से बचना चाहते हो—द्रव्य तुम्हें प्यारा है, तो असली धन—जीवन के मूल और शक्ति के स्रोत वीर्य—के अपव्यय से भी बचने का प्रयास करो। द्रव्य-धन की अपेक्षा वीर्य-धन का मूल्य कहीं अधिक है—बहुत अधिक है। फिर इस ओर दृष्टि-निपात क्यों नहीं करते ?

शस्त्र-क्रिया या औषध के प्रयोग द्वारा सन्तति नियमन करने से अपनी हानि के साथ-साथ परम्परा से दूसरों की भी हानि होगी। इसके अतिरिक्त आजकल तो स्त्री-पुरुष की समा-

नया का प्रश्न भी उपस्थित हो गया है। ऐसी दशा में, सम्भव है स्त्रियों की ओर से यह प्रश्न खड़ा कर दिया जाय कि सन्तति नियमन के लिए हमारे गर्भाशय का ही ऑपरेशन क्यों किया जाय ? क्यों न पुरुषों को ही ऐसा बना दिया जाय जिससे सन्तान की उत्पत्ति ही न हो सके ! पुरुषों की उत्पादक शक्ति का ही विनाश क्यों न कर दिया जाय ?

सन्तति-नियमन के जिन कृत्रिम उपायों के कारण भविष्य में ऐसी भयानक स्थिति उत्पन्न होने की सम्भावना है, उन उपायों का प्रयोग न करना ही विवेकशीलता है। कदाचित् सरकार सन्तति-नियमन के लिए ऐसे कृत्रिम उपायों को काम में लाने के लिए कानून बना दे तो सरकार के उस काले कानून को मानना या न मानना तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है। अगर तुम्हें भी सन्तति-नियमन के कृत्रिम उपाय अनुचित और हानिकारक जान पड़ते हों, तो इन उपायों का परित्याग करो और सन्तति-नियमन के लिए अमोघ उपाय ब्रह्मचर्य का प्रयोग करो। इसी में तुम्हारा, समाज का और अन्ततः विश्व का कल्याण है।

:   :   :   :

आज सन्ततिनिरोध के नाम पर स्त्री का गर्भाशय ऑपरेशन कराके निकलवा डालने का भी रिवाज चल पड़ा है। स्त्री का गर्भाशय निकलवा देने पर चाहे जितना विषय सेवन किया जाय कोई हर्ज नहीं यह मान्यता आजकल बढ़ती जा रही है लेकिन यह पद्धति अपनाने से आपके शील की तथा आपकी कोई कीमत न रहेगी। वीर्यरक्षा करने से ही मनुष्य की कीमत है। वीर्य को पचा जाने में ही बुद्धिमत्ता है।

करना चाहते हैं। यह अच्छी बात है। किन्तु दुःख है कि संतति-नियमन का वास्तविक मार्ग ब्रह्मचर्य का पालन करना है उसे छोड़ कर लोग कृत्रिम उपायों को काम में लाते हैं। अपने विषय-भोग को छोड़ना नहीं चाहते मगर संतति निरोध चाहते हैं। यह प्रशस्त मार्ग नहीं है। इसमें दया भाव भी नहीं है। संतान उत्पन्न होने की क्रिया ही न करना निरोध का ठीक रास्ता है।

गर्भ रह जाने के बाद उसकी संभाल न करना निष्करुणा है। धारिणी राणी को जब गर्भ था वह अधिक ठंडे अधिक गर्म अधिक तीखे कडुवे कसायले खट्टे मीठे पदार्थों का भोजन न करती। ऐसी चीजों पर उसका मन भी दौड़ जाता फिर भी गर्भ की रक्षा के लिए वह अपनी जबान पर काबू रखती थी। वह न अधिक जागती न सोती। न अधिक चलती और न पड़ी रहती।

ब्रह्मचर्य का पालन न करने से गर्भ रह जाय तब यह उत्तर दे देना कि बालक के भाग्य में जैसा होगा वैसा देखा जायगा, नगाईपूर्ण उत्तर है। इस उत्तर में कर्त्तव्य का खयाल नहीं है। किसी को पांच रुपये देने हैं। वह लेने वाले कह दे कि तेरे भाग्य में होगा तो मिल जाय नहीं तो नहीं मिलेंगे। यह उत्तर व्यवहार में नगाई का उत्तर गिना जाता है। इसी प्रकार पहले अपने ऊपर काबू न रखना और बाद में कह देना कि जैसा नसीब में होगा वैसा जायगा, मूर्खता सूचित करता है, केवल मूर्खता ही नहीं किन्तु निर्दयता भी साबित होती है।

होगा दमन की कोशिश करेगा। सब सुधारों का मूल शील है। आप यदि जीवन में शील को स्थान देंगे तो कल्याण होगा।

जब स्त्री गर्भवती होती है तब उसके दो हृदय होते हैं। एक खुद का और दूसरा बालक का। दो हृदय होने के कारण उसकी इच्छा को दोहद कहा जाता है। उसकी इच्छा गर्भ की इच्छा मानी जाती है। जैसा जीव गर्भ में होता है वैसा ही दोहद भी होता है। दोहद के अच्छे बुरे होने का अन्दाजा लगाया जा सकता है। श्रेणिक को कष्ट देने वाला उसका पुत्र कोणिक जब गर्भ में था तब उसकी माता को अपने पति श्रेणिक के कलेजे का मांस खाने की इच्छा उत्पन्न हुई थी। दुर्योधन जब गर्भ में था उसकी माता को कौरव वंश के लोगों के कलेजे खाने की इच्छा हुई थी। गर्भ में जैसा बालक होता है वैसा दोहद होता है। दोहद पर से अन्दाजा लगाया जा सकता है कि गर्भस्थ बालक कैसा होगा। बालक के भूत और भविष्य का पता दोहद से लग सकता है। आजकल सांसारिक प्रपञ्चों का बोझा मगज पर अधिक होता है अतः स्वप्न याद नहीं रहा करते। रात्रि में नदी के बहाव का शब्द जोर से सुनाई देता है इसका अर्थ यह नहीं होता कि रात में नदी जोर का शब्द करती है। वह सदा समान रूप से बहती है। किन्तु उस वक्त वातावरण में शान्ति होने से शब्द स्पष्ट सुनाई देता है। स्वप्न के विषय में भी यही बात है। शास्त्र में सब बातें हैं। यदि उनको ठीक तरह से समझने की कोशिश की जाय तो ज्ञात होगा कि उसमें भूत भविष्य का ज्ञान करने का भी तरीका छिपा हुआ है।

आजकल संतान वृद्धि के कारण लोग संतति-नियमन

की लूट के साथ साथ स्त्रियों को भी लूटा जाता था। उनके साथ खुले आम व्यभिचार होता था। घोड़ा, गाय आदि की तरह ही स्त्रियों को रखा जाता रहा। अपनी वस्तुओं को जैसे छिपाकर रखा जाता है उसी प्रकार औरतों को भी बडे यत्न से परदों और बुरखों में छिपाकर रखा जाता था। सुन्दर स्त्रियों को तो और भी सबकी दृष्टि से बचाकर रखे जाने का प्रयत्न होता था। यही उनकी परतन्त्रता का एक रूप परदे के रूप में अब तक बना हुआ है।

स्त्रियों को दासी समझने के विचार कोई नए नहीं, लम्बे समय से ऐसा दृष्टिकोण चला आ रहा है। बौद्ध साहित्य में भी स्त्रियों की हालत बहुत गिरी हुई रखी गई थी। बड़ी मुश्किल से बाद में सघ के अन्दर स्त्रियों के प्रवेश की आज्ञा मिली पर बुद्ध ने कहा था कि यह उचित न रहेगा। इस प्रवेश से संघ का पतन शीघ्र हो जायगा। पारसियों के धर्म ग्रन्थों के अनुसार पत्नी को प्रात काल उठकर पति से नौ बार यह पूछना चाहिए कि मैं क्या करू ? मुसलमानों को चार स्त्रियों तक एक साथ रखने की स्वतन्त्रता है। पुरुषों की प्रतियोगिता में उनके अधिकार आधे माने गए हैं। इसी प्रकार यहूदी और ईसाई धर्म में भी स्त्रियों को पुरुषों के मुकाबले में बहुत कम अधिकार दिए गए। ईसाईमत में तो स्त्रियों में आत्मा भी नहीं मानी गई। उनके धर्मानुसार पुरुषों को स्त्रियों पर शासन करने का अधिकार है और स्त्रियों का कर्त्तव्य उनसे शासित होना है। प्रथम महायुद्ध से पहिले तक उन्हें पादरी बनने आज्ञा न थी।

स्त्रियों को बहुत समय तक परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ कर रखा गया। परदा उसी का ध्वसावशेष है। परदा रखना पूर्ण

पर्दा

पाश्चात्य और बहुत से पूर्वी देशों में भी बहुत प्राचीन काल से समाज में स्त्रियों की स्थिति पुरुषों की अपेक्षा सदैव नीची ही रही। उन्हें पुरुषों के ही एक अधिकार की वस्तु समझा जाता रहा। भारतवर्ष में भी अत्यन्त प्राचीन काल को छोड़ दिया जाय तो भी यही स्पष्ट होगा कि यद्यपि 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' का सिद्धान्त मान्य था फिर भी उनकी हालत पुरुषों सरीखी नहीं थी। उन्हें पति की आज्ञा मानना पति चाहे जैसा व्यसनी हो उसकी सेवा करना उसके लिए सर्वस्व समर्पण करना ही श्रेष्ठ था। यद्यपि पुरुष भी पत्नी के प्रति अपने कर्तव्य के लिए स्वच्छंद न थे पर फिर भी स्त्रियों के प्रति कुछ नीची दृष्टि अवश्य थी। अन्य देशों में तो स्त्रियों को बिलकुल पुरुष की जायदाद ही समझा जाता था। उसके अधिकार में अन्य वस्तुओं की तरह वह भी एक थी। वह अपनी मर्जी से चाहे जितनी शादियाँ कर सकता था। जब उसकी इच्छा हो उन्हें छोड़कर अन्य पुरुषों को दे सकता था। किन्हीं अन्य सुन्दर स्त्रियों को चुराने की प्रथा भी थी। युद्धादि के बाद अन्य वस्तुओं

की लूट के साथ साथ स्त्रियों को भी लूटा जाता था। उनके साथ खुले आम व्यभिचार होता था। घोड़ा, गाय आदि की तरह ही स्त्रियों को रखा जाता रहा। अपनी वस्तुओं को जैसे छिपाकर रखा जाता है उसी प्रकार औरतों को भी बड़े यत्न से परदों और बुरखों में छिपाकर रखा जाता था। सुन्दर स्त्रियों को तो और भी सबकी दृष्टि से बचाकर रखे जाने का प्रयत्न होता था। यही उनकी परतन्त्रता का एक रूप परदे के रूप में अब तक बना हुआ है।

स्त्रियों को दासी समझने के विचार कोई नए नहीं, लम्बे समय से ऐसा दृष्टिकोण चला आ रहा है। बौद्ध साहित्य में भी स्त्रियों की हालत बहुत गिरी हुई रखी गई थी। बड़ी मुश्किल से बाद में सघ के अन्दर स्त्रियों के प्रवेश की आज्ञा मिली पर बुद्ध ने कहा था कि यह उचित न रहेगा। इस प्रवेश से सघ का पतन शीघ्र हो जायगा। पारसियों के धर्म ग्रन्थों के अनुसार पत्नी को प्रात काल उठकर पति से नौ बार यह पूछना चाहिए कि मैं क्या करू ? मुसलमानों को चार स्त्रियाँ तक एक साथ रखने की स्वतन्त्रता है। पुरुषों की प्रतियोगिता में उनके अधिकार आधे माने गए हैं। इसी प्रकार यहूदी और ईसाई धर्म में भी स्त्रियों को पुरुषों के मुकाबले में बहुत कम अधिकार दिए गए। ईसाईमत में तो स्त्रियों में आत्मा भी नहीं मानी गई। उनके धर्मानुसार पुरुषों को स्त्रियों पर शासन करने का अधिकार है और स्त्रियों का कर्त्तव्य उनसे शासित होना है। प्रथम महायुद्ध से पहिले तक उन्हें पादरी बनने आज्ञा न थी।

स्त्रियों को बहुत समय तक परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ कर रखा गया। परदा उसी का ध्वसावशेष है। परदा रखना पूर्ण

रूप से स्त्रियों पर अविश्वास रखना है। अपनी स्वार्थी वस्तु समझकर उसे दूसरों की दृष्टि से बचाकर रखना परदे का कार्य था। उन्हें इस प्रकार रखा जाना घोर अन्याय है। अभी तक हमारा समाज इन भावों से मुक्त नहीं हो पाया। फल स्वरूप यह प्रथा अब तक विद्यमान है।

कुछ समय से स्त्रियों में जागृति की भावना फैलती जा रही है। वे स्वतन्त्र रूप से अपने अधिकारों की मांग कर पुरुषों के दासत्व को तोड़ने के लिए प्रयत्नशील हैं। योरप में स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए काफी आन्दोलन किए गए थे। पहले उन्हें चुनाव आदि में वोट देने का अधिकार नहीं था पर धीरे धीरे बढ़ते हुए उन्हें बहुत से अधिकार प्राप्त हो गए। अतः पाश्चात्य स्त्रियों की हालत इस लिहाज से अच्छी है, उनके मुकाबले में भारतीय महिलाओं की स्थिति उतनी ठीक नहीं है। यद्यपि उन्हें सभी राजनैतिक अधिकार प्राप्त हैं फिर भी पहिले की अज्ञानता अभी गई नहीं है। टर्की और अफगानिस्तान की महिलाओं ने भी पुरुषों का विरोध किया है और वे अपने अधिकारों की प्राप्ति की सोचने लगी हैं।

परदे का अर्थ केवल मुख पर कपड़े का परदा रखना मात्र नहीं पर मान्योचित अधिकारों से है। अगर मुख का परदा हटा भी दिया गया पर उन्हें गुलामी से मुक्ति न मिली तो उसकी उपयोगिता ही क्या रही ! परदे का अर्थ है स्त्रियों के स्वतन्त्ररूप का कोई अस्तित्व ही न रहना। उसका परदा हटाना इसीलिए महत्वपूर्ण है कि वह दासता को दूर कर स्त्रियों को स्वतन्त्ररूप से पुरुषों के मुकाबले में कार्य करने की क्षमता दे। समाज में जैसे अधिकार पुरुषों को हैं स्त्रियों को भी वैसे ही दिए जाय।

उनकी स्थिति बिल्कुल नीच न रखी जाए। संक्षेप में परदा हटाना सदियों से चली आती हुई दासता के बंधन को हटाना है।

परदे के कारण हमारा समाज अपंग हो गया है। पुरुष और स्त्री समाज के दो अभिन्न अंग हैं। सामाजिक उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि दोनों का सम्बन्ध परस्पर सहानुभूति और सहयोग पूर्ण रहे। परदे के कारण स्त्री और पुरुषों को भिन्न-भिन्न-सा कर दिया गया है। दोनों के बीच कोई सम्बन्ध नहीं। मिलकर कोई कार्य नहीं कर सकते। किसी समस्या पर दोनों गम्भीरता से विचार भी नहीं कर सकते। अभी एक स्त्री अपने निकट सम्बन्धियों के अतिरिक्त किसी से बात भी नहीं कर सकती, मिलकर कोई कार्य करना तो अलग रहा। कोई पुरुष अपनी रिश्तेदार स्त्रियों के अलावा अन्य स्त्रियों से बात नहीं कर सकता। अगर किसी स्त्री ने किसी अन्य पुरुष से कुछ देर बातें करली तो उनका सम्बन्ध अनुचित समझा जायगा। उस पर व्यभिचारिणी होने का आरोप लगाया जायगा। कोई पुरुष अपने पवित्रतम प्रेम का भी परिचय किसी स्त्री को नहीं दे सकता। इस प्रकार अभी तक स्त्रियों और पुरुषों का कार्यक्षेत्र सर्वथा अलग रहा है। उनका समाज भी भिन्न रहा। दोनों की सम्मति और सहयोग से कोई कार्य नहीं किया जाता। पति-पत्नी, पिता पुत्री और भाई बहिन के अतिरिक्त स्त्री पुरुषों का कोई संबंध ही नहीं रहा। और यह भी रिश्तेदारी तक ही सीमित रहा। इनके अलावा सब रिश्ते नाजायज समझे जाते हैं। हमारे समाज में इन विचारों से बहुत संकुचितता उत्पन्न होगई है। जहाँ स्त्री पुरुषों में जरा भी मिलना जुलना सभा सोसाइटियों में हुआ कि वहीं पर लोग कलियुग का स्मरण करने लगते हैं। पति-पत्नी का साथ में कहीं बाहर भ्रमण करने जाना भी बहुत बुरा समझा

जाता है। इसे निर्लज्जता और उच्छृंखलता के सिवाय और किसी का रूप नहीं दिया जाता।

परदा प्रथा की पुष्टि में सबसे महत्त्व पूर्ण तर्क यह दिया जाता है कि इसके न होने से स्त्रियों में सदाचार न रहेगा। लेकिन यह कथन घोर असत्य है। स्त्रियों के प्रति घोर अन्याय इसमें स्पष्ट है। भारतवर्ष के जिन प्रदेशों में पर्दा नहीं है वहां पर्दा वाले प्रदेशों से कम सदाचार नहीं देखा जाता। योरोपीय देशों में बिलकुल पर्दा नहीं है स्त्रियाँ पुरुषों की तरह स्वतन्त्र घूमती फिरती हैं। वे सभी पुरुषों से अच्छी तरह मिलती जुलती हैं पर यह कहना अनुचित न होगा कि उनका भी चारित्र भारतीयों की अपेक्षा हीन नहीं। यहाँ छिपे छिपे जितने दुराचार होते हैं वहाँ उतने नहीं होते। अफ्रिका के भी पुरुष नग्न रहते हैं पर आश्चर्य है कि वहां के पुरुष पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन करते हैं। अगर यह कहा जाय कि बिना परदा के पुरुष वर्ग संयम न नहीं रह सकेगा तब तो पुरुषों को ही परदे में रखना उचित होगा। उन्हें दुराचार से बचाने का यही एक मात्र उपाय है। उनकी कमजोरी और शिथिलाचार से स्त्री वर्ग हानि क्यों उठाए? उन्हें परदे में रखना सरासर अन्याय है। क्या आवश्यकता है कि उन्हें भेड़ बकरियों की तरह ही नहीं बल्कि उससे भी बुरी अवस्था में बाड़ में बंद कर रखा जाय?

इस संबंध में इतना ही कहना उचित है कि पुरुषों को स्वेच्छापूर्वक स्त्रियों पर से परदा उठाने में मदद करनी चाहिए। इससे उनका अंकुश स्त्रियों पर रहेगा पर अगर स्वेच्छा से ऐसा न किया गया तो जबर्दस्ती स्त्रियां परदा उतार देंगी और स्वतंत्र होने पर पुरुषों का अधिकार उन पर नहीं रहेगा।

महिला समाज जागृत हो रहा है, वह अधिक समय तक पशु बना रहेगा या नहीं, यह एक संदेहास्पद वस्तु है। जब तक वे पुरुषों के अधिकार में हैं वे जैसा चाहें रख सकते हैं। स्वतंत्र होते ही वे अपने आपको मनुष्य अनुभव करने लगेंगी। उस समय पुरुषों की सत्ता उन पर नहीं चलेगी। पहले से ही वे सहानुभूति-पूर्वक उन्हें उचित सुविधाएँ देंगे तो ठीक रहेगा।

जो लोग यह कहते हैं कि पर्दा प्राचीन काल से बडे बूढों के जमाने से चला आया है, उन्हें सोचना चाहिए कि अगर बड़े बूढों के कायदों पर अच्छी तरह विचार करते और उसके अनुसार आचरण करते तो तुम्हारी यह हालत नहीं होती। जितनी विचारशीलता से उन्होंने यह प्रथा चलाई थी उतनी आज होती तो इन परिस्थितियों में पर्दा उठाने में क्षण भर का भी विलम्ब न होता। भिन्न भिन्न परिस्थितियों के अनुसार रीति रिवाजों में परिवर्तन करते रहने में ही बुद्धिमत्ता है। कोरी लकीर पीटने से ही कुछ हाथ नहीं आता।

पुराने समय में लज्जा स्त्रियों का आभूषण समझा जाता था। विनय उनका श्रेष्ठ गुण था। परदे की प्रथा तो पहले बिलकुल न थी। मुसलमानों के समय के पश्चात् पर्दा प्रारंभ हुआ। उस समय की परिस्थितियों और आज की परिस्थितियों में भिन्नता है। यह आवश्यक नहीं कि उस समय जो वस्तु उपयुक्त हो वही आज भी। लोग इस दृष्टि से नहीं सोच पाते? उनके दिमाग में इतना आता है कि पर्दा हमारे बड़े बूढों ने चलाया था। जो काम उन्होंने किया, जो चीज उन्होंने अपने दिमाग से सोची उस समय वही ठीक थी। उनके ऊँचे विचारों और ऊँचे आदर्शों की ओर तो किसी की दृष्टि नहीं जाती और तुच्छ से

तुच्छ बातोंपर गुड़ के मकोड़ों सरीखे चिपटते हैं।

पर्दा उठाने का अर्थ निर्लज्जता नहीं और न अविनय है। कौन इन्कार करता है कि बहू को सास श्वसुर की विनय रखना चाहिए, उनका माता पिता सरीखा आदर करना चाहिए, पर क्या बिना मुंह ढके उनका आदर नहीं किया जा सकता। पर्दा उठा देन पर स्त्रियों को वर्तमान में उपयोग में आने वाले निर्लज्जता पूर्ण बारीक वस्त्रों का जिनमें आज उनके सिर का एक एक बाल दिखाई देता है त्याग करना पड़ेगा। पर्दा उठा देने से पर्दे की बहुत सी पोल अपने आप समाप्त हो जाएँगी। क्या इतने बारीक वस्त्र प्राचीन काल की स्त्रियाँ पहिनती थीं ?

अगर पर्दा एक दम बिलकुल नहीं छूट सकता तो उसका कम से कम रूपांतर तो अवश्य ही करने योग्य है। दिल्ली तथा युक्तप्रांत में भी पर्दा है मगर मारवाड़ जैसा पर्दा नहीं है। स्त्रियों को बन्द कर रखने से ही लज्जा की रक्षा नहीं हो सकती, यह बात भली भांति समझने योग्य है।

पर्दे से होने वाली हानियाँ किसी से छिपी नहीं। समय की गति रोकी नहीं जा सकती। पर्दे का हटना अकेली स्त्रियों की गुलामी दूर करने के लिए ही आवश्यक नहीं समाज और राष्ट्र की उन्नति के लिए भी अत्यन्त आवश्यक हो गया है।

आभूषण

आभूषण स्त्रियों की अत्यन्त प्रिय वस्तु है। आज से ही नहीं पर प्राचीन काल से ही आभूषण स्त्रियों का श्रृङ्गार है। हाँ, उसकी बनावटों अथवा रूपों में भले ही परिवर्तन होता रहा है।

यही कारण है कि अनेकों स्त्रियाँ तो जेवरों के पीछे इस तरह पागल रहती हैं कि भले ही गृहस्थी में उन्हें और सब सुख हों पर जेवर अगर नहीं है तो कुछ नहीं है। इस प्रकार की स्त्रियाँ आए दिन सास-ससुर अथवा पति से गहने के लिये झगड़ती रहती हैं।

कुछ जातियों में तो इतना अधिक जेवर पहिनने का रिवाज है कि वह गहना उनके लिये बेड़ी के समान हो जाता है। हाथ-पाँव में गढ्ढे पड़ जाते हैं, फिर भी उनका मोह उनसे नहीं छूटता। वे दुनिया भर में उनका प्रदर्शन कर उस भारी वजन को ढोती फिरती हैं। प्रदर्शन इसलिए कि अधिक गहना पहन कर दूसरों को दिखाना एक प्रकार की इज्जत समझती हैं। इज्जत का जेवर से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध समझा

जाता है। इसलिये अधिक गहना पहनने वाली औरत को प्रायः डाह की नजरों से देखा जाता है।

आभूषण इसलिये पहिने जाते हैं कि बहुत दिनों से पहिनने का रिवाज चला आया है। किसी के कम या बिलकुल न पहिनने पर भी औरतें आपस में एक दूसरे की मुक्ताचीनी किया करती हैं।

स्त्रियाँ आपस में गहने से ही एक दूसरी का मूल्य आंका करती हैं। जो ज्यादा गहना पहने होती है सब उससे बात करने के लिए लालायित रहती हैं और जो गरीबिनी नहीं पहन सकती है उससे बात करने की भी आवश्यकता नहीं समझतीं।

अत्यन्त दुर्भाग्य की बात है कि इन आभूषणों के पीछे औरतें दुनिया भर के कुकृत्य करती हैं। रात दिन घरों में कलह मचाए रहती हैं। पति के दिन रात पूरी मेहनत करने के बाद भी, जब घर खर्च भी वह मुश्किल से चला पाता है, एक न एक गहने की फरमाइश किये रहती हैं।

पेट काट काट कर भी गहने बनवाने में स्त्रियाँ सुख का अनुभव करती हैं। वे यह नहीं सोचतीं कि अधिक गहने पहनने की अपेक्षा अगर उसी पैसे से शरीर को बनाने वाली पौष्टिक चीजों को खाया पिया जाय तो जीवन-डोरी कुछ और बढ़ सकती है और नहीं भी बढ़े तो भी जब तक जीवन है शरीर पूर्ण स्वस्थ रहकर उसका लाभ ले सकता है।

'सर्वे गुणा काञ्चनमाश्रयन्ति' सब गुण सोने के गहनों में ही हैं, ऐसा स्त्रियाँ समझती हैं। मगर यह नहीं समझती कि सत्य बोलना, प्रेम से बोलना, तथा सबकी सेवा करना, यही नारी का सच्चा आभूषण है।

पतिव्रता फाटा लता, नहीं गला में पोत।
भरी सभा में ऐसी दीपे हीरन की सी जोत॥

भावार्थ—पतिव्रता फटे चिथड़े पहने हो और गले में पोत भी न हो तो भी हीरे की ज्योति सदृश दीप्ति को प्राप्त होती है।

गहना-कपड़ा नारी का सच्चा आभूषण नहीं है। नारी का श्रेष्ठ आभूषण शील है। सीता जब वन में रही तब उसने क्या गहना पहना था? द्रौपदी ने विराटनगर में राजा के यहां सैरंध्री नामक दासी बनकर रानियों की रानी होते हुए भी सिर गूथने का छोटी से छोटी दासी का काम किया था। आज ऐसी सती-साध्वी देवियों के सामने सारा संसार सिर झुकाता है।

तात्पर्य यह है कि बाहरी सुन्दरता के पीछे मत पड़ो। बढ़िया गहने और कपड़े नारी का आभूषण नहीं है। इनसे शरीर का ऊपरी सौन्दर्य भले ही कुछ बढ़ जाय, मगर आत्मा की सुन्दरता का ह्रास होता है।

नारी की सुन्दरता बढ़ाने के लिए शील का आभूषण काफी है। उन्हें और आभूषणों का लालच नहीं होना चाहिए। बाहरी सुन्दरता मन को बिगाड़ने वाली होती है और मन की पवित्रता अंतःकरण को शुद्ध करने वाली होती है। बाह्य सुन्दरता अनेक कष्टों का निमन्त्रण करती है, अनावश्यक व्ययजनक होती

है। आंतरिक सुन्दरता अनेकों कष्टों का निवारण करती है व पैसा भी खर्च नहीं होता। प्रत्येक स्त्री को चाहिए कि आत्मा की शोभा बढ़ाने का सतत प्रयत्न करे। मन की पवित्रता को कायम रखते हुए जीवन को सच्चरित्रतारूपी सुन्दर आभूषण से अलंकृत करे। इस मांसपिंड (शरीर) की सजावट में क्या पड़ा है? नारी की सच्ची महत्ता और पूजा शील से होगी। शील आभूषणों का भी आभूषण है। गहनों में सुन्दरता देखने वाली नारी आत्मा के सद्गुणाभूषण को कभी नहीं देख पाती। त्याग संयम और सादगी में जो सुन्दरता है वह बाहरी आभूषणों में कहाँ?

रामचन्द्रजी जब वनवास गए, तब सीता भी उन्हीं के साथ वन को चली गई। भरत उस समय अपने ननिहाल में थे। वहाँ से आने पर जब उन्हें मालूम हुआ कि राम लक्ष्मण और सीता वन को चले गये तब उन्होंने अपनी माता कैकेई को बहुत कठोर शब्दों में फटकारा और रामचन्द्रजी वगैरह को वापिस लाने के लिए प्रजाजनों के साथ वन को रवाना हुए। वहाँ पहुँचने पर उन्होंने रामचन्द्रजी से लौट चलने का अत्यन्त ही आग्रह किया पर रामचन्द्रजी राजी नहीं हुए। निरुपाय हो उन्होंने भाभी सीता को ही अयोध्या लौट चलने के लिए आग्रह किया और कहा—देवि! भैया अगर नहीं चलते हैं तो कृपया आप ही अयोध्या लौट चलिये। मुझे आपके इतने सुकुमार शरीर को वन में इतने कष्ट सहन करते हुए देखकर अत्यन्त दुख होता है। और सबसे बड़ा दुख होता है आपका वेष देखकर। नाना प्रकार के रेशमी वस्त्र से युक्त और अनेकों रत्नजड़ित आभूषणों से अलंकृत आपके शरीर को इन तापसी वस्त्रों में छिपा हुआ देखकर मुझे अवर्णनीय दुख होता है।

सीता अपने प्रिय देवर को सान्त्वना देती हुई बोली—आप मेरा वेष देखकर चिन्ता करते हैं, मगर यह भी आपकी भूल है। मेरे वल्कल वस्त्रों को मत देखो, मेरे ललाट पर शोभित होने वाली सुहाग बिन्दी की ओर देखो ! यह सुहाग-बिन्दी मानो कहती है—मेरे रहते अगर सभी रत्न आभूषण चले जाय तो हर्ज की क्या बात है ? और मेरे न रहने पर रत्न आभूषण बने भी रहे तो किस काम के ? मेरे कपाल पर सुहाग का चिह्न मौजूद है, फिर आप किस बात की चिन्ता करते हैं ? सुहाग चिह्न के होते हुए भी अगर आप आभूषणों के लिए मेरी चिन्ता करते हैं तो आप अपने भाई की कद्र कम करते हैं। यह सुहाग-बिन्दी आपके भाई के होने से ही है। क्या आप अपने भाई की अपेक्षा रत्नों को भी बड़ा समझते हैं ? आपका ऐसा समझना उचित नहीं है।

भरत ! आप प्रकृति की ओर देखिये ! जब रात गहरी होती है तो ओस के बूंद पृथ्वी पर गिर कर मोती के गहने बन जाते हैं। लेकिन उषा के प्रकट होते ही प्रकृति उन गहनों को पृथ्वी पर गिरा देती है। जैसे प्रकृति यह सोचती है कि इन गहनों का शृङ्गार तभी तक ठीक था, जब तक उषा प्रकट नहीं हुई थी। अब उषा की मौजूदगी में इनकी क्या आवश्यकता है ? यही बात मेरे लिये भी है। जब तक वन-वासरूपी उषा प्रकट नहीं हुई थी, तब तक भले ही आभूषणों की आवश्यकता रही हो, अब तो सौभाग्य को सूचित करने वाली इस सुहागबिंदी में ही समस्त आभूषणों का समावेश हो जाता है। यही मेरे लिये सब शृङ्गारों का शृङ्गार है। इससे अधिक की मुझे आवश्यकता नहीं है। ऐसी स्थिति में आप क्यों व्याकुल होते हैं ? आपको मेरा सुहाग देखकर ही प्रसन्न होना चाहिए।

बहिनों से यही कहना है कि सीताजी ने जिन गहनों को हँसकर त्याग दिया था उन गहनों के लिए तुम आपस में कभी मत लड़ो। जब आत्मा सद्गुणों से अलंकृत होता है तो शरीर को विभूषित करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। सीता और राम के प्रति आपके हृदय में इतनी श्रद्धा क्यों है? उन्होंने त्याग न किया होता तो जो गौरव उन्हें मिला है वह कभी मिल सकता था? त्याग के बिना कोई किसी को नहीं पूजता।

कदाचित् कहा जाय कि घर में भी हाथ अच्छे नहीं लगते तो यही कहना पड़ेगा कि ऐसा कहने वाले की दृष्टि दूषित है। गहनों में सुन्दरता देखने वाला आत्मा के सद्गुणों के सौन्दर्य को देखने में अन्धा हो जाता है। त्याग संयम और सादगी में जो सुन्दरता है, पवित्रता है, सात्विकता है, वह भोगों में कहाँ? मैं बहिनों को सम्मति देता हूँ कि घर वालों की ऐसी बातों की परवाह न करके गहनों के मोह को त्याग दें और सादगी के साथ रहें।

बाहरी चमकदमक को सुन्दर रूप मत समझो। जिस रूप को देखकर पाप काँपता है और मन प्रसन्न होता है, वही सच्चा सुरूप है—सौन्दर्य है।

असली सौन्दर्य आत्मा की वस्तु है। आत्मिक सौंदर्य की सुनहरी किरणें जो बाहर प्रस्फुटित होती हैं, उन्हीं से शरीर की सुन्दरता बढ़ती है।

मेरा बहनों से कहना है कि तुम लोग चमड़ी को बड़ी मानती हो या आभूषणों को? अनेक विशिष्ट गुणों वाली चमड़ी को भूलकर जो लोग आभूषणों के प्रलोभन में पड़ जाते हैं वे

ठूँस ठूँस कर आभूषण पहनने से चमडी को पहुँचने वाली हानि की ओर ध्यान नहीं देते। आभूषणों का वजन सहन न होने पर भी इतने आभूषण शरीर पर लादे जाते हैं, कि बेचारी चमडी की दुर्दशा हो जाती है। स्त्रियाँ झूठे बड़प्पन के लोभ में फँसकर अनावश्यक आभूषण पहनती हैं। परिणाम यह आता है कि चमड़ी के विशिष्ट गुण नष्ट हो जाते हैं और वे दिनोंदिन निर्बलता की शिकार बनती जाती हैं।

कल्पना कीजिये, किसी गृहस्थी में दो बाइयाँ हैं। एक हीरे की चूड़ियाँ पहिन कर, सुगंधित इत्र तैल लगाकर, सुन्दर और सुकोमल वस्त्र पहन कर झूले में झूल रही है। भोजन के समय भोजन करती है और विलास मे डूबी रहती है। उसी गृहस्थी में दूसरी बाई कर्मशीला है। वह शृंगार की परवा नहीं करती। नाज-नखरों मे दिल नहीं लगाती। घर को साफ-सुथरा रखती है। बच्चों की अशुचि मिटाकर उन्हें नहलाती है, स्वच्छ वस्त्र पहनाती है, उनके भोजन की उत्तम व्यवस्था करती है।

आप इन दोनों में किसे अच्छा समझती हैं? किसे जीवन-दात्री मानती हैं?

इस प्रकार जीवन में बाह्य शारीरिक सौन्दर्य और विलास को प्रधानता देने वाले का दुनियाँ में कोई मूल्य नहीं। मूल्य तो आध्यात्मिक पवित्रता और स्वच्छता का है। जो जितना ही शरीर से उदासीन और हृदय से पवित्र होगा उसी का जीवन सफल और मूल्यवान है। पवित्र जीवन ही उसका वास्तविक सौन्दर्य है।

सीता के सम्बन्ध में बुद्धिमती स्त्रियाँ कहती हैं—सीता ने क्षमा का नौलखा हार पहन रक्खा है। ऐसा ही हार हमें पहनना चाहिए। यद्यपि कैकेयी की वर-याचना के फलस्वरूप उनके पति को और उनको वन जाना पड़ रहा है, फिर भी इनके चेहरे पर रोष का लेशमात्र भी कोई चिह्न नहीं दिखाई देता। इनकी मुद्रा कितनी शान्त और गंभीर है! अगर इनमें धैर्य नहीं होता तो वह तुम्हारी तरह रोने लगती। अगर वह अपनी आँख टेढ़ी करके कह देती कि मेरे पति का राज्य लेने वाला कौन है! तो किसका साहस था कि वह राज्य ले सके। सारी अयोध्या उनके पीछे थी। लक्ष्मण उनके परम सहायक थे और वे अकेले ही सब के लिए काफी थे। सीता चाहती तो मिथिला से फौज मँगवा सकती थी। लेकिन नहीं, सीता ने क्षमा का हार पहन रक्खा है। ऐसा हार हमें भी पहनना चाहिए।

सीता के हाथ में मात्र केवल मंगल-चूड़ी के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। मगर उन्होंने अपने हाथों में इस लोक और परलोक को सुधारने का चूड़ा पहन रक्खा है। ऐसा ही चूड़ा हमें भी पहनना चाहिए। उभय लोक के सुधार का मंगलमय चूड़ा न पहना तो न मालूम अगले जन्म में कैसी बुरी गति मिलेगी।

आजकल मारवाड़ में आभूषण पहनने की प्रथा बहुत बढ़ी है। भार तो अपार हो गया है। चोर तो चोर (वैर) के बराबर हो ही सकता है पर बहुत-बहुत यह भार से भी भारी मार रहा है। जेवरों की वृद्धि के साथ ही विकार में भी प्रायः वृद्धि होने लगती है।

बुद्धिमती स्त्रियाँ कहती हैं—सीताजी ने गुरु जनों की आज्ञापालन रूपी बोर अपने मस्तक पर धारण किया है। ऐसा ही बोर स्त्रियों को धारण करना चाहिए। उन्होंने कैकेयी जैसी सास का भी मान रक्खा है। अगर हम जरा-सी बात पर भी बड़ों का अपमान करें तो हमारा यह बोर पहनना वृथा हो जायगा।

अच्छी सीख ने करणफूल,
कानरा करां।
झूठा बारला बनाव,
देख क्यों वृथा लडां।
हिया मांय अमोल,
खान खोल पैर लां।
सब बाहर का बनाव,
वा पैं वारणां करां॥

बहिनो! सीता ने मणि जड़े कर्णफूल त्याग कर उत्तम शिक्षा के जो कर्णफूल पहने हैं, उन्हें ही हमें पहनना चाहिए। सीता विदेहपुत्री है और विदेह आत्मज्ञानी है। सीता ने उन्हीं की शिक्षा ग्रहण की है।

\+ \+ \+ \+

मैं जब गृहस्थावस्था में था, तब की बात है। मेरे गाँव में एक बूढ़े ने विवाह करना चाहा। एक विधवा बाई की एक लड़की थी। बूढ़े ने वृद्धा के सामने विवाह का प्रस्ताव उपस्थित किया। मगर उसने और उसकी लड़की दोनों ने उसे अस्वीकार

कर दिया। कुछ दिनों बाद उस बूढ़े की रिश्तेदार कोई स्त्री उस बाई के पास आई और उसे बहुत सा जेवर दिखला कर बोली-तुम्हारी लड़की का विवाह इनके साथ हो जाएगा तो इतना जेवर पहनने को मिलेगा। आखिर में आकर विधवा ने अपनी लड़की का विवाह उस बूढ़े के साथ कर दिया।

मेवाड़ की भी एक ऐसी ही घटना है। एक धनी बूढ़े के साथ एक कन्या का विवाह होना निश्चित हुआ। समाज सुधारकों ने लड़की की माता को ऐसा न करने के लिये समझाया। लड़की की माता ने कहा कि पति मर जाएगा तो क्या हुआ मेरी लड़की गहने तो खूब पहिनेगी।

आप ही बताइये ? उक्त दोनों विवाह किसके साथ हुए ?

'धन के साथ'

'पति के साथ तो नहीं ?'

नहीं।

धन ही इन कन्याओं का पति बना ?

बहिनो ! तुम्हें जितनी चिन्ता अपने गहनों की है उतनी इन गहनों का आनन्द उठाने वाली आत्मा की है ? तुम्हें गहनों का जितना ध्यान रहता है, कम से कम उतना ध्यान अपनी आत्मा का रहता है ? आभूषणों को ठेस न लगने के लिए जितनी सावधान रहती हो उतनी आत्मधर्म को ठेस न लगने देने के लिये रहती हो ?

अच्छा यह बताओ जवाहरात पेरिस में अधिक हैं या हिन्दुस्तान में ? अमरिका और इंग्लैंड में आभूषण भारी ज्यादा हैं या भारत में ?

पेरिस में जवाहरात ज्यादा हैं और भारत से ज्यादा माणिक मोती अमेरिका इंग्लैण्ड में हैं। मगर पेरिस के तथा अमेरिका और इंग्लैण्ड के अनेक स्त्री पुरुष अपने बालकों को भारत में लाते हैं। उन्हें तो हमने कभी आपकी भाँति जवाहरात से लदा हुआ नहीं देखा। इसका क्या कारण है ?

कारण यह है कि वे पसन्द नहीं करते बच्चों को आभूषण पहनाना।

देखो कि वे तो पसन्द नहीं करते पर हम भारतवासी गहनों के लिये प्राण दिये रहते हैं। कैसी विचित्र बात है ?

बच्चे और आभूषण—

हमारे यहाँ आभूषण इतने अधिक पसन्द किये जाते हैं कि जिनके यहाँ सच्चे माणिक मोती नहीं हैं वे बहिनें अपने बच्चों को सिंगारने के लिए खोटे जेवर पहनाती हैं पर पहनाये बिना नहीं मानतीं। कहीं कहीं तो लोक दिखावे के लिए आभूषणों की थोड़े दिनों के लिए भीख माँगी जाती है और उन आभूषणों से हीनता का अनुभव करने के बदले महत्त्व का अनुभव किया जाता है। क्या यह घोर अज्ञान का परिणाम नहीं है ? आभूषण न पहनने वाले यूरोपियन क्या हीन दृष्टि से देखे जाते हैं ? फिर आपको ही क्यों अपनी सारी महत्ता आभूषणों में दिखाई देती है ?

आभूषणों से लादकर बच्चों को खिलौना बनाना आप पसन्द करते हैं पर उनके भोजन की ओर अत्यन्त उपेक्षा रखते हैं। यह कैसी दोहरी भूल है ? जरा अपने बच्चे का खाना किसी अंग्रेज बच्चे के सामने रखिये। वह तो क्या उसका बाप भी भोजन नहीं खा सकेगा, क्योंकि हमारा भोजन इतना चटपटा होता है कि बेचारे का मुंह जल जाय।

बच्चों को आभूषण पहनाने का आपका उद्देश्य क्या है ? इसके दो ही उद्देश्य हो सकते हैं। एक तो बालक को सुन्दर दिखाना अथवा अपनी श्रीमन्ताई प्रकट करना। मगर यह दोनों उद्देश्य भ्रमपूर्ण हैं। बालक स्वभाव से ही सुन्दर होता है। वह निसर्ग का सुन्दरतर उपहार है। उसके नैसर्गिक सौन्दर्य को आभूषण दबा देते हैं विकृत कर देते हैं। जिन्हें सच्चे सौन्दर्य की परख है वे ऐसे उपायों का अवलंबन नहीं करते। विवेकवान् व्यक्ति जड़ पदार्थ लादकर चेतन की शोभा नहीं बढ़ाते। जो लोग आभूषणों में सौन्दर्य निहारते हैं कहना चाहिए कि उन्हें सौन्दर्य का ज्ञान नहीं है। वे सजीव बालक की अपेक्षा निर्जीव आभूषण को अधिक चाहते हैं। उनकी रुचि जड़ता की ओर आकृष्ट हो रही है।

अगर अपनी श्रीमन्ताई प्रकट करने के लिए बालक को आभूषण पहना कर खिलौना बनाना चाहते हो तो स्वार्थ की हद हो गई। अपनी श्रीमन्ताई प्रकट करने के लिए निर्दोष बालक

का जीवन क्यों विपत्ति में डालते हो ? जिसे अपनी धनाढ्यता का अजीर्ण है; जो अपने धन को नहीं पचा सकता वह किसी अन्य उपाय से बाहर निकाल सकता है। उसके लिए अपनी प्रिय संतान के प्राणों को संकट में डालना क्या उचित है ?

बच्चों को आभूषण पहनाने से मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनेक हानियां होती हैं। परन्तु एक प्रत्यक्ष हानि तो आप सभी जानते हैं। गहनों की बदौलत कई बालकों की हत्या होती है। हत्या की घटनाएँ आये दिन घटती रहती हैं। फिर भी आप अपना ढर्रा नहीं छोड़ते, यह कितने आश्चर्य की बात है ? आपका विवेक कहाँ है ? वह कब जागृत होगा ?

आप अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए सोना, पहनना कर्त्तव्य समझती हैं पर यह बहुत बुरी बात है यह बात विधवा धर्म से विरुद्ध है। मानव की प्रतिष्ठा फिर वह चाहे स्त्री हो या पुरुष उसके सद्गुणों पर अवलम्बित है। यही नारी की वास्तविक प्रतिष्ठा है। आभूषणों से अपनी प्रतिष्ठा का दिखावा करना अपने सद्गुणों का अपमान करना है। आप सोचती हैं कि बिना आभूषणों के विधवा अच्छी नहीं लगती इसलिए आभूषण पहनती हैं। पर मैं कहता हूँ—विधवा बहिन के मुखमंडल पर जब ब्रह्मचर्य का तेज विराजमान होगा तो उसके सामने आभूषणों की आभा फीकी पड़ जाएगी। चेहरे की सौम्यता बलात् उसके प्रति आदर का भाव उत्पन्न किये बिना नहीं रहेगी। उसके तप त्याग और संयम से उसके प्रति असीम श्रद्धा का भाव प्रकट हुए बिना नहीं रहेगा। इसमें क्या प्रतिष्ठा नहीं है? सच पूछो तो यही उत्तम गुण उसकी सच्ची प्रतिष्ठा के कारण होंगे। ऐसी अवस्था में कृत्रिम प्रतिष्ठा के लिए उसे वैधव्य-धर्म के विरुद्ध पहनने आदि की आवश्यकता नहीं रहेगी। इसलिए मैं कहता हूँ आत्मा के सद्गुणों का सत्यानाश करने वाली इन रीतियों का आप बिल्कुल त्याग कर दें और संयम से जीवन बितावें।

विविध विषय

१—सच्चा श्रृङ्गार

बहनो री कर लो ऐसो सिंगार,
जिससे होओ भव-जल पार।
अन्न शुचि कर फिर कर मज्जन, वस्त्र अनूपम धारो,
राग-द्वेष को तन मन जल से, विद्या वसन सवारो।

बहिनो, यह जन्म हमें बाह्य श्रृङ्गार सजने के लिए नहीं मिला है। कल्याण होगा तो भाव-श्रृङ्गार से ही होगा। स्त्री का पहला श्रृङ्गार शरीर का मैल उतारना है। मैल उतारने के बाद स्नान करना और फिर वस्त्र धारण करना श्रृङ्गार माना जाता है। लेकिन इतने में ही श्रृङ्गार की इतिश्री नहीं हो जाती। ऐसा श्रृङ्गार तो वेश्या भी करती है।

मैं नहीं कहता कि गृहस्थ लोग शरीर पर मैल रहने दें, पर जल से शरीर का मैल उतारते समय यह मत भूल जाओ कि शरीर की तरह हृदय का मैल धोने की भी बड़ी आवश्यकता है। केवल जल स्नान से आत्मा की शुद्धि मानने

विधवा बहिनों से

आपके घर में विधवा बहिनें शीलदेवियाँ हैं। इनका आदर करो। इन्हें पूज्य मानो। इन्हें कोटे, दुःखदायी शब्द मत कहो। यह शीलदेवियाँ पवित्र हैं, पावन हैं। यह मंगलरूप हैं। इनके शकुन अच्छे हैं। शील की मूर्ति क्या कभी अमंगलमयी हो सकती है?

समाज की मूर्खता ने कुशीलवती को मंगलमयी और शीलवती को अमंगला मान लिया है। यह कैसी भ्रम बुद्धि है?

याद रक्खो अगर समय रहते न चेते और विधवाओं की मान-रक्षा न की उनका निरन्तर अपमान करते रहे इन्हें ठुकराते रहे तो शीघ्र ही अधर्म फूट पड़ेगा। आदर्श धूल में मिल जायगा और आपको संसार के सामने नतमस्तक होना पड़ेगा।

विधवा या सुहागिन बहिनों के हृदय में कुविचार उत्पन्न होने का प्रधान कारण उनका निकम्मा रहना है। जो बहिनें

काम-काज में फँसी रहती हैं, उन्हें कुविचारों का शिकार होने का अवकाश नहीं मिलता।

विधवा बहिनों के लिए चर्खा अच्छा साधन माना गया है, पर आप लोग तो उसके फिरने मे वायुकाय की हिंसा का महापाप मानते हैं। आपको यह विचार कहाँ है कि अगर विधवाएँ निकम्मी रह कर इधर-उधर भटकती फिरेंगी और पापाचार का पोषण करेंगी तो कितना पाप होगा।

बहिनो! शील आपका महान् धर्म है। जिन्होंने शील का पालन किया है, वे प्रातःस्मरणीय बन गई हैं। आप धर्म का पालन करेंगी तो साक्षात मंगलमूर्ति बन जायेंगी।

बहिनो! स्मरण रक्खो—तुम सती हो, सदाचारिणी हो, पवित्रता की प्रतिमा हो। तुम्हारे विचार उदार और उन्नत होने चाहिए। तुम्हारी दृष्टि पतन की ओर कभी नहीं जानी चाहिए। बहिनो! हिम्मत करो, धैर्य धारण करो। सच्ची धर्मधारिणी बहिन में कायरता नहीं हो सकती। धर्म जिसका अमोघ कवच है, उसमें कायरता कैसी?

विधवा बहिनों से मेरा यही कहना है कि अब परमेश्वर से नाता जोड़ो। धर्म को अपना साथी बनाओ। सयम से जीवन व्यतीत करो। ससार के राग-रगों को और आभूषणों को अपने धर्मपालन में विघ्नकारी समझ कर उनका त्याग करो। इसी में आपकी प्रतिष्ठा है। आप त्यागशील देवियाँ हैं। आपको गृहस्थों के ऐसे प्रपचों से दूर रहना चाहिए, जिनसे आपके धर्मपालन में बाधा पहुँचती है।

आप अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए सोना, पहनना कर्त्तव्य समझती हैं पर यह बहुत बुरी बात है यह बात विधवा धर्म से विरुद्ध है। मानव की प्रतिष्ठा फिर वह चाहे स्त्री हो या पुरुष, उसके सद्गुणों पर अवलम्बित है। यही नारी की वास्तविक प्रतिष्ठा है। आभूषणों से अपनी प्रतिष्ठा का दिखावा करना अपने सद्गुणों का अपमान करना है। आप सोचती हैं कि बिना आभूषणों के विधवा अच्छी नहीं लगती इसलिए आभूषण पहनती हैं। पर मैं कहता हूँ—विधवा बहिन के मुख मंडल पर जब ब्रह्मचर्य का तेज विराजमान होगा तो उसके सामने आभूषणों की आभा फीकी पड़ जायगी। चेहरे की सौम्यता बलात् उसके प्रति आदर का भाव उत्पन्न किये बिना नहीं रहेगी। उसके तप त्याग और संयम से उसके प्रति असीम श्रद्धा का भाव प्रकट हुए बिना नहीं रहेगा। इसमें क्या प्रतिष्ठा नहीं है? सच पूछो तो यही उत्तम गुण उसकी सच्ची प्रतिष्ठा के कारण होंगे। ऐसी अवस्था में कृत्रिम प्रतिष्ठा के लिए उसे वैधव्य धर्म के विरुद्ध गहने आदि की आवश्यकता नहीं रहेगी। इसलिए मैं कहता हूँ आत्मा क सद्गुणों का सत्यानाश करने वाली इन रीतियों का आप बिल्कुल त्याग कर दें और संयम से जीवन बितावें।

विविध विषय

१—सच्चा शृङ्गार

बहनो री कर लो ऐसो सिंगार,
जिससे होओ भव-जल पार ।
अङ्ग शुचि कर फिर कर मजन, वस्त्र अनूपम धारो,
राग-द्वेष को तन मन जल से, विद्या वसन सधारो ।

बहिनो, यह जन्म हमें बाह्य शृङ्गार सजने के लिए नहीं मिला है। कल्याण होगा तो भाव-शृङ्गार से ही होगा। स्त्री का पहला शृङ्गार शरीर का मैल उतारना है। मैल उतारने के बाद स्नान करना और फिर वस्त्र धारण करना शृङ्गार माना जाता है। लेकिन इतने में ही शृङ्गार की इतिश्री नहीं हो जाती। ऐसा शृङ्गार तो वेश्या भी करती है।

मैं नहीं कहता कि गृहस्थ लोग शरीर पर मैल रहने दें, पर जल से शरीर का मैल उतारते समय यह मत भूल जाओ कि शरीर की तरह हृदय का मैल धोने की भी बड़ी आवश्यकता है। केवल जल-स्नान से आत्मा की शुद्धि मानने

वाले लोग भ्रम में हैं। मन का मैल उतारे बिना न तो शुद्धि हो सकती है और न मुक्ति मिल सकती है। इसलिए कहा जाता है कि पानी से मैल उतारने मात्र से कुछ न होगा, मन का मैल उतारो।

केवल जल से मैल उतार लेने से कुछ नहीं होगा मन के राग-द्वेषरूपी मैल को साफ करो।

स्त्रियों में राग-द्वेष के कारण ही आपस में झगड़े होते हैं। जो स्त्रियाँ राग-द्वेष से भरी हैं वे अपने बेटे को तो बेटा मानती हैं पर देवरानी के बेटे को बेटा नहीं समझतीं। उनमें इतना क्रूरतापूर्ण पक्षपात होता है कि अपने बेटे को तो दूध के ऊपर की मलाई खिलाती हैं और देवरानी या जिठानी के लड़के को नीचे का सारहीन दूध देती हैं। जो स्त्री इस प्रकार राग-द्वेष के मल से भरी है वह सुख-चैन कैसे पा सकती है? राग-द्वेष को हटा कर मन वचन की शुद्धता में स्नान करना ही सच्ची शुचि है।

जो स्त्री ऊपर के कपड़े तो पहने है मगर जिसने आत्मा की सम्यग्दृष्टिरूपी वस्त्रों को उतार फैंका है, वह रूपी वस्त्रों के होते हुए भी नंगी-सी ही है। जिसके ऊपर विद्यारूपी वस्त्र नहीं हैं, उसकी शोभा सुन्दर वस्त्रों से भी नहीं हो सकती। रूप-यौवनसम्पन्न के हाथ को विद्या कहते हैं और स्त्री के लिए यह विद्या ही सिंगार है। अविद्या के साथ उत्तम वस्त्र तो और भी ज्यादा हानि-कारक होते हैं।

किसी स्त्री का पति परदेश में था। उसने अपनी पत्नी को पत्र भेजा। पत्नी पढ़ी-लिखी नहीं थी। वह किसी से पत्र

पढवाने का विचार कर ही रही थी कि बढ़िया वस्त्रों से सुसज्जित एक महापुरुष उधर होकर निकले। स्त्री पत्र लेकर उनके पास पहुँची। वह पढ़ा लिखा नहीं था साथ ही, मूर्ख भी था। वह सोचने लगा—पत्र क्या खाक पढ़ूँ! मेरे लिए काला अक्षर भैंस बराबर है। उसे अपनी दशा पर इतना दुःख हुआ कि उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। स्त्री ने सोचा—पत्र पढ़ कर ही यह रो रहा है। जान पड़ता है कि मेरा सुहाग लुट गया! यह सोचकर वह स्त्री भी रोने लगी। स्त्री का रोना सुन कर पड़ौस की स्त्रियाँ भी आ पहुँचीं और वह सभी अपनी समवेदना प्रकट करने के लिए सुर में सुर मिलाने लगीं। कोहराम मच गया।

पड़ौस के कुछ पुरुष भी आये। उन्होंने पूछा—क्या बात हुई? अभी तो पत्र आया था कि मजे में हैं और अचानक क्या हो गया? क्या कोई पत्र आया है? पत्र उन्हें दिखलाया गया। पत्र में लिखा था—हम मजे में हैं और इन दिनों चार पैसे कमाये हैं। जब पड़ौसियों ने यह समाचार बतलाया तो घर वालों का रोना बन्द हुआ।

अब विचारने की बात यह है कि विद्या के बिना उत्तम वस्त्रों को धारण करने से क्या परिणाम आता है? एक आदमी की अविद्या के प्रताप से ही स्त्री को रोना पड़ा और जलील होना पड़ा। अत

केश सँवारहु मेल परस्पर न्याय की मांग निकार।
धीरज रूपी महावर धारहु यश की टीकी लिलार॥

स्त्रियाँ स्नान करके केश सँवारती हैं। केश सुहाग के लिए हैं। मस्तक के केश सँवार कर रह जाना ही ठीक नहीं है किन्तु परस्पर में मेल रखना ही सच्चा केश सँवारना है। देवरानी-जिठानी से या ननन्द भौजाई से लड़ाई-झगड़ा करके केश सँवारने का क्या महत्त्व है? केश सँवार कर लड़ाई में चिपक जाने वाली स्त्रियाँ फुहड़ कहलाती हैं। वास्तव में परस्पर मेल-मिलाप से रहना ही केश सँवारना है। आपस में मेलरूपी केश सँवार कर न्याय की माँग निकालो। अर्थात् परस्पर मेल होने पर भी अन्याय की बात मत करो। न्याय की बात करो। न किसी का हक छीनो, न खाओ। हो सके तो अपना हक छोड़ दो। इतना नहीं बन सकता तो कम से कम दूसरे का हक हजम मत करो। जो स्त्रियाँ ऐसा करती हैं, समझना चाहिए कि उन्हीं की माँग निकली हुई है। ऐसी देवियों को देवता भी नमस्कार करते हैं।

स्त्रियाँ पैरों में महावर लगाती हैं। किन्तु सच्चा महावर क्या है? हृदय में धैर्यरूपी महावर लगाओ। इसी प्रकार ललाट पर यश का तिलक लगाओ। कम से कम ऐसा कोई काम मत करो जिससे लोक में अपयश होता हो। इस लोक और परलोक में निन्दा कराने वाला कार्य न करना ही स्त्रियों का सच्चा तिलक है।

स्त्रियाँ अपना सिंगार पूरा करने के लिए गाल पर कस्तूरी या काजल की एक बिन्दी लगाती हैं। वह तिल कहलाता है। किन्तु वास्तव में अपना एक भी क्षण व्यर्थ न जाने देना ही सच्चा तिल लगाना है। गन्दे विचारों में समय जाने से ही

अनेक खराबियाँ होती हैं।

परोपकार की मिस्सी लगाओ। केवल दाँत काले कर लेने से क्या लाभ है? एक स्त्री अपनी मिस्सी की शोभा दिखलाने के लिए हँसती रहती है और दूसरी हँसती नहीं है किन्तु परोपकार में लगी रहती है। इन दोनों में से परोपकार करने वाली ही अच्छी समझी जायगी। जो निठल्ली बैठी दाँत निकाला करती है, उसे कोई भली नहीं कहेगा, चाहे मिस्सी कितनी ही बढ़िया क्यों न लगी हो! वास्तव में परोपकार की मिस्सी लगाना ही सच्चा सिंगार है।

पतिव्रता के काजल में भी शक्ति होती है। शिशुपाल ने अपनी भौजाई से कहा था—मैं बनड़ा बना हूँ भाभी, मेरी आँखों में काजल आँज दो। उसकी भौजाई ने कहा—रुक्मिणी को ब्याहने का तुम्हें अधिकार नहीं है, क्योंकि वह तुम्हें चाहती नहीं है। जो चाहती ही नहीं उसे ब्याहने का अधिकार पुरुष को नहीं है। ऐसी हालत में मैं तुम्हें काजल नहीं आँजूँगी। मैंने काजल आँज दिया और तुम वहाँ से कोरे आ गये तो मेरे काजल का अपमान होगा।

अरगजा अर्थात् सौन्दर्य बढ़ाने वाला सुगन्धित द्रव्य, जिसे स्त्रियाँ लगाती हैं, ज्ञान का होना चाहिए। अर्थात् किस अवसर पर क्या करना चाहिए, इसका ज्ञान होना ही सच्चा अरगजालेपन है। इस प्रकार का सिंगार करके शम, दम, संतोष के आभूषण पहनना चाहिए और अपने घर पर आये हुए का अपमान न होने देना ही मेंहदी लगाना होना चाहिए।

सुना है ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की जन्मगाँठ के अवसर पर कलेक्टर आदि प्रतिष्ठित अतिथि उनके घर आये हुए थे। विद्यासागर की माता के हाथ में चाँदी के कड़े थे। माता जब उन अतिथियों के सामने आई तो उन्होंने कहा—विद्यासागर की माता के हाथ में चाँदी के कड़े शोभा नहीं देते। माता ने उत्तर दिया—अगर मैं सोने के कड़े पहनती तो अपने पुत्र को विद्यासागर नहीं बना सकती थी। हाथों की शोभा सोने के कड़े से नहीं दान देने से बढ़ती है। कहा भी है—

दानेन पाणिर्न तु कंकणेन

अर्थात्—हाथ की शोभा दान से है कंकण पहनने से नहीं। हाथों की शोभा मेंहदी लगाने से नहीं होती बल्कि घर पर आए हुए गरीबों को निराश व अपमानित न करके उन्हें दान देने से होती है।

शुभ विचारों की फूलमाला धारण करनी चाहिए, वनस्पति के फूलों की माला पहनना तो प्रकृति की शोभा को नष्ट करना है। इसी प्रकार मुख में पान बीड़ा दबा लेने से स्त्री की *प्रतिष्ठा नहीं बढ़ती। प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए स्त्री को विनय* सीखना चाहिए।

भारत की स्त्रियों में विनय की जैसी मात्रा पाई जाती है, अन्य देशों में नहीं है। यूरोप की स्त्रियों में कितनी विनयशीलता है यह बात तो उस फोटू को देखने से मालूम हो जायगी जिसमें रानी तो कुर्सी पर डटी है और बादशाह जार्ज उनके पास नौकर की भाँति खड़े हैं! भारत की स्त्रियों में इतनी अशिष्टता शायद ही मिले।

इस सब सिंगार पर सत्संगति का छत्र लगाना चाहिए। कुसंगति से यह सब पूर्वोक्त सिंगार भी दूषित हो जाता है। कैकेयी भरत की माता होने पर भी मंथरा की संगति के कारण बुरी कहलाई।

२—कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य

आज कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विषय में बड़ी उलटी-समझ हो रही है। लोगों ने न जाने किस प्रकार अपनी कुछ धारणाएँ बना ली हैं। बाजार से घी लाने में पुण्य है और घर पर गाय का पालन करके घी उत्पन्न करने में पाप है, ऐसा कई लोग समझते हैं। मगर विचारणीय यह है कि बाजार का घी क्या आकाश से टपक पड़ा है? बाजार का घी खरीदने से कितने जानवरों की हिंसा का भागी होना पड़ता है, इस बात पर आपने कभी विचार किया है?

यह सभी जानते हैं कि एक रुपये का जितना विदेशी घी आता है उतने देशी घी के दो रुपये लगते हैं। पर विदेशी घी में किन-किन वस्तुओं की मिलावट होती है, वह स्वास्थ्य को किस प्रकार बिगाड़ता है, इस बात का भलीभाँति अध्ययन किया जाय तो नफे-टोटे की बात मालूम हो जायगी।

जिस देश वाले भारतवर्ष से हजारों मन मक्खन ले जाते हैं, लाखों मन गेहूँ ले जाते हैं वही लोग जब आधी कीमत पर वही वस्तुएँ लाकर हमें देते हैं तो समझना चाहिए कि इसमें कुछ रहस्य अवश्य है। क्या वे दिवालिया बनने के लिए व्यापार करते हैं?

घर पर बनाए हुए घी से बाजार के घी में अधिक पाप क्यों है, इस प्रश्न पर दूसरी दृष्टि से विचार मत कीजिये। आप इस शास्त्र पर नजर रखते हुए विचार कीजिए जो मनुष्य-खाद्य बनाने में घोर आरंभ-समारंभ का होना बतलाता है। विलायती घी तैयार करने के लिए कितने बड़े-बड़े कारखाने खड़े किये जाते हैं और उसके लिए कितने पशुओं का वध किया जाता है? इस बात का जब आपको पूरा पता लग जाएगा तब सहज ही आप जान सकेंगे कि थोड़ा पाप किसमें है और अधिक पाप किसमें है।

बहुत से भाई कहते हैं कि मैं गायें पालने का उपदेश देता हूँ। वह कहते हैं—महाराज गायें पलवाते हैं, पर मैं क्या उपदेश देता हूँ, क्या कहता हूँ और किस आधार से कहता हूँ, इस बात को वे समझने का कष्ट नहीं उठाते। उन्हें कौन समझाए कि साधु का कर्त्तव्य जुदा होता है और गृहस्थ का धर्म जुदा है। दोनों की परिस्थितियाँ इतनी भिन्न हैं कि उनका कर्त्तव्य एक नहीं हो सकता। साधु कभी सावद्य भाषा का प्रयोग नहीं करता।

शास्त्र में प्रतिपादित कर्त्तव्य क्या है और आधुनिक श्राविकाएँ उसे किस रूप में समझती हैं, इस बात का विचार करने से आश्चर्य होने लगता है। कोई-कोई श्राविका चक्की न चलाने की प्रतिज्ञा लेती है। वह समझती है—'चक्की नहीं चलाऊँगी तो पाप से बच जाऊँगी।' मगर उन्हें यह विचार नहीं आता कि आटा तो खाना ही पड़ेगा, फिर वह पाप से कैसे बच जायगी?

मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि मशीन से आटा पिसवाने की अपेक्षा हाथ से पीसकर खाने में कम पाप होता है। इसका

कारण यह है कि हाथ से पीसने में यतना रक्खी जा सकती है। पीसते समय गेहूँ आदि में कोई जीव-जन्तु गिर जाय तो उसे बचाया जा सकता है। चक्की के पाटों के बीच में छिपे हुए जीवों की रक्षा की जा सकती है। हाथ से इतना अधिक आटा नहीं पीसा जाता कि उसका बहुत अधिक संग्रह हो जाय।

३—मशीन का आटा

अभी कुछ दिनों पहले तक गृहस्थ बहिनें अपने हाथ से आटा पीसती थीं। धनाढ्य और निर्धन का इस विषय में कोई भेद नहीं था। शरीर के लिए किसी न किसी प्रकार के शारीरिक व्यायाम की जरूरत होती ही है। नीरोग रहने के लिए यह अत्यावश्यक है। अपने हाथ से आटा पीसने में बहिनों को अच्छा व्यायाम हो जाता था और वे कई प्रकार के रोगों से बची रहती थीं। परन्तु आजकल हाथ की चक्की घरों से उठ गई और उसका स्थान पन-चक्की ने ग्रहण कर लिया है। बहिनें आलसी हो गई हैं। वे अपने हाथ से काम करने में कष्ट मानती हैं और धीरे-धीरे बड़प्पन का भाव भी उन्हें ऐसा करने के लिए रोकने लगा है। इसका एक परिणाम तो प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है कि बहिनों ने अपना स्वास्थ्य खो दिया है। आज अधिकांश बाइयाँ निर्बल नि सत्व और तरह तरह के रोगों से ग्रस्त हैं। प्रसव के समय अनेक बहिनों को भारी कष्ट उठाना पड़ता है और कइयों को तो प्राणों से भी हाथ धो बैठना पड़ता है। इसका एक प्रधान कारण आलस्यमय जीवन है, जिसकी बदौलत वे शारीरिक श्रम से वंचित रहती हैं। इतना सब होते हुए भी, उनकी आँखें नहीं खुलतीं, यही आश्चर्य है।

शारीरिक रोगों के अतिरिक्त पनचक्की के कारण और भी अनेक हानियाँ होती हैं। पनचक्की आटे का असली सत्त्व तो भाप बन जाती है और सिर्फ आटे का निःसत्त्व कलेवर बाकी रहता है। संसार में कहावत है—जिस वस्तु पर डाकिन की दृष्टि पड़ जाती है वह सत्त्व-रहित हो जाती है। डाकिन के सम्बन्ध में यह कहना तो सिर्फ वहम मात्र है, लेकिन पनचक्की तो प्रत्यक्ष ही अन्न का सत्त्व खा जाती है। पनचक्की में पिस कर निकला हुआ आटा जलता हुआ होता है और ठंडा होने पर ही काम में आता है। वह जलता हुआ आटा मानो कह रहा है कि—'मेरा सत्त्व चूस लिया गया है और मैं बुखार चढ़े हुए मनुष्य की तरह कमजोर हो गया हूँ।'

पनचक्की का आटा खाने में आपको सुभीता भले ही मालूम होता हो, लेकिन किसी भी दृष्टि से वह लाभप्रद नहीं है। संस्कार की दृष्टि से भी वह अत्यन्त हेय है। बम्बई में सुना था कि मछली बेचने वाले लोग जिस टोकरी में मछलियाँ रखकर बेचते हैं उसी टोकरी में गेहूँ लेकर पनचक्की में पिसाने ले जाते हैं। मछली वाली टोकरी के गेहूँ जिस चक्की में पिसते हैं उसी में दूसरे गेहूँ पिसते हैं। लोग यों तो छुआछूत का बड़ा ध्यान रखते हैं लेकिन पनचक्की में वह छुआछूत भी पिस कर चूरा-चूरा हो जाती है। क्या मछली वाली टोकरी के गेहूँ का आटा पनचक्की में रह कर आप लोगों के आटे में नहीं मिलता होगा? और वह आटा बुरे संस्कार नहीं डालता होगा?

आप डाक्टरों की राय लेंगे तो वह आपसे बतलावेंगे

कि पनचक्की का आटा हानिकारक है।

इसके सिवाय हाथ की चक्की से अल्प-आरम्भ से काम चलता था, लेकिन पनक्चकी से महा-आरम्भ होता है।

पनचक्की से गृहस्थ-जीवन की एक स्वतन्त्रता नष्ट हो गई और परतन्त्रता पैदा हो गई है।

४—बिना छना पानी

गर्मी और वर्षा के कारण आटे में भी कीडे पड़ जाते हैं, जल में भी कीड़े पड़ जाते हैं और ईंधन मे भी। लोग धर्म-ध्यान तो करते हैं, परन्तु इन जीवों की रक्षा करने में और हिंसा के घोर पाप से बचने में न मालूम क्यों आलस्य करते हैं? बड़े-घड़े मटकों में भरा हुआ पानी कई दिनों तक खाली नहीं होता। पहले से भरे हुए पानी में दूसरा पानी डालते रहते हैं। कदाचित् पहले का पानी आरम्भ में छान कर भरा गया हो, तो भी उसमें जीव उत्पन्न हो जाते हैं। एक बार छना हुआ जल सदा के लिए छना हुआ जल नहीं रहता। अतएव ऊपर से नया पानी डाल देने से वह भी बिना छना पानी हो जाता है। उसे व्यवहार में लाना हिंसा का कारण है। अगर जल छानने की यतना मर्यादापूर्वक की जाय, तो अहिंसा-धर्म का भी पालन हो और स्वास्थ्य की भी रक्षा हो। आप सामायिक आदि धर्म-ध्यान तो करते हैं, पर कभी इस पर ध्यान देते हैं कि आपके घर में पानी छानने के कपड़े की क्या दशा है?

पहनने-ओढ़ने के कपड़ों की सफाई करते हैं, परन्तु पानी छानने के कपडे की ओर ध्यान नहीं जाता। सेठ-सेठानी

की पेटियाँ कपड़ों से भरी रहती हैं, फिर भी पानी छानने के कपड़े में तो कंजूसी ही की जाती है। आप स्वयं इस ओर ध्यान नहीं देते। नौकरों के भरोसे छोड़ देते हैं। इस कारण जल की पूरी तरह यतना नहीं होती।

लोगों ने इस प्रकार की छोटी-छोटी बातों में भी विधि का नाश कर डाला है। केवल जल न छानने के कारण ही— बिना छना जल पीने से ही बहुत रोग होते हैं, ऐसा डाक्टरों का मत है। बिना छना जल न पीने से अहिंसा बढ़ेगी, रोगों से रक्षा होगी और दया का पालन होगा। जो आदमी बिना छना जल भी न पीयेगा, उसके हृदय में कभी मछली पकड़ने की भावना उत्पन्न होगी।

५—रात्रिभोजन

जल छानने के साथ ही भोजन में भी विवेक रखने की आवश्यकता है। रात्रि-भोजन अत्यन्त ही हानिकारक है। क्या जैन और क्या वैष्णव सभी धर्मों में रात्रि-भोजन को त्याज्य माना गया है। जिसने रात्रि भोजन त्याग दिया है वह एक प्रकार से तपस्या करके अनेक रोगों से बच रहा है। रात्रि भोजन त्यागने से बहुत लाभ होता है। प्लेग के कीड़ों का जोर दिन में उतना नहीं होता, जितना रात्रि में होता है। रात्रि में प्लेग के कीड़े प्रबल हो जाते हैं दिन में सूर्य की किरणों से या तो वह नष्ट हो जाते हैं या प्रभावहीन हो जाते हैं। डाक्टरों और शास्त्रकारों का कथन है कि जो भोजन रात्रि में

रहता है, उसमें अनेक प्रकार के कीटाणु पैदा हो जाते हैं। इस प्रकार रात्रि का भोजन सब प्रकार से अभक्ष्य होता है। मगर खेद है कि कई भाई चार पहर के दिन में तो भोजन नहीं कर पाते और रात्रि में ही फुर्सत पाते हैं।

रात्रि-भोजन की बुराइयाँ इतनी स्थूल हैं कि उन्हें अधिक समझाने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। रात्रि में चाहे जितना प्रकाश किया जाय, अँधेरा रहता ही है। बल्कि प्रकाश को देख कर बहुत-से कीड़े आ जाते हैं और वे भोजन में गिर जाते हैं। अगर एकदम अँधेरे में भोजन किया जाय तो आकर गिरने वाले जीवजन्तुओं का पता लग ही नहीं सकता। इस प्रकार दोनों अवस्थाओं में रात्रि-भोजन करने वाले अभक्ष्यभक्षण और हिंसा के पाप से नहीं बच सकते। रात्रि भोजन के प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाले दोषों का दिग्दर्शन कराते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

मेधां पिपीलिका हन्ति, यूका कुर्याज्जलोदरम् ।
कुरुते मक्षिका वान्तिं, कुष्ठरोगं च कोलिकः ॥
कण्टको दारुखण्ड च, वितनोति गलव्यथाम् ।
व्यञ्जनान्तर्निपतितस्तालु, विध्यति वृश्चिकः ॥
विलमश्च गले वाल , स्वरभङ्गाय जायते ।
इत्यादयो दृष्टदोषा सर्वेषां निशिभोजने ॥

—योगशास्त्र, तृतीय प्रकाश

अर्थात्—रात्रि में विशेष प्रकाश न होने के कारण अगर कीड़ी भोजन के साथ पेट में चली जाय, तो वह मेधाशक्ति (बुद्धि) का नाश करती है। जूँ गिर जाय तो

जलोदर नामक भयङ्कर रोग होता है। मक्खी से वमन होता है। कोलिक (जीव विशेष) से कोढ़ होता है। काँटा या लकड़ी भी भोजन के साथ खाने में आ जाय तो गले में पीड़ा हो जाती है। कदाचित् बिच्छू व्यंजनों में मिल जाय तो वह तालु को फोड़ डालता है। बाल से स्वरभंग होता है। इस प्रकार के अनेक दोष रात्रि-भोजन करने से उत्पन्न होते हैं।

पूर्वोक्त शारीरिक दोषों के अतिरिक्त रात्रि-भोजन हिंसा का कारण तो है ही। इस विषय में कहा है—

जीवाण कुंथुमाईण घायणं भायणधोयणाईसु।
एवमाइ रयणिभोयणदोसे को साहिउं तरइ॥

अर्थात्—जो लोग रात्रि में भोजन करते हैं उनके यहाँ रात्रि में भोजन पकाने का भी विचार नहीं रहता और ऐसी स्थिति में बर्तन धोने आदि कामों में कुंथुवा आदि जीवों की घोर हिंसा होती है। रात्रि-भोजन में इतने अधिक दोष हैं कि कहे नहीं जा सकते।

रात्रि-भोजन के दोषों के उदाहरण खोजने से सैकड़ों मिल सकते हैं। जिस रात्रि भोजन को अन्य लोग भी निषिद्ध मानते हैं उसका सेवन अहिंसा और संयम का अनुयायी जैन किस प्रकार कर सकता है? एक उदाहरण लीजिये—

जैनी राजा भी यहाँ रहते हैं सुन भाई।
हठ करके किसी ने खाया, क्या नसीहत पाई॥
रमरमाल सागर में दुनिया का उसकी थी भारी।
प्यास लगी पानी की उसको रात की भयकारी॥

मकड़ी उसमें पड़ी आन कर, जहरी थी भारी।
जहरी मकड़ी गई पेट में, हो गई दुखियारी॥
पेट फूला और सूजी सारी,
वैद औषधि करी तयारी।
नहीं लागे कारी॥
छह महीने में मुई निकली, सागर में भाई ॥ह०॥

आप इस कविता की शाब्दिक त्रुटियों पर ध्यान न देकर उसके भावों पर ध्यान दीजिए। रात्रि भोजन से होने वाली हानियों के उदाहरण पहले के भी हैं और आज भी अनेक सुने जाते हैं। सागर के हकीम ने रोगों पर हिकमत चलाई, लेकिन रात्रि का भोजन नहीं त्यागा। नतीजा यह हुआ कि उसे अपनी स्त्री से हाथ धोना पड़ा। आजकल के वैज्ञानिक भी रात्रि-भोजन को राक्षसी भोजन कहते हैं। रात्रि में पक्षी भी खाना-पीना छोड़ देते हैं। पक्षियों में नीच समझे जाने वाले कौवे भी रात में नहीं खाते। हाँ, चमगीदड़ रात्रि को खाते हैं, परन्तु क्या आप उन्हें अच्छा समझते हैं? आप उनका अनुकरण करना पसन्द करते हैं?

सारांश यह है कि रात्रि भोजन अहिंसा और स्वास्थ्य दोनों का ही नाशकर्ता है, अतएव सब भाइयों और बहिनों को धर्म की और साथ ही शरीर की रक्षा के लिए रात्रि भोजन का त्याग करना चाहिये।

कुछ दिन हुए एक समाचार-पत्र में एक घटना पढ़ी थी। वह इस प्रकार थी—२६ व्यक्ति के यहाँ कुछ मित्र आये मित्र लोग आधुनिक शिक्षा से सभी बातों से युक्त थे

बम्बई की तरफ के लोगों में चाय का विशेष तौर पर सत्कार होता है। रात्रि के दस ग्यारह बजे का समय था। एक व्यक्ति ने आगुन्तक मित्रों के लिए चाय बनाई। सब ने रुचि के साथ चाय पी ली। लेकिन एक भला आदमी ऐसा था जो रात को कुछ खाता पीता नहीं था। उसने चाय नहीं पी। दूसरे आदमियों ने बहुत आग्रह किया दबाव डाला। उससे कहा गया—'यार! इतना पढ़-लिख करके भी धर्म-कर्म के ढोंग में पड़े हो! यह भ्रम तो दिल की दुर्बलता है। धर्म ने और साधुओं ने ही सब खराबी कर रक्खी है। भाई, थोड़ी चाय पी लो थकावट मिट जायगी। तबीयत हरी हो जायगी।

चाय के विज्ञापनों में लिखा रहता है कि गर्म चाय थकावट को मिटाती है, स्फूर्ति देती है, आदि आदि। इस प्रकार के विज्ञापनों द्वारा चाय का प्रचार किया जाता है। मगर कौन विचार करता है कि चाय से क्या-क्या हानियाँ होती हैं? विज्ञापनों द्वारा लोगों को किस प्रकार भुलावे में डाला जाता है!

बहुत आग्रह करने पर भी उस एक पुरुष ने चाय पीना स्वीकार नहीं किया। शेष सब चाय पीकर सो गये। वह लोग जो सोये सो सदा के लिए ही सोये। सवेरा होने पर भी नहीं उठे। बिस्तरों पर उनके निर्जीव शरीर पड़े थे। अपने मित्रों को मरा हुआ देखकर चाय न पीने के कारण जीवित रहने वाला बहुत घबराया। उसने सोचा—कहीं मुझ पर ही कोई आफत न आ पड़े। थाने में इत्तला करने पर पुलिस तहकीकात करने आई। उस जीवित बचने वाले ने कहा—यह सब

लोग चाय पी-पी कर सोये थे। जान पड़ता है, चाय में ही कोई विषैली चीज मिली होगी। इनकी मृत्यु का और कारण मालूम नहीं होता। पुलिस-अफसर ने चायदानी देखी तो मालूम हुआ कि चायदानी की नली में एक छिपकली जमी हुई थी, जो चाय के साथ उबल गई और उसके जहर से सभी पीने वाले अपने प्राणों से हाथ धो बैठे।

कोद (बिडवाल) की ठकुरानी ने दिन भर एकादशी का व्रत किया और रात को फलाहार करने लगी। ठकुरानी ने केवल एक ही ग्रास खाया था कि भयंकर रोग हो गया। अनेक प्रकार की चिकित्सा करने पर भी वह न बच सकी।

अस्तंगते दिवानाथे आपो रुधिरमुच्यते ।
अन्न मांससमं प्रोक्तं, मार्कण्डेयमहर्षिणा ॥

यहां सूर्य डूबने के पश्चात् अन्न को मास और पानी को रुधिर के समान बतलाया गया है। यह चाहे आलंकारिक भाषा हो, फिर भी कितने तीखे शब्दों में रात्रि के भोजन-पान का त्याग बतलाया गया है। अतएव रात्रि-भोजन के अनेक विध दोषों का विचार करके आप उसका त्याग करें।

६—चाय

चाय का प्रचार बहुत हो गया है। चाय का प्रचलन हो भले गया हो मगर समझदार लोगों का कहना है कि चाय हानि करने वाली चीज है। अतएव इस पाप को भी त्यागने की आवश्यकता है। यह मत देखो कि इसका प्रचार बहुत लोगों में हो गया है। यह भी मत सोचो कि सभ्य कहलाने

वाले लोग इसका सेवन करते हैं। जब यह निश्चित है कि चाय हानिकारक है तो फिर कोई भी उसका सेवन क्यों न करे, वह हानिकारक ही रहेगी। जिस हानि करने वाली चीज का अधिक प्रचार हो जाता है, उसी का निषेध किया जाता है। कहा जाता है कि उबलते हुए पानी में दूध डालने से उसका सत्व नष्ट हो जाता है। कई स्थानों पर चाय का व्यवहार बन्द करने के लिए होटलों पर टैक्स बढ़ा दिया गया है, लेकिन इसका कोई अभीष्ट परिणाम नहीं आया। होटल वाले पैसे बचाने के लिए दूध के बदले अन्य चीजें डाल देते हैं और इस प्रकार वे तो अपने टैक्स की पूर्ति कर लेते हैं परन्तु ग्राहकों को मूर्ख बनना पड़ा है।

सरकारी आदेश से ऐसी चीजों के बन्द होने की अपेक्षा प्रजा स्वयं समझ कर बन्द कर दे तो कितना अच्छा हो! अगर आप लोग विचार करें तो राज्य-सत्ता की भी सहायता मिल सकती है और चाय के पाप से आपका छुटकारा हो सकता है।

इस देश में चाय का इतना अधिक प्रचलन हो गया है कि बहिनें भी चाय पीने लगी हैं और वह कोई बुरा काम नहीं समझा जाता। मैंने तो यहाँ तक सुना है कि उपवास करने वाली बाइयाँ पारणा करते समय पहले चाय लेती हैं। यह बड़ी भयंकर बात समझिए। जब स्त्री और पुरुष दोनों ही चाय के शौकीन हो जाएँ तो फिर चाय को डर ही किसका रहा! घर में उसका स्वच्छन्द विहार होगा और वह बाल-बच्चों को भी चूसे बिना नहीं रहेगी। अतएव इस दुर्व्यसन का त्याग करने के सम्बन्ध में भी विचार करना चाहिए।

७—सच्ची लज्जा

आजकल की बहुत-सी स्त्रियाँ घूघट पर्दा आदि से ही लज्जा की रक्षा समझती हैं, किन्तु वास्तव में लज्जा कुछ और ही है। लज्जावती अपने अंग-अंग को इस प्रकार से छिपाती है कि कुछ कहा नहीं जा सकता। लज्जावती कैसी होती है, यह बात उदाहरण से समझ लीजिये—

एक लज्जावती बाई पतिव्रत धर्म का पालन करती हुई अपना जीवन बिताती थी। उसने यह निश्चय किया था कि मेरे साथ जो भी कोई रहेगी, उसे भी मैं ही शिक्षा दूंगी। उसकी शिक्षा से मुहल्ले की बहुत सी स्त्रियाँ सदाचारिणी बन गईं।

उसी मुहल्ले में एक और औरत थी, जिसका स्वभाव इससे एकदम विपरीत था। यह पूर्व को तो वह पश्चिम को जाती थी। वह अपना दल बढ़ाने के लिए स्त्रियों को भरमाया करती। उस पतिव्रता की निन्दा करती, उसकी संगति को बुरा बतलाती और कहती—'अरी, उसकी संगत करोगी तो जोगिन बन जाओगी। खाना पीना और मौज करना ही तो जीवन का सबसे बड़ा लाभ है।

कुछ स्त्रियाँ उस निर्लज्जा और धूर्ता स्त्री की भी बातें सुनने वाली थीं, पर ऐसी थी कम ही सदाचारिणी की बातें सुनने वाली बहुत थीं। यह देखकर उसे बड़ी ईर्ष्या होती और उसने उस सदाचारिणी की जड़ खोद फेंकने का निश्चय कर लिया।

वह सदाचारिणी बाई बड़ी लज्जावती थी, मगर ऐसी नहीं कि घर में ही बन्द रहे और बाहर न निकले। वह अपने

काम करने के लिए बाहर भी जाती थी। जब वह बाहर निकलती तो निर्लज्जा उससे कहती—मैं तुझे अच्छी तरह जानती हूँ कि तू कैसी है। बड़ी बगुला-भगत बनी फिरती है, लेकिन तेरी जैसी दूसरी कहीं शायद ही मिले।

निर्लज्जा ने दो-चार बार कल्यावती से ऐसा कहा। कल्यावती ने सोचा—क्षमा रखना तो उचित है, पर ऐसा करने से—चुपचाप सुन लेने से तो लोगों को शंका होने लगेगी। एक बार ऐसा ही प्रसंग उपस्थित होने पर उसने रुक कर कहा—'तेरा मार्ग अलग है और मेरा मार्ग अलग है। मेरा-तेरा कोई लेन-देन नहीं फिर बिना मतलब अपनी जबान क्यों *बिगाड़ती है ?*

कल्यावती का इतना कहना था कि निर्लज्जा भड़क उठी। वह कहने लगी—'तू मीठी-मीठी बातें बनाकर अपने ऐब छिपाती है और लाज रखती रहती है। मगर मैं तेरे सारे ऐब संसार के सामने खोल कर रख दूँगी।'

यह सुनकर कल्यावती को भी कुछ तेजी आ गई। उसने उस कुलटा से कहा—'तुझे मेरे चरित्र को प्रकट करने का अधिकार है मगर जो बढ़ा-चढ़ा कर-झूठमूठ कहा तो तेरा भला न होगा।

पतिव्रता की यह युक्तिपूर्ण बात सुनकर लोगों पर अच्छा प्रभाव पड़ा। लोगों ने उससे कहा—बहिन तुम अपने घर जाओ। यह कैसी है, यह सभी जानते हैं। लोगों की बात सुनकर पतिव्रता अपने घर चली गई। यह देखकर कुलटा ने

सोचा—'हाय ! वह भली और मैं बुरी कहलाई। अब इसकी पूछ और बढ़ जायगी और मेरी बदनामी बढ़ जायगी। ऐसे जीवन से तो मरना ही भला ! मगर इस प्रकार मरने से भी क्या लाभ है? अगर उसे कोई कलंक लगाकर उसके प्राण ले सकूँ तो मेरे रास्ते का काँटा दूर होजाए। मगर कलंक क्या लगाऊँ? और कोई कलक लगाने पर तो उसका साबित करना कठिन हो जायगा। क्यों न मैं अपने लड़के को ही मार डालूँ और दोष उसके माथे मढ़ दूँ। लोगों को विश्वास हो जायगा और उसका भी खात्मा हो जायगा।'

इस प्रकार क्रूरतापूर्ण विचार करके उसने अपने लड़के के प्राण ले लिये। लड़के का मृत शरीर उस सदाचारिणी के मकान के सामने कुएँ में फैंक आई। इसके बाद रो-रो कर, बिलख २ कर अपने लड़के को खोजने लगी। हाय ! मेरा लड़का न जाने कहाँ गायब हो गया है ! दूसरे लोग भी उसके लड़के को ढूँढने लगे। आखिर वह लोगों को उसी कुएँ के पास लाई जिसमें उसने लड़के का शव फैंका था। लोगों ने कुएँ को ढूँढा तो उसमें से बच्चे की लाश निकल आई। लाश निकलते ही दुराचारिणी उस सदाचारिणी का नाम ले-लेकर कहने लगी—'हाय ! उस भगतन की करतूत देखो। उस पापिनी ने मुझसे वैर भँजाने के लिए मेरे लड़के को मार डाला ! डाकिन ने मेरा लाल खा लिया। हाय ! मेरे लड़के को गला घोट कर मार डाला।'

आखिर न्यायालय में मुकदमा पेश हुआ। दुराचारिणी ने सदाचारिणी पर अपने लड़के को मार डालने का अभियोग लगाया। सदाचारिणी को भी न्यायालय में उपस्थित होना पड़ा। उसने सोचा—बड़ी विचित्र घटना है। मैं

उस लड़के के विषय में कुछ नहीं जानती फिर भी मुझ पर हत्या का आरोप है। खैर कुछ भी हो, अभियोग का उत्तर तो देना ही पड़ेगा।

कुलटा स्त्री ने अपने पक्ष के समर्थन में कुछ गवाह भी पेश किये। सदाचारिणी से पूछा गया—'क्या तुमने इस लड़के की हत्या की है?'

सदाचारिणी—नहीं मैंने लड़के को नहीं मारा, किसने मारा है यह भी मैं नहीं जानती और न मुझे किसी पर शक ही है।

मामला बादशाह के पास पहुँचाया गया। बादशाह बड़ा बुद्धिमान् और चतुर था। उसने सदाचारिणी को भलीभाँति देखा और सोचा—कोई कुछ भी कहे सबूत कुछ भी हो पर यह निश्चित मालूम होता है कि इसने लड़के की हत्या नहीं की।

बादशाह का वजीर भी बड़ा बुद्धिमान् था। उसने कहा—इस मामले में कानून की किताबें मददगार नहीं होतीं। यह मेरे सुपुर्द कीजिये। मैं इसकी जाँच करूँगा।

बादशाह ने वजीर को मामला सौंप दिया। वजीर दोनों स्त्रियों को साथ लेकर अपने घर आया। वह जब सदाचारिणी को साथ लेकर एक ओर जाने लगा। सदाचारिणी ने वजीर से कहा—मैं अकेली परपुरुष के साथ एकान्त में कदापि नहीं जा सकती। फिर वह चाहे सगा बाप ही क्यों न हो! आप को पूछना चाहें, पूछ सकते हैं।

वजीर ने धीमे स्वर में कहा—तुम एक बात मेरी मानों तो मैं तुम्हें बरी कर दूगा।

सदाचारिणी—आपकी बात सुने बिना मैं नहीं कह सकती कि मैं उसे मान ही लूँगी। अगर धर्मविरुद्ध बात नहीं हुई तो मान लूँगी, अन्यथा जान देना मजूर है।

वजीर—मैं तुम्हारा धर्म नहीं जाने दूगा, तब तो मानोगी।

सदाचारिणी—अगर धर्म न जाने योग्य बात है तो साफ क्यों नहीं कहते ?

वजीर—तुम्हारे खिलाफ यह अरोप है कि तुमने लड़के को मारा है। न मारने की बात केवल तुम्हीं कहती हो, पर तुम्हारी बात पर विश्वास कैसे किया जाय ? अपनी बात पर विश्वास कराना है तो नंगी होकर मेरे सामने आ जाओ। इससे मैं समझ लूगा कि तुमने मेरे सामने जैसे शरीर पर पर्दा नहीं रक्खा उसी प्रकार बात कहने मे पर्दा न रक्खोगी।

सदाचारिणी—जिसे मैं प्राणों से भी अधिक समझती हूँ, उस लज्जा को नहीं छोड़ सकती और आपका भी यह कर्त्तव्य नहीं है। आप चाहें तो शूली पर चढ़ा सकते हैं—फाँसी पर लटकाने का आपको अधिकार है, परन्तु लज्जा का त्याग मुझ से न हो सकेगा।

इतना कह कर वह वहाँ से चल दी। वजीर ने कहा—'देखो, समझ लो। न मानोगी तो, मारी जाओगी।' सदाचारिणी ने कहा—'आपकी मर्जी। यह शरीर कौन हमेशा के लिए

लिया है। आखिर मनुष्य मरने के लिए ही तो पैदा हुआ है।'

फकीर ने सोच लिया— यह भी सच्ची और सती है।'

इसके बाद फकीर ने कुब्जा को बुलाकर यही कहा—'तुम मेरी एक बात मानो तो तुम जीत जाओगी।'

कुब्जा—मैं तो जीती हुई हूँ ही। मेरे पास बहुत से सबूत हैं।

फकीर—नहीं अभी संदेह है। वह बाई हत्यारिणी नहीं है।

कुब्जा—आप इस के जाल में तो नहीं फँस गये? वह बड़ी धूर्त है।

फकीर—यह संदेह करना व्यर्थ है।

कुब्जा—फिर आप उस हत्यारिणी को निर्दोष कैसे बतलाते हैं?

फकीर—अच्छा मेरी बात मानो।

कुब्जा—क्या?

फकीर—तुम मेरे सामने कपड़े खोल दो तो मैं समझूँगा कि तुम सच्ची हो।

कुब्जा अपने कपड़े खोलने लगी। फकीर ने उसे रोक दिया और जल्लाद को बुला कर कहा—'इसे ले जाकर बेंत लगाओ।

जल्लाद उसे बेरहमी से पीटने लगा। वह चिल्लाई— ईश्वर के नाम पर मुझे मत मारो। जल्लाद ने पूछा— तो बता,

लड़के को किसने मारा है ?' कुलटा ने सच्ची बात स्वीकार कर ली। मार के आगे भूत भागता है, यह कहावत प्रसिद्ध है।

वजीर ने अपना फैसला लिखकर बादशाह के सामने पेश कर दिया। कहा—लड़के की हत्या उसकी मा ने ही की है।

बादशाह ने कहा—यह कौन मान सकता है कि माता अपने पुत्र को मार डाले ! लोग अन्याय का सदेह करेंगे।

वजीर ने कहा—यह कोई अनोखी बात नहीं है। धर्मशास्त्र के अनुसार पहला धर्म लज्जा है। जहाँ लज्जा है, वहीं दया है। मैंने दोनों की लज्जा की परीक्षा की। पहली बाई ने मरना स्वीकार किया, पर लाज तजना स्वीकार न किया। यह धर्मशीला है। इस दूसरी ने मुझे भी कलङ्क लगाया और फिर लाज देने को तैयार हो गई। यह देखकर इसे पिटवाया तो लड़के की हत्या करना स्वीकार कर लिया।

सारा मामला बदल गया। सच्चरित्रा बाई के सिर मढ़ा हुआ कलंक मिट गया। बादशाह ने सच्चरित्रा को धन्यवाद देकर कहा—'आज से तुम मेरी बहिन हो।'

लज्जा के प्रताप से उस बाई की रक्षा हुई। वह लाज तज देती तो उसके प्राण भी न बचते। बादशाह ने कुलटा को फांसी की सजा सुनाई और सदाचारिणी से कहा—'बहिन ! तुम जो चाहो, मुझ से माग सकती हो।'

सदाचारिणी बाई ने उठकर कहा—'आपके अनुग्रह के लिए आभारी हूँ। मैं आपके आदेशानुसार यही मागती हूँ

कि यह बाई मेरे निमित्त से न मारी जाय। इस पर दया की जाय।"

बादशाह ने वजीर से कहा—तुम्हारी बात बिलकुल सत्य है। जिसमें लज्जा होगी, उसमें दया भी होगी। इस बाई को देखो। अपने साथ बुराई करने वाली की भी फिक्र बाई कर रही है।

बादशाह ने सदाचारिणी बाई की बात मान कर कुलटा को क्षमा-दान दे दिया। कुलटा पर इस घटना का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसका जीवन एक दम बदल गया।

सारांश यह है कि लज्जा एक बड़ा गुण है। जिसमें लज्जा होगी वह धर्म का पालन करेगा।

८—अपने दोष देखो

दूसरे के अवगुण देखने से काम नहीं चलेगा। अपने अपने अवगुण देखने से ही कल्याण का मार्ग मिल सकता है। दूसरों के अवगुण देखना स्वयं एक अवगुण है। दुनिया के अवगुणों को अपने चित्त में धारण करोगे तो चित्त अवगुणों का खजाना बन जायगा। इस के अतिरिक्त अवगुण आपके लिए ऐसे साधारण हो जाएँगे कि आप उन्हें शायद दोष भी समझना छोड़ दें। दुनियाँ के प्रत्येक मनुष्य में अगर कुछ अवगुण होंगे तो कुछ गुण भी होंगे। आप अपनी दृष्टि ऐसी उज्ज्वल बनाइए कि आपको दूसरे के गुण दिखाई दें। मगर अवगुणों की तरफ दृष्टि मत जाने दीजिए। हाँ, अवगुण देखना है तो अपने ही

अवगुण देखो। अपने अवगुण देखने से उन्हें त्यागने की इच्छा होगी और आप सद्गुणी बन सकेंगे।

अगर परमात्मा के दर्शन करने हैं तो सीधे मार्ग पर आकर यह विचार करो—मैं अपराधी हूँ। मेरे अवगुणों का पार नहीं है। प्रभो! मुझसे यह अवगुण कब छूटेंगे?

इस प्रकार अपने दोष देखते रहने से हृदय निर्दोष बनेगा और परमात्मा का दर्शन होगा। कोई आदमी चित्र बनाना न जानता होगा तब भी यदि वह काच पास में रख कर किसी वस्तु के सामने करेगा तो उस वस्तु का प्रतिबिंब उस काच में आ जायगा। अगर काच ही मैला होगा तो फोटो नहीं आएगा। अतएव अगर और कुछ न बन पड़े तो भी हृदय को काच की तरह स्वच्छ रक्खो। इससे परमात्मदर्शन हो सकेगा।

६–द्रौपदी की विदाई

शुभ मुहूर्त्त में द्रौपदी का विवाह हुआ। द्रुपद और कृष्ण ने पांडवों को खूब सम्पत्ति दहेज में दी। द्रौपदी अन्य रानियों के साथ अपनी सास कुन्ती के पास गई।

द्रौपदी के परिवार वालों को और खास तौर पर उसकी माता को विदाई के समय कितना दुःख हुआ होगा, यह बात भुक्तभोगी गृहस्थ ही समझ सकते हैं। लड़की की विदाई का करुण दृश्य देखा नहीं जाता। कन्या का वियोग हृदय को हिला देता है। साधारण घरों में भी कन्या की विदाई के समय

कोलाहल मच जाता है तो राजकुमारी द्रौपदी की विदाई का किन शब्दों में वर्णन किया जा सकता है ?

द्रौपदी की माता ने द्रौपदी को दिलासा देते हुए कहा— बेटी जैसे मैं अपने पिता का घर छोड़ कर यहाँ आई हूँ, उसी प्रकार तू भी घर छोड़कर ससुराल जा रही है। यह तो लोक की परम्परा ही है। इसका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। तेरी जैसी पुत्री पाकर मैं भिहाल हुई हूँ, अब अपनी दूध की लाज रखना तेरे हाथ की बात है।, तूने मेरे स्तनों का दूध पिया है, इसलिए ऐसा कोई काम मत करना जिससे मेरा मुँह काला हो। अपने जीवन में कोई भी अपवाद न लगने देना।

अच्छी माता ऐसी ही शिक्षा देगी। वह बतलाएगी कि तुझे पति सास ससुर और जेठों-चाचों के साथ कैसा शिष्टतापूर्ण व्यवहार करना चाहिए। कोई समझदार माता अपनी लड़की को यह नहीं समझाएगी कि—अब तुम रानी हो सो मनमानी करना।

खेद है कि आजकल की अशिक्षित माताएँ अपनी पुत्रियों को उल्टा पाठ पढ़ाती हुई कहती हैं—देख बेटी, हमने तुझे बेचा नहीं है। तेरे बदले म कुछ लिया भी नहीं है।। इसलिए सास आदि से बने तो ठीक, नहीं तो जामाता को अलग दुकान करा देंगे ? ऐसी शिक्षा स्त्रियों द्वारा दी ही जाती है। आरम्भ में ही इस प्रकार क बुरे संस्कार डालने के कारण लड़की का भविष्य बुरी तरह बिगड़ जाता है।

द्रौपदी की माता न उसे सीख दी थी कि—बेटी अपने घर की आग बाहर मत निकालना। इसी तरह बाहर की

आग घर में मत लाना। जो देने लायक हो उसे देना, जो न देने योग्य हो उसे न देना। इसी प्रकार दोनों को देना तथा घर की अग्नि आदि देवों की पूजा करना।

यह बातें आलंकारिक ढंग से कही गई हैं। घर की आग बाहर मत निकालना और बाहर की आग घर में मत लाना, इस कथन का अर्थ यह है कि कदाचित घर में क्लेश हो जाय तो दूसरों के आगे इसका रोना मत रोना। उसे बाहर प्रकट नहीं करना बल्कि घर में ही बुझा देना। इसी प्रकार बाहर की लड़ाई घर में न आने देना। दूसरों की देखीदेखी अपने घर में कोई बुराई न आने देना।

आज भारतीय बाहर की—यूरोप की आग अपने घरों में ले आये हैं। यूरोप की अनेक बुराइयाँ आज भारत में घर कर रही हैं। इसी कारण भारतीय जीवन मलीन और दुखमय बनता जारहा है। भारत की उज्ज्वल संस्कृति नष्ट हो रही है और उसका स्थान एक ऐसी संस्कृति ले रही है जिसके गर्भ में घोर अशांति, घोर असंतोष, घोर नास्तिकता और विनाश ही भरा हुआ है। द्रौपदी को मिली हुई शिक्षा भारतीयों के लिए इस समय बहुत उपयोगी साबित हो सकती है।

'देने योग्य को देना' का अर्थ यह है कि व्यवहार में किसी को उधार देना ही पड़ता है। ऐसा उधार देने का समय आने पर या किसी और प्रकार से देने का समय आने पर जो देने योग्य हो उसे अवश्य देना। किन्तु उसे देना जो उधार लेकर भाग न जाय और न लड़ने पर ही आमादा हो जाय।

'न देने योग्य को न देना' इसका आशय यह है कि जो लेकर देना ही न सीखा हो उसे मत देना। यह हमारी वस्तु वापिस लौटा देगा या नहीं, यह बात सोच-विचार कर ही किसी को देना और जो दी हुई वस्तु का दुरुपयोग करता हो उसे भी मत देना। जैसे—बालक ने चाकू मांगा और उसे दे दिया तो वह अपना हाथ काट लेगा। रोष में आकर किसी ने अफीम मांगी और उसे दे दी तो वह आत्महत्या कर लेगा। इसलिए देने से पहले सुपात्र-कुपात्र का ध्यान रखना। न देने से तो देने को थोड़ा ही दुःख होगा मगर दे देने से घोर अनर्थ हो सकता है और फजीता अलग होता है।

कुछ लोगों की ऐसी आदत होती है कि वस्तु मौजूद रहते भी वे झूठ बोलते हैं—कह देते हैं मेरे पास नहीं है। इस प्रकार झूठ बोल कर कुपात्र बनने की क्या आवश्यकता है? देने का मन न हो तो साफ-साफ क्यों नहीं कह देते कि हम देना नहीं चाहते! अपनी वस्तु के लिए जो कुपात्र है उसे कुपात्र न कहकर स्वयं झूठ बोलने के कारण कुपात्र बनना अच्छी बात नहीं है। हाँ योग्य को न देना और अयोग्य को देना मूर्खता है।

इससे आगे कहा है—योग्य और अयोग्य दोनों को देना। इसका अर्थ यह है कि कोई भूखा आदमी रोटी पाने की आशा से तुम्हारे द्वार पर आवे तो उस समय योग्य अयोग्य का विचार न करना। उसे रोटी दे देना ही धर्म है। करुणा के समय कुपात्र-सुपात्र का विचार मत करना। करुणा करके सभी को देना। नीति में कहा है—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते ।
स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥

जिसके घर से अतिथि अभ्यागत निराश होकर लौट जाता है, वह पाप का भागी होता है।

ग्रामों में कई-एक भद्र लोग ऐसे देखे गये हैं कि उनके घर से रोटी न ली जाय तो वे रोने लगते हैं। उन्हें यह विचार तो होता नहीं कि साधु सदोष आहार नहीं लेते—निर्दोष ही लेते हैं। वे केवल यही जानते हैं कि साधु हमारे घर आये और खाली हाथ लौट गये। यही विचार कर वे रोने लगते हैं। जो अतिथि कष्ट का मारा आपके द्वार पर आया है वह दया पाने की आशा से आया है। उसे निराश कर देना उचित नहीं है। अगर आप निराश करेंगी तो नीतिकार के कथनानुसार उसका पाप आपने ले लिया है और आपका पुण्य उसने ले लिया है।

पुण्य-पाप का लेन-देन कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है—वह आपको पुण्यवान् समझकर आपके पास आया था। आपने उसे गालियाँ सुनाईं, पीट दिया या कटुक वचन सुना दिये। उसने दीनता एवं नम्रता के साथ आप से याचना की और आपने उसे झिड़क दिया। तो वह अतिथि अपनी नम्रता से पुण्य लेकर जाता है और आपको पापी बना जाता है।

द्रौपदी की माता ने उसे इस प्रकार की शिक्षा दी। वहाँ जो दूसरी स्त्रियाँ मौजूद थीं वे समझती थीं कि महारानी हम सभी को शिक्षा दे रही हैं। द्रौपदी की माता तथा अन्य सभी कुटुम्बी जनों की आँखें आँसुओं से भरी हुई थीं।

जब कन्या पीहर से सुसराल जाती है तो पीहर को देख करके वह सोचती है—मैं इस घर के आँगन में खेली हूँ और

आज यहीं पर छूट रहा है। परन्तु मुझे और कहीं ले जा रहा है। जीवन में जिन्हें अपना माना था व पराये बनते जा रहे हैं और जिन्हें देखा नहीं, जाना नहीं उन्हें आत्मीय बनाना होगा! स्त्रीजीवन की यह कैसी विचित्रता है! मानो एक ही जीवन में स्त्री के दो एक दूसरे से भिन्न जीवन हो जाते हैं। क्षण भर में 'ममता' का क्षेत्र बदल जाता है!'

तत्त्व की दृष्टि से देखा जाय तो जो बात स्त्री के जीवन में घटित होती है, वह मनुष्य मात्र के जीवन में, यहाँ तक कि जीवमात्र के जीवन में घटित होती है। अन्तर है तो केवल यही कि स्त्रीजीवन की परिवर्त्तन-घटना आँखों के सामने होती है, जब कि दूसरों की आँखों से ओझल होती है। इतना अन्तर होने पर भी असली चीज दोनों जगह समान है। इससे कोई इंकार नहीं कर सकता। आज जिन्हें तुम अपना मान रहे हो वे क्या अनादि काल से तुम्हारे हैं? और अनन्त काल तक तुम्हारे रहेंगे?

भक्तजन कहते हैं—हम भी कन्या हैं। संसार हमारा ससुराल है और ईश्वर का घर पीहर है। कर्म की प्रेरणा से आत्मा को संसार में निवास करना पड़ता है। जैसे कन्या ससुराल में जाकर भी अपने पीहर को नहीं भूलती, उसी प्रकार संसार में रह कर भी भगवान् को भूलना उचित नहीं है।

कुन्ती माद्री और गांधारी को यह जान कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि पुत्रवधू द्रौपदी आ रही है। उन सबको विदित हो चुका है कि द्रौपदी कोई साधारण वधू नहीं है। स्वयंवर में उसकी चेष्टाएँ देख कर उन्होंने उसका महत्त्व जान लिया है।

इस कारण पुत्रवधू के आगमन को जान कर उनकी प्रसन्नता का पार न रहा। दूसरी ओर द्रौपदी की माता के दिल की वेदना को कौन जान सकता है? सर्वज्ञ उस वेदना को जान सकते हैं पर अनुभव वह नहीं करते। अनुभव तो वही स्त्री कर सकती है जो स्वय माता हो और जिसने अपनी प्राणप्यारी कन्या को विदाई दी हो! द्रौपदी की माता सोचने लगी—जिसके लिए भारत के बड़े-बड़े राजा दौड़ कर आये थे, वही आज जा रही है। यह घर सूना हो रहा है और साथ ही मेरा हृदय भी।

द्रौपदी तथा उसकी माता आदि के आने पर कुन्ती आदि खड़ी हो गईं। सब का यथायोग्य आदर-सत्कार किया, भेंट की। उचित आसन दिया। तब कुन्ती ने द्रौपदी की माता से कहा—महारानीजी, आपने अपनी कन्यारूपी लक्ष्मी से हमें खरीद लिया है। आपकी उदारता की कितनी सराहना की जाय जो कन्या और धन-सम्पत्ति लेकर आप स्वय देने के लिए पधारी हैं। आपने हमें बहुत सम्मानित किया है, बहुत उपकृत किया है।

द्रौपदी की माता ने कहा—समधिनजी, कन्या का दान करना कोई एहसान की बात नहीं है। यह तो समाज का अटल विधान है। ऐहसान तो आपका है, जो आपने इसे स्वीकार किया है। देना तो मेरे लिए अनिवार्य था मगर लेना आपके लिए अनिवार्य नहीं था। फिर भी आपने अनुग्रह करके मेरी कन्या को ग्रहण कर लिया। यह मेरे ऊपर आपका उपकार है।

कुन्ती—आप बहुत गुणवती हैं, इसी से आप ऐसा

करती है। नहीं तो द्रौपदी जैसी लक्ष्मी को पाने के लिए कौन लालायित नहीं होता ?

द्रौपदी की माता ने द्रौपदी की ओर मुंह फेर कर और एक गहरी सांस लेकर कहा—बिटिया ! देख, तू बड़भागिनी है कि तुझे ऐसी सास मिली है।

फिर वह कुन्ती से कहने लगी—आप हमारी बड़ाई न करें। आपने हमें जो दिया है वह कम नहीं है। आपने मेरी लड़की को सुहाग दिया है। स्वयंवर-मंडप में हमारी लाज रख ली है। आप अपने विनीत कुमारों के साथ हमारे यहाँ पधारीं। यह सब आपकी कृपा बहुत है। आपके साथ सम्बन्ध होने से अब देव भी हमें जीत नहीं सकते—जीत नहीं सकते। आपका वंश धन्य है, जिसमें ऐसे-ऐसे वीररत्न उत्पन्न हुए हैं।

इसके बाद द्रौपदी की माता आदि लौटने को तैयार हुईं। फिर नेत्रों के मेघ बरसने लगे। सब के हृदय गद्गद हो गए। अन्त में द्रौपदी सब को प्रणाम करके अपनी सास के पास खड़ी हो गई।

कुन्ती ने द्रौपदी को आशीर्वाद देते हुए कहा—हे पुत्री ! हे कुलवधू तेरा सुहाग अचल रहे। तेरी गोद भरी रहे। तू पाण्डवों के घर वैसी है जैसी हरि के यहाँ लक्ष्मी इन्द्र के यहाँ इन्द्राणी और चन्द्र के यहाँ रोहिणी। तुम्हारे पति सार्वभौम शक्ति के विजेता और तुम सदैव उनकी सहायिका रहो। हे वधू ! तू मेरे कुल की समस्त सम्पत्ति की स्वामिनी है, परन्तु मेरे घर जो मुनि या दीन-दुःखी या भिखारी आवें उनके साथ

योग्य सत्कार में कमी मत रखना। पुण्य की रक्षा करना और उसे सम्पदा की तरह बढाना।

मेरे घर किसी अतिथि का अनादर न हो। आज से हम तेरे भरोसे हैं। तू घर के सब छोटे-बड़ों का आशीर्वाद लेना। हे द्रौपदी ! ऐसा समय आवे कि तेरे पुत्र हों और बधू तेरे जैसी गुणी हो। जिस प्रकार आज मैं तुझे आशीर्वाद दे रही हूँ, उसी प्रकार तू भी उन्हें आशीर्वाद देना।

बहिनो! कन्या को किस प्रकार विदा देनी चाहिये और नवबधू का किस प्रकार स्वागत करके उसे क्या सिखाना चाहिए, यह बात इस प्रकरण से सीखो।

१०—आदर्श भाभी

सीता राम से कहने लगी—नाथ! आपको राज्य मिल रहा है। इस विषय में गहराई के साथ विचार करने की आवश्यकता है। कम से कम देवरों के सम्बन्ध में तो विचार ही करना चाहिए। अब तक आप चारों भाई साथ रहते और खाते-पीते थे। लेकिन अब जो हो रहा है, उससे बराबरी मिट जायगी। यह भ्रातृभाव में फर्क डालने वाली व्यवस्था है। इसलिए मैं कहती हूँ कि आपको मिलने वाला राज्य कहीं संयोग से वियोग में तो नहीं डाल देगा ?

सीता की बात सुनकर राम बोले—वाह सीता! मेरे दिल में जो बात आ रही थी वही तुमने भी कही है! मैं भी इसी समस्या पर विचार कर रहा हूँ।

भिन्न-सा करके कोशलराज
राज देते हैं तुमको आज।
तुम्हें लगता है यह अधिकार
राज्य है प्रिये भोग या भार।

सीता कहती है— मेरे श्वसुर आपको राज्य क्या दे रहे हैं मानो भाइयों को आपस में अलग अलग कर रहे हैं-जुदाई दे रहे हैं। क्या आपको ऐसा अधिकार है? आप उसे चाहते हैं? आप राज्य को प्रिय वस्तु समझते हैं या भार मानते हैं?

सीता की भांति आज की बहिनें भी क्या देवरों के विषय में ऐसा ही सोचती हैं? राज्य तो बड़ी चीज है क्या तुच्छ से तुच्छ वस्तुओं को लेकर ही देवरानी-जेठानी में महाभारत नहीं मच जाता? भाई-भाई के बीच कलह की बेल नहीं बो देतीं? क्या जमाना था वह, जब सीता इस देश में उत्पन्न हुई थी? सीता जैसी विचारशील सती के प्रताप से यह देश धन्य हो गया है। आज क्या स्थिति है? किसी कवि ने कहा है—

एक उदर का नीपज्या जामण जाया वीर।
औरत का पाले पड्या नहिं तरकरी में सीर॥

बहिनों! अगर धर्म को जानती हो तो बात का विचार रक्खो कि भाई-भाई में भेद न पड़ने पावे।

सीता ने राज्यप्राप्ति के समय भी इस बात का विचार किया था। वह राज्य को भार मान रही है। मगर आज क्या भाई और क्या भौजाई जरा-जरा सी बात के लिए कलह करते नहीं चूकते।

रामचन्द्र, सीता से कहने लगे—प्रिये ! तुम वास्तव में असाधारण स्त्री हो। बड़े भाग्य से मुझे मिली हो। स्त्रियों पर साधारणतया यह दोषारोपण किया जाता है कि वे पुरुष को गिरा देती हैं, पुरुष को ऊर्ध्वगामी नहीं बनने देतीं-उसके पंख काट डालती हैं, और यहां तक कि पुरुष को नरक में ले जाती हैं। मगर जानकी, तुम अपवाद हो। पुरुष की प्रगति में बाधा डालने वाली स्त्रियां और कोई होंगी, तुम तो मेरी प्रगति ही हो ! तुम मेरी सच्ची सहायिका हो। जो काम मुझसे अकेले न हो सकता, वह तुम्हारी सहायता से कर सकूँगा।

जानकी ! मैं स्वयं राज्य को भार मानता हूँ। वह वास्तव में भार ही है। मैं राज्य पाना दंड पाना समझता हूं। अगर वह सौभाग्य की बात समझी जाय तो सिर्फ इसीलिए कि राज्य के द्वारा प्रजा की सेवा करने का अवसर मिलता है। जो राजा न होकर भी प्रजा की सेवा कर सकता है, उसे राज्य की आवश्यकता ही क्या है ? संभव है, मेरे सिर पर यह भार अभी न आवे; कदाचित् आया भी तो मैं अपने भाइयों के साथ लेशमात्र भी भेदभाव नहीं करूँगा। हम जिस प्रकार रहे, उसी प्रकार रहेंगे। अवध का राज्य क्या, इन्द्र का पद भी मुझे अपने भाइयों से अलहदा नहीं कर सकता।

११—बारीक वस्त्र

जो स्त्रियाँ शील को ही नारी का सर्वोत्तम आभूषण समझती हैं, उनके मन में बढ़िया वस्त्र और हीरा मोती के आभूषणों की क्या कीमत हो सकती है ? उन्हें इन्द्राणी बना देने का प्रलोभन भी नहीं गिरा सकता। शील का सिंगार सजने वाली के लिए यह

तुच्छ—अति तुच्छ है। सच्ची शीलवती अपने शील का मूल्य देकर कदापि उन्हें लेना नहीं चाहेगी।

और बारीक कपड़े! निर्लज्जता का साक्षात् प्रदर्शन हैं कुलीन स्त्रियों को यह शोभा नहीं देते। खेद है कि आजकल बारीक वस्त्रों का चलन बढ़ गया है। यह प्रथा क्या आप अच्छी समझते नहीं?

मगर आज तो यह बड़प्पन का चिह्न बन गया है। जो जितना बड़ा घर का हो उसके उतने ही बारीक वस्त्र! बड़प्पन मानो निर्लज्जता में ही है? क्या बारीक वस्त्र लाज ढँक सकते हैं? इन बारीक वस्त्रों की बदौलत भारत की जो दुर्दशा हुई है, उसका बयान नहीं किया जा सकता।

मोटे कपड़े मजबूरी करना सिखाते हैं और महीन कपड़े मजबूरी करने से मना करते हैं। महीन कपड़ा पहनने वाली बाई अपना बच्चा लेने में भी संकोच करती है इस डर से कि कहीं धूल न लग जाय। इस प्रकार बारीक वस्त्रों ने सन्तान-प्रेम भी छुड़ा दिया है।

१२–पति को सीख

एक होशियार वकील भोजन करने बैठा था। इतने में उसका एक मुवक्किल आया और उसने पचास हजार रुपये के नोट वकील के सामने रख दिये। वकील ने अपनी चतुराई का गर्व प्रकट करते हुए अपनी पत्नी की ओर निगाह फेरी। मगर पत्नी मुँह के आगे हाथ लगा कर रुदन कर रही थी। वकील ने रोने का कारण पूछा। कहा— क्यों, अपने घर किस बात

की कमी है ? देखो, आज ही पचास हजार आये हैं। मैं कितना होशियार हूँ और मेरी कितनी ज्यादा कमाई है, यह सब जानते-बूझते भी तुम रो रही हो ?'

वकील की पत्नी ने कहा—मैं तुम्हें देखकर रो रही हूँ।

वकील—क्यों ? मैंने कोई बुरा काम किया है ?

वकील पत्नी—आपने सच्चे को झूठा और झूठे को सच्चा बनाया है। यह क्या कम खराब काम है ? आप पचास हजार लेकर फूले नहीं समाते, मगर जिसके एक लाख डूब गये और एक लाख घर से देने पड़े, उसके दुःख का क्या पार होगा ? मुझे नहीं मालूम था कि आप इस प्रकार पाप का पैसा पाकर आनन्द मान रहे हैं।

वकील—हमारा धन्धा ही ऐसा है। ऐसा न करें तो काम कैसे चले ?

पत्नी—आप सत्य को असत्य बनाते हैं, इसके बदले सत्य को सत्य बनाने की ही वकालात क्यों नहीं करते ? सच्चा मुकद्दमा ही लें तो क्या आपका काम नहीं चलेगा ? मैं चाहती हूँ कि आप प्रतिज्ञा ले लें भविष्य में कोई भी झूठा मुकद्दमा आप हाथ में नहीं लेंगे।

पत्नी की बात वकील के गले उतर गई। वकील ने प्रतिज्ञा की। उसने अपने मुवक्किल से कहा आप यह रुपया ले जाइए और किसी प्रकार अपने प्रतिवादी को सन्तुष्ट कीजिए। दरअसल आज उसे कितना दुख हो रहा होगा ? आज मैं अपने वाक्चातुर्य से न्यायाधीश के सामने झूठे को सच्चा और सच्चे

को झूठा सिद्ध करने में सफल भी हो जाऊँ किन्तु जब परलोक में मुझे पुण्य-पाप का हिसाब देना पड़ेगा तब क्या उत्तर दूंगा ? कहा भी है —

होयगो हिसाब तब मुख से न आवै ज्वाब।
सुन्दर' कहत लेखा लेगो राई-राई को॥

वकील की बात सुनकर मुवक्किल भी चकित रह गया और कहने लगा—वास्तव में वकील-पत्नी एक सत्यमूर्ति है जिसने पचास हजार को भी ठोकर लगा दी।

महिलों अन्याय के पथ पर चलने वाले पति को इस प्रकार सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करो।

१३—गर्भवती का कर्त्तव्य

आज कल के अधिकांश नर-नारियों को गर्भ संबंधी ज्ञान नहीं होता परन्तु भगवतीसूत्र में इस विषय की चर्चा की गई है। वहाँ यह बतलाया गया है कि—हे गौतम ! माता के आहार पर ही गर्भ के बालक का आहार निर्भर है। माता के उदर में रसहरणी नालिका होती है। उसके द्वारा माता के आहार से बना रस बालक को पहुँचता है और उसी से बालक के शरीर का निर्माण होता है।

बहुत सी गर्भवती स्त्रियाँ मान्य के भरोसे रहती हैं और गर्भ के विषय की जानकारी नहीं करती। इस अज्ञान के कारण कभी-कभी गर्भस्थ बालक और गर्भवती की दोनों को हानि

उठानी पड़ती है। बालक को आँखों देखते काटना या मारना तो कोई सहन नहीं करता पर अज्ञान के कारण बालक की मौत हो जाती है और माता के प्राण संकट में पड़ जाते हैं यह सहन कर लिया जाता है।

गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है—गर्भ का बालक मल मूत्र का त्याग भी करता है? भगवान् ने उत्तर दिया है—गर्भ का बालक माता के भोजन में से रसभाग को ही ग्रहण करता है। उस सार रूप रसभाग को भी वह इतनी मात्रा में ग्रहण करता है कि उसके शरीर के निर्माण में ही सारा लग जाता है। गर्भस्थ बालक आहार के खलभाग को लेता ही नहीं है। अतएव उसे मलमूत्र नहीं आता।

भगवान् के कथन का सार यह है कि गर्भ के बालक का आहार माता के आहार पर ही निर्भर है। माता यदि अत्यधिक खट्टा, मीठा या चरपरा खाएगी तो उससे बालक को हानि पहुँचे बिना नहीं रहेगी। जैसे कैदी का भोजन जेलर के जिम्मे होता है, जेलर के देने पर ही कैदी भोजन पा सकता है, अन्यथा नहीं. इसी प्रकार पेट रूपी कारागार में रहे हुए बालक रूपी कैदी के भोजन की जिम्मेवारी माता पर है। गर्भस्थ बालक की दया न करने वाले माँ बाप घोर निर्दय हैं, बालक के घातक हैं। कोई-कोई कहते हैं कि श्रेणिक की रानी धारिणी ने अपने गर्भ की रक्षा की सो वह मोह अनुकम्पा का पाप हुआ लेकिन धारिणी के विषय में शास्त्र का पाठ है कि धारिणी रानी गर्भ की अनुकम्पा के लिए भय, चिन्ता और मोह नहीं करती है। क्योंकि क्रोध करने से बालक क्रोधी होता है, भय करने से बालक डरपोक बन जाता है और मोह करने से लोभी होता है। इसी लिए धारिणी

को झूठा सिद्ध करने में सफल भी हो जाऊँ 'किन्तु जब परलोक में मुझे पुण्य-पाप का हिसाब देना पड़ेगा तब क्या उत्तर दूँगा ? कहा भी है —

> होवेगो हिसाब तब मुख से न आवे ज्वाब।
> सुन्दर' कहत लेखा लगो राई-राई को ॥

वकील की बात सुनकर मुवक्किल भी चकित रह गया और कहने लगा—वास्तव में वकील-पत्नी एक सत्यमूर्ति है जिसने पचास हजार को भी ठोकर लगा दी।

बहिनों अन्याय के पथ पर चलने वाले पति को इस प्रकार सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करो।

१३—गर्भवती का कर्त्तव्य

आज कल के अधिकांश नर-नारियों को गर्भ संबंधी ज्ञान नहीं होता परन्तु भगवतीसूत्र में इस विषय की चर्चा की गई है। वहाँ यह बतलाया गया है कि—हे गौतम! माता के आहार पर ही गर्भ के बालक का आहार निर्भर है। माता के उदर में रसहरणी नालिका होती है। उसके द्वारा माता के आहार से बना रस बालक को पहुँचता है और उसी से बालक के शरीर का निर्माण होता है।

बहुत सी गर्भवती स्त्रियाँ भाग्य के भरोसे रहती हैं और गर्भ के विषय की जानकारी नहीं करती। इस अज्ञान के कारण कभी-कभी गर्भस्थ बालक और गर्भवती की दोनों की हानि

उठानी पड़ती है। बालक को आँखों देखते काटना या मारना तो कोई सहन नहीं करता पर अज्ञान के कारण बालक की मौत हो जाती है और माता के प्राण संकट में पड़ जाते हैं यह सहन कर लिया जाता है।

गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है—गर्भ का बालक मलमूत्र का त्याग भी करता है? भगवान् ने उत्तर दिया है—गर्भ का बालक माता के भोजन में से रसभाग को ही ग्रहण करता है। उस सार रूप रसभाग को भी वह इतनी मात्रा में ग्रहण करता है कि उसके शरीर के निर्माण में ही सारा लग जाता है। गर्भस्थ बालक आहार के खलभाग को लेता ही नहीं है। अतएव उसे मलमूत्र नहीं आता।

भगवान् के कथन का सार यह है कि गर्भ के बालक का आहार माता के आहार पर ही निर्भर है। माता यदि अत्यधिक खट्टा मीठा या चरपरा खाएगी तो उससे बालक को हानि पहुँचे बिना नहीं रहेगी। जैसे कैदी का भोजन जेलर के जिम्मे होता है, जेलर के देने पर ही कैदी भोजन पा सकता है, अन्यथा नहीं इसी प्रकार पेट रूपी कारागार में रहे हुए बालक रूपी कैदी के भोजन की जिम्मेवारी माता पर है। गर्भस्थ बालक की दया न करने वाले माँ बाप घोर निर्दय हैं, बालक के घातक हैं। कोई-कोई कहते हैं कि श्रेणिक की रानी धारिणी ने अपने गर्भ की रक्षा की सो वह मोह अनुकम्पा का पाप हुआ लेकिन धारिणी के विषय में शास्त्र का पाठ है कि धारिणी रानी गर्भ की अनुकम्पा के लिए भय, चिन्ता और मोह नहीं करती है। क्योंकि क्रोध करने से बालक क्रोधी होता है, भय करने से बालक डरपोक बन जाता है और मोह करने से लोभी होता है। इसी लिए धारिणी

ने सब दुर्गुणों का त्याग कर दिया था। आश्चर्य तो यह है कि अनुकम्पा के विरोधी इन दुर्गुणों के त्याग को भी दुर्गुण कहते हैं! मोह के त्याग को भी मोह—अनुकम्पा कहने वाले समझदार (!) लोगों को कौन समझा सकता है।

जो स्त्रियाँ गर्भवती होकर भी भोग का त्याग नहीं करती हैं वे अपने पैरों पर आप ही कुल्हाड़ी मारती हैं। इस नीचता से बढ़कर और कोई नीचता नहीं हो सकती। नैतिक दृष्टि से ऐसा करना घोर पाप है और वैद्यक की दृष्टि से अत्यन्त अहितकर है। पतिव्रता का अर्थ यह नहीं है कि वह पति की ऐसी आज्ञा का पालन करके गर्भस्थ बालक की रक्षा न करे। माता को ऐसे अवसर पर सिंहनी बनना चाहिए, शक्ति बनना चाहिए और ब्रह्मचर्य का पालन करके बालक की रक्षा करनी चाहिए।

गर्भवती स्त्री को भूखा रहने का धर्म नहीं बतलाया गया है। किसी शास्त्र में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि किसी गर्भवती स्त्री ने अनशन तप किया था। जब तक बालक का आहार माता के आहार पर निर्भर है तब तक माता को यह अधिकार नहीं कि वह उपवास करे। दया मूल गुण है और उपवास उत्तर गुण है। मूल गुण का घात करके उत्तर गुण की क्रिया करना ठीक नहीं।

१४—पुत्री-पुत्र

आज तो पुत्र का जन्म होने पर हर्ष और पुत्री का जन्म होने पर विषाद अनुभव किया जाता है, पर यह लोगों की

नासमझी है। पुत्री के बिना जगत् स्थिर ही कैसे रह सकता है? अगर किसी के भी घर पुत्री का जन्म न हो तो पुत्र क्या आकाश से टपकने लगेंगे? सामाजिक व्यवस्था की विषमता के कारण पुत्र-पुत्री में इतना कृत्रिम अन्तर पड़ गया है। पर यह समाज का दूषित पक्षपात है। जिस पेट से पुत्र का जन्म होता है, उसी पेट से पुत्री का। फिर पुत्री को हीन क्यों समझा जाता है? सांसारिक स्वार्थ के वश में होकर औरों की तो बात क्या, पुत्री को जन्म देने वाली माता भी पुत्री के जन्म से उदास हो जाती है। ऐसी बहिनों से पूछना चाहिए कि क्या तुम स्त्री नहीं हो? स्त्री होकर भी स्त्री जाति के प्रति अभाव रखना कितनी जघन्य मनोवृत्ति है? कई स्त्रियों के विषय में सुना गया है कि वे पुत्र होने पर खाने-पीने की जैसी चिन्ता रखती हैं, वैसी पुत्री के होने पर नहीं रखतीं। जहाँ ऐसे तुच्छ विचार हो, सन्तान के अच्छे होने की क्या आशा की जा सकती है और संसार का कल्याण किस प्रकार हो सकता है?

सुवचन

स्त्रियों को या तो अविवाहित रह कर परमात्मा की भावना में रहना चाहिए या फिर ऐसे कुलदीपक को जन्म देना चाहिए जो कुल को यशस्वी और प्रशंसा का पात्र बना दे। केवल भोग करना स्त्री का कर्त्तव्य नहीं है।

स्त्री की शक्ति साधारण नहीं होती। लोग 'सीता-राम' कहते हैं, राम-सीता नहीं कहते। पहले सीता का नाम फिर राम का नाम लिया जाता है। इसी प्रकार 'राधा-कृष्ण' कहने में पहले राधा और फिर कृष्ण का नाम लिया जाता है। सीता और राधा स्त्रियां ही थीं। तारा जैसी रानी की बदौलत ही आज भी हरिश्चन्द्र का नाम घर-घर में प्रसिद्ध है। इन शक्तियों की सहायता से ही इन लोगों ने अलौकिक कार्य कर दिखलाए हैं। जैसे शरीर का आधा भाग बेकार हो जाने पर सारा ही शरीर बेकार हो जाता है, वैसे ही नारी की शक्ति के अभाव में नर की शक्ति काम नहीं करती।

● ● ● ●

'वही पत्नी श्रेष्ठ गिनी जाती है जो पति में अनुरक्त रहे और अपने कुटुम्बी जनों को अपने आदर्श व्यवहार से आकर्षित कर ले।

● ● — ● ●

आर्य-बालाओं में लज्जा का गुण होना स्वाभाविक है। पर लज्जा का अर्थ घूँघट ही नहीं है। लज्जा घूँघट में नहीं, नेत्रों में निवास करती है। घूँघट काढ़ने वालियों में ही अगर लज्जा होती तो वे ऐसे बारीक वस्त्र ही क्यों पहनतीं जिसमें से सारा शरीर दिखाई देता हो। महीन-वस्त्र पहनकर घूँघट निकालना तो एक प्रकार का ढोंग है कि कपड़े भी पहने रहें और शरीर कुछ छिपा भी न रहे। इन महीन कपड़ों में लज्जा कहां?

● ● ● ●

धर्मी पुरुष के साथ विवाह करने की इच्छा तो स्त्री मात्र की रहती है लेकिन स्वय धर्मशीला बनने की भावना विरली स्त्री में ही होती है, और फिर धर्म का आचरण करने वाली तो हजारों-लाखों में भी शायद कोई मिल सकती है। पति कदाचित् पापी भी हो लेकिन पत्नी अगर अपने धर्म का पालन करती है तो उसका पाला हुआ धर्म ही उसके काम आता है। पति के पाप से पत्नी को नरक नहीं मिलता। अतएव हमें दूसरे की ओर न देखकर अपने धर्म का ही पालन करना चाहिए।

बहिनो ! तुम्हें जितनी चिन्ता अपने गहनों की है उतनी इन गहनों का आनन्द उठाने वाली आत्मा की है ? तुम्हें गहनों का जितना ध्यान रहता है, कम से कम उतना ध्यान अपनी आत्मा का रहता है ? आभूषणों को ठेस न लगने के लिए जितनी सावधानी रखती हो उतनी आत्मधर्म को ठेस न लगने देने के लिए भी सावधानी रखती हो !

कहा हैं ऐसी देविया जो अपने बालक को मनुष्य के रूप में देव-दिव्य विचार वाला दिव्य शक्तिशाली—बना सकें ? महिलावर्ग की स्थिति अत्यन्त विचारणीय है। जब तक महिलाओं का सुधार नहीं होगा, तब तक किसी भी प्रकार का सुधार ठीक तरह नहीं हो सकता। आखिर को मनुष्य के जीवन का निर्माण बहुत कुछ माता के हाथ में ही है। माता ही बालक की आद्य और प्रधान शिक्षिका है। माता बालक के शरीर की ही जननी नहीं, वरन् बालक के सस्कारों की और व्यक्तित्व की भी

जननी है, अतएव बालकों के सुधार के लिए पहले माताओं के सुधार की आवश्यकता है।

● ● ● ●

पुरुष स्त्रियों को अबला कहते हैं। स्त्रियाँ भी अपने को अबला मानने लगी हैं। लेकिन स्त्रियों को अबला कहने वाला पुरुष कितना सबल है? दूसरों को अबला बनाने वाला स्वयं सबल नहीं रह सकता। जो वास्तव में सबल होगा वह दूसरे को निर्बल बनावेगा।

● ● ● ●

महिलावर्ग के प्रति पुरुषवर्ग ने जो व्यवहार किया उसका फल पुरुषवर्ग को भी भोगना पड़ा। महिलाओं को जो साक्षात् शक्ति स्वरूपिणी हैं अबला बनाने के अभिशाप में पुरुषवर्ग स्वयं अबल बन गये। सियारनी से कभी सिंह उत्पन्न होते देखे गये हैं? नहीं। तो फिर अबला से सबल सपूत किस प्रकार उत्पन्न हो सकते हैं?

● ● ● ●

वही पत्नी योग्य कहलाती है जो स्वयं चाहे वीर न हो, युद्ध में लड़ने न जावे पर वीर संतान उत्पन्न कर जो पति को देखकर सभी दुख भूल जावे और पति जिसे देख कर सब भूल जावे। दोनों एक दूसरे को देखकर प्रसन्न हों। पति जो कार्य करे उसके लिए वह समझे कि मेरा आधा अंग कर रहा है।

नारी-जीवन के उच्चतर आदर्श

१—गांधारी का गंभीर त्याग

शास्त्रों में पत्नी को 'धर्मसहायिका' कहा है। अगर काम-सहायिका ही होती तो उसे धर्मसहायिका कहने की क्या आवश्यकता थी ? जैसे दवा रोग मिटाने को खाई जाती है उसी प्रकार विवाह-धर्म की सहायता करने और कामवासना को सयत करने के लिए किया जाता है। इससे विपरीत, जो पत्नी को काम-क्रीड़ा की सामग्री समझता है, उसकी गति विचित्रवीर्य के समान होती है। अतिभोग के कारण विचित्रवीर्य की मृत्यु हो गई और राज्य का भार फिर भीष्म के कन्धों पर आ पड़ा।

विचित्रवीर्य के लडके पाण्डु का विवाह-कुन्ती के साथ हुआ। धृतराष्ट्र अन्धे थे। वह जब युवावस्था में आये तो भीष्म ने जान लिया कि यह ब्रह्मचर्य पालने में समर्थ नहीं है। यह सोचकर उन्होंने धृतराष्ट्र का विवाह कर देने का विचार किया। उन्हें मालूम था कि गांधार देश के महाराजा सबल की कन्या गांधारी सभी तरह से योग्य है। भीष्म ने सबल के

पास दूत भेजकर कहलाया—भीष्म ने धृतराष्ट्र के लिए आपकी कन्या गांधारी की मँगनी की है।

महाराज पशोपेश में पड़ गए। सोचने लगे—क्या करना चाहिए? क्या अन्धे को अपनी कन्या दे दूं? यह नहीं हो सकता। भीष्म कितने ही महान् पुरुष हों, मैं अपनी कन्या नहीं दे सकता। साधारण आदमी भी अन्धे वर को अपनी कन्या नहीं देता तो मैं राजा होकर कैसे दे सकता हूँ?

सबल ने अपने लड़के शकुनि से पूछा—थोड़े दिनों बाद राज्य का सारा भार तुम्हारे सिर आने वाला है। इसलिए तुम बतलाओ कि इस विषय में क्या करना उचित है?

शकुनि ने कहा—अपने बलाबल का विचार करते हुए गांधारी का विवाह धृतराष्ट्र के साथ कर देना ही उचित है। अपने देश पर विदेशियों और विधर्मियों के आक्रमण होते रहते हैं। यह सम्बन्ध होने से कुरुवंश अपना सहायक बनेगा और कुरुवंश की धाक से बिना युद्ध ही देश की रक्षा हो जायगी। यह तो कन्या ही देनी पड़ रही है, अवसर आने पर तो देश की रक्षा के लिए पुत्र का भी रक्त देना पड़ता है।

सबल—संग्राम में पुत्र का रक्त देना दूसरी बात है और कन्या के अधिकार को लूट कर देश की रक्षा चाहना दूसरी बात है। राज्य-रक्षा के लोभ में पड़कर कन्या का अधिकार छीन लेना क्या क्षत्रियों के लिए उचित कहा जा सकता है? गांधारी स्वेच्छा से शत्रु के साथ युद्ध करके अपना रक्त बहा दे तो हर्ज नहीं है परन्तु कन्या के अधिकार का बलात् अपहरण

करके उस पर अन्याय करना उचित नहीं है। गांधारी की इच्छा के बिना उसका विवाह नहीं करूँगा। ऐसा करने पर चाहे राज्य चला ही क्यों न जाय! हाँ, गांधारी स्वेच्छा से अगर अन्धे पति की सेवा करना चाहे तो बात दूसरी है। मैं उसे रोकूँगा भी नहीं। लेकिन उसकी इच्छा के विरुद्ध अन्धे के साथ उसका विवाह नहीं कर सकता।

सभा में उपस्थित सभी लोगों ने राजा के विचार का समर्थन किया और कहा—आप राजा होकर भी अगर कन्या के अधिकार को लूट लेंगे तो दूसरे लोग आपके चरित का न जाने कस प्रकार दुरुपयोग करेंगे।

गांधारी राजकुमारी थी, युवती थी सुन्दरी थी और गुणवती थी। पाण्डवचरित के अनुसार वह ऐसी सती थी कि किसी के शरीर को देखकर ही वज्रमय बना सकती थी। ऐसी गांधारी की मँगनी अन्धे पुरुष के लिए आई है। इस समय गांधारी का क्या कर्त्तव्य है? अगर पिता सगाई कर देते तो गांधारी के सामने विचारने के लिए कोई समस्या ही न रहती, मगर पिता ने इस सम्बन्ध को स्वीकार करने या न करने का उत्तरदायित्व स्वयं उसी पर छोड़ दिया है। अब गांधारी को ही अपने भविष्य का निर्णय करना है।

राजसभा में पूर्वोक्त निर्णय हो गया तो राजसभा में रहने वाली दासी गांधारी के पास दौड़ी आई। उस समय गांधारी अपनी सखियों के साथ महल में एक कमरे में बैठी हास्य-विनोद कर रही थी।

दासी दौड़ती वहाँ आ पहुँची। उसे प्रसन्न और घबराई देखकर गांधारी ने कारण पूछा—क्यों आज क्या समाचार है? घबराई क्यों है?

दासी—गजब हुआ राजकुमारी!

गांधारी—क्या गजब हुआ है? पिता और भाई तो सकुशल हैं?

दासी—और सबके लिए तो कुशलमंगल है, आप ही के लिए अनर्थ हुआ है!

गांधारी ने मुस्करा कर कहा—मैं तो देखो आनन्द में बैठी हूँ। मेरे लिए अनर्थ हुआ और मैं मजे में हूँ और तू घबरा रही है!

दासी—एक ऐसी बात सुनकर आई हूँ कि आपके चित्त को दुःख हुए बिना नहीं रह सकता। आप सुनेंगी तो आपको भी दुःख होगा।

गांधारी—मुझे विश्वास नहीं होता कि मैं अपने जीवन में कोई बात सुनकर तेरी तरह घबरा सकूँगी। मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि घबराहट किसी भी मुसीबत की दवा नहीं है। वह स्वयं एक मुसीबत है और मुसीबत बढ़ाने वाली है। और बतला तो सही बात क्या है?

दासी—कुरुवंशी राजा शान्तनु के पौत्र और विचित्रवीर्य के अन्धे पुत्र धृतराष्ट्र के लिए तुम्हारी याचना करने के लिए

भीष्म ने दूत भेजा है। इस विषय में राजसभा में गरमागरम बातचीत हुई है।

गान्धारी—यह तो साधारण बात है। जिसके यहाँ जो चीज होती है, मांगने वाले आते ही हैं। अच्छा, आगे क्या हुआ सो बतला।

दासी—महाराज ने कहा कि मैं अंधे के साथ गांधारी का विवाह नहीं करूंगा। राजकुमार ने कहा कि अपना बल बढ़ाने के लिए धृतराष्ट्र के साथ गांधारी का विवाह कर देना चाहिये।

गांधारी—फिर ? विवाह निश्चित हो गया ?

दासी—नहीं, अभी कोई निश्चय नहीं हुआ है। इसी से मैं आपको सूचना देने आई हूँ। राजकुमारी, चेत जाओ। आपकी रक्षा आपके हाथ में है। महाराज ने आपकी इच्छा पर ही निर्णय छोड़ दिया है। पुरोहित आपकी सम्मति जानने आएँगे। अगर आप जन्म भर के दुःखों से बचना चाहें तो किसी के कहने में मत लगना। दिल की बात साफ साफ कह देना। संकोच में पड़ी तो मुसीबत में पड़ी।

इसी बीच मदनरेखा नामक सखी ने कहा—बड़ी सयानी बन रही तू; जो राजकुमारी को यह उपदेश दे रही है! क्या यह इतना भी नहीं समझतीं कि अंधा पति जिंदगी भर की मुसीबत है। जब राजकुमारी को स्वयं निर्णय करना है तो फिर घबराहट की बात ही क्या रही ? जो बात अबोध कन्या भी समझती है वह क्या राजकुमारी नहीं समझेंगी ?

चित्रलेखा नामक सखी गौर से राजकुमारी के चेहरे की ओर देख रही थी। चेहरे पर कुछ भी मनोभाव न पाकर वह बोली—सखी, आप किस विचार में हैं? यह तो नहीं सोच रही हो कि पति अंधा हो तो भले रहे, कुरुवंश की राजरानी बनने का गौरव तो मिलेगा! इस लोभ में मत पड़ जाना। राजरानी बनना तो आपका जन्मसिद्ध अधिकार है ही। जहाँ जाओगी राजरानी ही बनोगी। लेकिन धृतराष्ट्र जन्मांध है, तुम लोभान्ध हो जाओगी तो जोड़ी अच्छी बनेगी! पर बहिन, जान-बूझ कर कोई अन्धा नहीं बन सकता। पहली बार ही ऐसा दो टूक जवाब देना कि पुरोहितजी पुरोहिताई करना भूल जाएँ और उलटे पैरों भाग खड़े हों।

अपनी सखियों की सम्मति सुनकर और यह समझकर कि इनकी बुद्धि एवं विचारशक्ति इतनी ही रहती है, गांधारी थोड़ा मुस्कराई। उसने कहा—सखियो, तुम मेरी भलाई सोचकर ही सम्मति दे रही हो इसमें कोई संदेह नहीं। पर क्या तुम्हें मालूम है कि मेरा जन्म किस उद्देश्य के लिए हुआ है?

एक सखी ने उत्तर दिया—बचपन से साथ रहती हैं तो जानती क्यों नहीं? आपका जन्म इसलिए हुआ है कि आप किसी सुन्दर और शूरवीर राजा की अर्धांगिनी बनें, राजकुमार पुत्र को जन्म दें, राजकीय सुख भोगें और राजमाता का गौरव पावें।

गांधारी—सखी, यह सब तो जीवन में साधारणतया होता ही है, पर जीवन का उद्देश्य यह नहीं। तुम इतना ही

समझती हो, इससे आगे की नहीं सोचती। मैं सोचती हूँ कि मेरा जन्म जगत् का कोई कल्याणकारी कार्य करने के लिए हुआ है। यह जीवन बिजली की चमक के समान क्षणभगुर है—कौन जानता है कब है और कब नहीं? अतएव इसके सहारे कोई विशिष्ट कार्य कर लेना चाहिए, जिससे दूसरों का कल्याण हो।

सखी—तो क्या आप अभी से वैरागिनी बनेंगी? सयम ग्रहण करेंगी?

गांधारी—सयम और वैराग्य का उपहास मत करो। जिसमें सयम धारण करने का सामर्थ्य हो और जो सयम ग्रहण कर ले वह तो सदा वन्दनीय है। अभी मुझ में इतनी शक्ति नहीं है। मेरी अन्तरात्मा अभी सयम लेने की साक्षी नहीं देती। अभी मुझमें पूर्ण ब्रह्मचर्य पालने की क्षमता नहीं जान पड़ती।

चित्रलेखा—जब ब्रह्मचर्य नहीं पालना है और विवाह करना ही है तो क्या सूझता पति नहीं मिलेगा? अंधे पति को वरण करने की क्या आवश्यकता है?

गांधारी—मेरा विवाह भोग के लिए ही नहीं, धर्म के लिए होगा। मैं पतिसेवा के मार्ग से परमात्मा के समीप पहुँचना चाहती हूँ।

मदन०—पतिव्रतधर्म का पालन करना तो उचित ही है। आप दुराचार नहीं करेंगी, यह भी हमें मालूम है। पर

अंधे को पति बनाने से क्या लाभ है? आपका यह सौन्दर्य और शृंगार निरर्थक नहीं हो जायगा?

गांधारी—सखी, तुम वास्तविक बात तक नहीं पहुँचतीं। शृङ्गार पतिरंजन के लिए होता है लेकिन मेरी मांग अंधे पति के लिए आई है। अतएव मेरा शृंगार पति के लिए नहीं परमेश्वर के लिए होगा। शृंगार का अर्थ शरीर को सजाना ही नहीं है। बाह्य शृंगार पति-रंजन के लिए किया जाता है लेकिन मुझे ऐसा शृंगार करने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। असली की कमी होने पर ही नकली चीज़ का आश्रय लिया जाता है। सेवा में कमी होने पर सिंगार का सहारा लिया जाता है। लेकिन मेरा सिंगार पतिसेवा ही होगा। ऐसा करके ही मैं आत्म-संतोष पाऊँगी और पत्नी का कर्त्तव्य स्त्रियों को समझाऊँगी। अतएव पति अंधा है या सूझता इस बात की मुझे कोई चिन्ता नहीं। पुरोहितजी के आने पर मैं विवाह की स्वीकृति दे दूंगी। जगत् को स्त्री का वास्तविक कर्त्तव्य बतलाने का शुभावसर मुझे प्राप्त होगा।

गांधारी का विचार जानकर उसकी सखियाँ चक्कर में पड़ गई। वह आपस में कहने लगीं—राजकुमारी को क्या सूझा है! यह अंधे के साथ विवाह करने को तैयार हो रही है यह बड़ा अनर्थ होगा।

इसी समय राजपुरोहित आ पहुँचे। गांधारी ने पुरोहित का यथायोग्य सत्कार किया।

गाधारी की शिष्टता और विनम्रता देख पुरोहित गहरे विचार में पड़ गया। सोचने लगा—यह सुकुमार फूल क्या अधे देवता पर चढने के योग्य है? कैसे इसके सामने प्रस्ताव किया जाय! फिर भी हृदय कठिन करके पुरोहित ने कहा—राजकुमारी! आज एक विशेष कार्य से आया हूँ। तुम्हारी सम्मति लेना आवश्यक है।

गाधारी—कहिए न, सकोच क्यों कर रहे हैं?

पुरोहितजी—अधे धृतराष्ट्र के लिए आपकी सगाई आई है। इस सम्बन्ध में अतिम निर्णय का भार आप पर छोड़ दिया गया है। महाराज ने आपकी सम्मति लेने मुझे भेजा है।

पुरोहितजी की बात सुनकर गाधारी हलकी मुस्किराने लगी पर बोली नहीं। चित्रलेखा ने कहा—पुरोहितजी! राजसभा की सब बातें राजकुमारी सुन चुकी हैं। उन्होंने अन्धे धृतराष्ट्र को पति बनाना स्वीकार कर लिया है। आप वृद्ध हैं, इसलिए कहना नहीं चाहतीं।

पुरोहित को आश्चर्य हुआ। उसने कहा—आर्य जाति में विवाह जीवन भर का सौदा माना जाता है। जीवन भर का सुख-दुख विवाह के पतले सूत्र पर ही अवलंबित है, विवाह शारीरिक ही नहीं वरन् मानसिक सम्बन्ध भी है और मानसिक सम्बन्ध की यथार्थता तथा घनिष्ठता में ही विवाह की पवित्रता और उज्ज्वलता है। इस तथ्य पर ध्यान रखते हुए इस विषय में राजकुमारी को मैं पुन विचार करने के लिए कहता हूँ। तुम सब भी उन्हें सम्मति दे सकती हो।'

गांधारी भली-भाँति जानती थी कि अन्धे के साथ मुझे जीवन भर का सम्बन्ध जोड़ना है। उसे अन्धे के साथ विवाह करने से इन्कार कर देने की स्वाधीनता थी। सखियों ने उसे समझाने का प्रयत्न भी किया। गांधारी युवती है और सांसारिक आमोद-प्रमोद की भावनाएँ इस उम्र में सहज ही लहराती हैं। लेकिन गांधारी मानो जन्म की योगिनी है। भोगोपभोग की आकांक्षा उसके मन में उदित ही नहीं। उसने सोचा—दुष्टों द्वारा पिता सदा सताये जाते हैं और इस कारण पिताजी की शक्ति क्षीण हो गयी है। यदि मैं उनके लिए औषध रूप बन सकूँ तो क्या हर्ज है? मुझे इससे अधिक और क्या चाहिए? यद्यपि इस सम्बन्ध के कारण पिताजी को लाभ है फिर भी उन्होंने इसके निर्णय का भार मेरे ऊपर रक्खा है, यह पिताजी की कृपा है।

गांधारी को उदारता की यह शिक्षा कहाँ मिली थी? किसने उसे आत्मोत्सर्ग का यह सुनहरा पाठ सिखाया था! अपने पिता और भ्राता की भलाई के लिए यौवन की उन्माद भरी तरंगों के बीच चट्टान की भाँति स्थिर रहने की, अपने स्वर्णिम सपनों के हरे भरे उद्यान को अपने हाथों उजाड़ डालने की अपनी कोमल कल्पनाओं का बाजार लुटा देने की और सर्वसाधारण के माने हुए सांसारिक सुखों को शून्य में परिणत कर देने की सुशिक्षा कौन जाने गांधारी ने कहाँ पाई थी! आज का महिला समाज इस त्याग के महत्त्व को समझ नहीं सकता। जहाँ व्यक्तिगत और वर्गगत स्वार्थों के लिए संघर्ष छिड़े रहते हैं उस दुनिया को क्या पता है कि गांधारी के त्याग का मूल्य क्या है? आजकल की लड़कियाँ भले ही

बड़े-बड़े पोथे पढ सकती हों पर पोथे पढ लेना ही क्या सुशिक्षा है ? जो शिक्षा सुसंस्कार नहीं उत्पन्न करती उसे सुशिक्षा नहीं कह सकते। आज की शिक्षाप्रणाली में मस्तिष्क के विकास की ओर ध्यान दिया जाता है, हृदय को विकसित करने की ओर कोई लक्ष्य नहीं दिया जाता। यह एक ऐसी त्रुटि है जिसके कारण जगत् स्वार्थलोलुपता का अखाड़ा बन गया है।

गाँधारी ने अपनी सखियों से कहा था—मैं भोग के लिए नहीं जन्मी हूँ। मेरे जीवन का उद्देश्य सेवा करना है। अंधा पति पाने से मेरे सेवाधर्म की अधिक वृद्धि होगी। अतएव इस संबंध को स्वीकार कर लेने से सभी तरह लाभ ही लाभ है। पिताजी को लाभ है, भाई का संकट कम होता है, मुझे सेवा का अवसर मिलता है और आखिर वह (धृतराष्ट्र) भी राजपुत्र हैं। उनका भी तो ख्याल किया जाना चाहिए। कौन जाने मुझे सेवा का अवसर मिलना हो और इसलिए वे अंधे हुए हों।

मनुष्य बीमार होता है अपनी करनी से, लेकिन सेवा-भावी डाक्टर तो यही कहेगा कि मुझे अपनी विद्या प्रकट करने का अवसर मिला है। इसी तरह गांधारी कहती है—क्या ठीक है जो मुझे सेवा का अवसर देने के लिए ही राजकुमार अंधे हुए हों।

पुरोहित ने कहा—राजकुमारी, अभी समय है। इस समय के निर्णय का प्रभाव जीवनव्यापी होगा। आप सोलह सिंगार सीखी हैं, परन्तु अंधे पति के साथ विवाह हो जाने पर

आप सोलह सिंगार किसे बतलाओगी ? आपके सिंगार एवं सौन्दर्य का अंधे पति के आगे कोई मूल्य न होगा। इसलिए कहता हूँ कि निःसंकोच भाव से सोच-समझकर निर्णय करो।

गांधारी फिर भी मौन ही । उसे मौन देख उसकी सखियों ने कहा—यह सब बातें इन्होंने सोच ली हैं।

राजकुमारी ने हमें सिखलाया है कि स्त्रियाँ स्वभावतः सिंगारप्रिय होती हैं लेकिन वो भी ऊपरी सिंगार ही करती है और भीतरी सिंगार नहीं करती उसके और वेश्या के सिंगार में क्या अन्तर है ? यह बात नहीं है कि कुलांगनाएँ ऊपरी सिंगार करती ही नहीं लेकिन उनके ऊपरी सिंगार का संबंध भीतरी सिंगार के साथ होता है। कदाचित् उनका ऊपरी सिंगार छिन भी जाय तो भी वह अपना भाव-सिंगार कभी नहीं छिनने देतीं ।

राजकुमारी कहती हैं—मैं अंधे पति की सेवा करके यह बतला दूंगी की पति और परमात्मा की उपासना कैसे होती है ?

गांधारी के उच्च भावनाओं से भरे विचार सुनकर पुरोहित दंग रह गया। उसने गांधारी की सखियों से कहा—राजकुमारी कैसे भी उच्च विचारों में गई हों परन्तु तुम्हारी बुद्धि कहाँ गई है ? तुम तो भोली हो आखिर तो दासी ही ठहरी न !

दासियाँ कहने लगीं—पुरोहितजी आप भोली और दासी भले कहिए, पर हम दासी हैं भी तो ऐसे उत्तम विचार वाली राजकुमारी की दासी हैं। राजकुमारी सरस्वती का अवतार हैं तो हम इनकी पुजारिनें हैं। हम तो इन्हीं की मति -मार्गेणी !

जो सिंगार इनका है, वही हमारा भी है। जब यह अंधे पति को स्वेच्छा से स्वीकार करती हैं तो हम क्या कहें! हम तो इनकी सेविकाएँ हैं।

महाभारत में कहा है कि अंधा पति मिलने से गांधारी ने अपनी आँखों पर पट्टी बाँध ली थी। लेकिन यह कल्पना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से उनके सेवा-व्रत में कमी आ जाती है। हाँ, विषय-वासना से बचने के लिए अगर कोई आँखों पर पट्टी बाँधे तो उसे बुरा भी नहीं कहा जा सकता। लेकिन गांधारी जैसी सती के विषय में यह कल्पना घटित नहीं होगी। अगर आँखों पर पट्टी बाँधने का अर्थ यह हो कि वह जगत् के सौन्दर्य से विमुख हो गई थी—सौन्दर्य के आकर्षण को उसने जीत लिया था तो पट्टी बाँधने की कल्पना मानी जा सकती है।

अन्त में पुरोहित ने कहा—तो राजकुमारी का यही अभिमत है जो उनकी सखियाँ कहती हैं?

गांधारी—पुरोहितजी, सखियाँ अन्यथा क्यों कहेंगी? आप पिताजी को सूचना दे सकते हैं।

पहले-पहल गांधारी के सामने समस्या उपस्थित हुई कि अन्धे के साथ विवाह करना उचित है या नहीं? मगर गांधारी शीघ्र ही निर्णय पर पहुँच गई। कैसा भी कठिन प्रसंग क्यों न हो, धर्म का स्मरण करने से कठिनाई दूर हो जाएगी। धर्म और पाप की संक्षिप्त व्याख्या यही है कि स्वार्थत्याग धर्म है और स्वार्थ-साधन की लालसा पाप है।

गांधारी ने स्वार्थ त्याग किया। गांधारी-जैसी सती का चरित्र भारत में ही मिल सकता है, दूसरे देश में मिलना कठिन है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि अमेरिका जैसे सभ्य गिने जाने वाले देश में १८ प्रतिशत विवाह सम्बन्ध टूट जाते हैं—तलाक हो जाती है। भारतवर्ष में पतन की अवस्था में भी यह बात नहीं है।

गांधारी में अपनी मातृभूमि के प्रति भी आदर्श प्रेम था। अन्धे पति का वरण करने में उसका एक उद्देश्य यह भी था कि इससे मेरी मातृभूमि का कष्ट मिट जायगा। मातृभूमि की भलाई के लिए उसका इतना त्याग करना अपना कर्त्तव्य समझा। उसने सोचा—अन्धे धृतराष्ट्र के साथ विवाह कर लेने से [illegible] और मेरी मातृभूमि की रक्षा भी होगी तो ऐसा करने में क्या हर्ज है?

सांसारिक दृष्टि से देखा जाय तो अन्धे के साथ विवाह करने में कितना कष्ट है! अन्धा पति होने से सिंगार व्यर्थ होता है और सिंगार की भावना पर विजय प्राप्त करनी पड़ती है। मगर गांधारी ने प्रसन्नतापूर्वक यह सब स्वीकार कर लिया।

अन्त में धृतराष्ट्र के साथ गांधारी का विवाह हो गया। गांधारी धृतराष्ट्र की पत्नी बनकर हस्तिनापुर आई।

२—राजमती का पतिप्रेम

भारत की स्त्रियों का रहन-सहन और उनकी संस्कृति प्राचीनकाल से ही अन्य देशों के रहन-सहन और वहाँ की संस्कृति

से भिन्न रही है। यह भिन्नता आज भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। भारत की स्त्रियाँ सदा उच्च आध्यात्मिक आदर्श को सामने रखती आई हैं। सीता, मदनरेखा, दमयन्ती, द्रौपदी आदि के चरित्र को, भारत की स्त्रियाँ बड़े आदर से देखती हैं। अपने लिए आदर्श मानती हैं और उनके चरित्र को अपनी जाति के लिए गौरवपूर्ण समझती हैं। यद्यपि पाश्चात्य देशों का अनुकरण करने के लिए भारत की स्त्रियाँ भी विवाह-सम्बन्ध-विच्छेद तथा पुनर्विवाह आदि कानूनों की मांग करने लगी हैं, परन्तु यह माँग कुछ ही अंग्रेजी शिक्षा से प्रभावित स्त्रियों की है, भारत की अधिकाश स्त्रियाँ तो इस प्रकार के कानूनों की माँग की भावना को हृदय में स्थान देना ही पाप समझती हैं। जिन स्त्रियों का ओर से इस प्रकार की माँग हुई उसमें से भी बहुत-सी अब यह समझने लगी हैं कि इस प्रकार के कानूनों का परिणाम कैसा बुरा होता है तथा भारतीय सस्कृति के मिटाने से कैसी हानि होगी। जिन देशों में विवाह-विच्छेद कानून प्रचलित है, उन देशों के पति-पत्नी आज दाम्पत्य-जीवन की ओर से कैसे दु खी हो रहे हैं, वहाँ दुराचार का कैसा ताण्डव होता है, यह कहा नहीं जा सकता। केवल इंग्लेन्ड में और वह भी घरेलू झगड़ों के प्रतिवर्ष १५ हजार पत्नियाँ पतियों को छोड़ देती हैं और ३५०० पति पत्नी को निश्चित अलाउन्स न दे सकने के कारण जेल जाते हैं।

भारत में कोई स्त्री ऐसी शायद ही निकले, जो सीता, दमयन्ती आदि सतियों का नाम न जानती हो, उनके चरित्र से यत्किंचित् भी परिचित न हो या उनके चरित्र को आदर की दृष्टि से न देखती हो। सीता और दमयन्ती जैसी स्त्रियाँ भारत में ही

हुई हैं, जो उसके कड़ पचने और पति द्वारा त्यागी जाने पर भी पति-परायणा ही रहीं।

सीता मदनरेखा दमयन्ती आदि जितनी भी पतिव्रता और पति-परायणा स्त्रियाँ प्राचीनकाल में हुई हैं, राजमती उन सबसे बढ़कर है। सीता आदि और सतियों का अपने पति द्वारा पाणिग्रहण हो चुका था। वे थोड़ा बहुत पति-सुख भोग चुकी थीं और इस कारण यदि वे पतिव्रता न रहती तो उनके लिए लोकापवाद अवश्यम्भावी था। लेकिन राजमती के लिए इनमें से कोई बात नहीं थी। राजमती का तो भगवान् अरिष्ट नेमि के साथ विवाह भी नहीं हुआ था और भगवान् के लौट जाने के पश्चात् यदि वह किसी के साथ अपना विवाह करती तो कोई उसकी निन्दा भी नहीं कर सकता था। लेकिन नीति के अनुसार विवाह नहीं हुआ था इसलिए राजमती भगवान् अरिष्टनेमि की स्त्री नहीं बनी थी। फिर भी राजमती ने भगवान् अरिष्टनेमि को अपना पति मानकर उत्कृष्ट पति-प्रेम का जो परिचय दिया उसके कारण राजमति भारत की समस्त सती स्त्रियों में अग्रणी मानी जाती हैं। राजमती के सतीत्व का उच्च आदर्श भारत के सिवा किसी देश वालों की कल्पना में भी आना कठिन है।

भगवान् अरिष्टनेमि तोरण-द्वार पर से लौट आये। भगवान् अरिष्टनेमि विवाह किये बिना ही लौट गये।

इसी प्रकार भगवान् के उपदेश से प्रभावित उग्रसेन ने जब यह सुना तो राजमती का विवाह किसी दूसरे के साथ करने का विचार किया। अपनी पत्नी सहित वे राजमती को सम-

माने और किसी दूसरे पुरुष के साथ विवाह करने की स्वीकृति लेने के लिए राजमती के पास आये। वे राजमती से कहने लगे—'पुत्री, तू अरिष्टनेमि के लिए इतना दुःख क्यों कर रही है! अभी अरिष्टनेमि का और तेरा सम्बन्ध ही क्या हुआ था! विवाह तो हुआ ही नहीं था, जो तू किसी प्रकार की चिन्ता करनी पड़े! तू अभी कुमारी है। तेरा विवाह दूसरी करने में नीति, धर्म या समाज किसी का भी अपवाद नहीं है। यद्यपि हम पहले तेरा विवाह अरिष्टनेमि के साथ ही करना चाहते थे, लेकिन हमने सुन रक्खा था कि अरिष्टनेमि विवाह करना नहीं चाहते हैं, इससे हमने इस विषय में कोई विचार नहीं किया था। फिर जब कृष्ण स्वय ही आये और उन्होंने मुझसे अरिष्टनेमि के लिए तेरी याचना की, तभी मैंने यह विवाह-सम्बन्ध स्वीकार किया था। इतना होने पर भी अरिष्टनेमि चले गये तो इससे अपनी क्या हानि हुई? यह तो उसके पिता, भ्राता आदि का ही अपमान हुआ, जिन्होंने मुझसे तेरी याचना की और जो बरात सजाकर आये थे। एक तरह से अच्छा ही हुआ कि अरिष्टनेमि तेरे साथ विवाह किये बिना ही लौट गये। यदि विवाह हो जाता और फिर वह तुझे त्याग जाते या दीक्षा ले लेते तो जन्म भर दुःख रहता। अब तू अरिष्टनेमि के लिए किंचित् भी दुःख या चिन्ता मत कर। हम तेरा विवाह किसी दूसरे राजा या राजकुमार के साथ कर देंगे।'

माता की अन्तिम बात सुनकर राजमती को बड़ा ही दुःख हुआ, वह अपने माता-पिता से कहने लगी—पूज्य पिताजी! आर्यपुत्री का विवाह एक ही बार होता है, दो बार नहीं होता। चाहे वह पति द्वारा परित्याग कर दी गई हो या विधवा हो गई

हा। आर्य-पुत्री स्वप्न में भी दूसरे पुरुष को नहीं चाहती। मेरा विवाह एक बार हो चुका है, अतः अब मैं दूसरा विवाह कैसे कर सकती हूँ? और आपकी दूसरा विवाह करने की सम्मति भी कैसे उचित हो सकती है?

माता—हम दूसरा विवाह करने को कब कह रहे हैं? क्या हम आर्य-पद्धति से अपरिचित हैं?

राजमती—फिर आप क्या कह रही हैं? यदि अब मेरा किसी दूसरे पुरुष के साथ विवाह हुआ, तो क्या वह पुनर्विवाह न माना जायेगा?

माता—नहीं।

राजमती—क्यों?

माता—इसलिए कि अभी तेरा विवाह नहीं हुआ है।

राजमती—आप भ्रम में हैं, मेरा विवाह हो चुका है।

माता—किसके साथ?

राजमती—भगवान् अरिष्टनेमि के साथ।

माता—समझ में नहीं आता कि तू यह क्या कह रही है। अरिष्टनेमि अपने घर तक भी नहीं आये उन्होंने तुझ को और तूने उनको अभी भाँति देखा भी नहीं, हमने कन्या-दान करके तेरा हाथ भी उन्हें नहीं सौंपा और तू कहती है कि विवाह हो गया!

राजमती—वे यहाँ तक नहीं आये, या आपने मेरा हाथ उनके हाथ में नहीं सौंपा, तो इससे क्या हुआ? क्या विवाह के लिए ऐसा होना आवश्यक है?

माता—आवश्यक क्यों नहीं है?

राजमती—नहीं माता, आवश्यक नहीं है। यह तो एक बाह्य क्रिया है जिसका होना न होना इच्छा और परिस्थिति पर निर्भ   ।

माता—फिर विवाह का अर्थ क्या होगा?

राजमती—हृदय से किसी को पति रूप, या पत्नी रूप स्वीकार करना, यही विवाह है। विवाह के इस अर्थ से, ससार का कोई भी व्यक्ति, इन्कार नहीं कर सकता, और इसी अर्थ को लेकर मैं कह रही हूँ, कि मेरा विवाह भगवान् अरिष्ट-नेमि के साथ हो चुका। मैं, भगवान् अरिष्टनेमि को हृदय से पति रूप स्वीकार कर चुकी हूँ, अत अब मैं किसी और पुरुष के साथ विवाह करके, आर्य-कन्या के कर्तव्य को दूषण नहीं लगा सकती।

माता—राजमती, तू विवाह का जो अर्थ लगा रही है, उससे हम इन्कार नहीं करते, लेकिन हृदयगत भावों को संसार के सभी लोग नहीं जान सकते। इसलिए विवाह-सम्बन्धी स्थूल-क्रिया का होना आवश्यक है और जब तक वह न हो जावे, कोई पुरुष, या स्त्री, विवाह-बन्धन से बद्ध नहीं मानी जा सकती।

हो। आर्य-पुत्री स्वप्न में भी दूसरे पुरुष को नहीं चाहती। मेरा विवाह एक बार हो चुका है, अतः अब मैं दूसरा विवाह कैसे कर सकती हूँ? और आपकी दूसरा विवाह करने की सम्मति भी कैसे उचित हो सकती है?

माता—हम दूसरा विवाह करने को कब कह रहे हैं? क्या हम आर्य-पद्धति से अपरिचित हैं।

राजमती—फिर आप क्या कह रही हैं? यदि अब मेरा किसी दूसरे पुरुष के साथ विवाह हुआ, तो क्या वह पुनर्विवाह न माना जावेगा?

माता—नहीं।

राजमती—क्यों?

माता—इसलिए कि अभी तेरा विवाह नहीं हुआ है।

राजमती—आप भ्रम में हैं, मेरा विवाह हो चुका है।

माता—किसके साथ?

राजमती—भगवान् अरिष्टनेमि के साथ।

माता—समझ में नहीं आता कि तू यह क्या कह रही है। अरिष्टनेमि अपने घर तक भी नहीं आये, उन्होंने तुम को और तूने उनको भली भाँति देखा भी नहीं, हमने कन्या-दान करके तेरा हाथ भी उन्हें नहीं सौंपा, और तू कहती है कि विवाह हो गया।

राजमती—वे यहाँ तक नहीं आये, या आपने मेरा हाथ उनके हाथ में नहीं सौंपा, तो इससे क्या हुआ ? क्या विवाह के लिए ऐसा होना आवश्यक है ?

माता—आवश्यक क्यों नहीं है ?

राजमती—नहीं माता, आवश्यक नहीं है। यह तो एक बाह्य क्रिया है जिसका होना न होना इच्छा और परिस्थिति पर निर्भ ।

माता—फिर विवाह का अर्थ क्या होगा ?

राजमती—हृदय से किसी को पति रूप, या पत्नी रूप स्वीकार करना, यही विवाह है। विवाह के इस अर्थ से, ससार का कोई भी व्यक्ति, इन्कार नहीं कर सकता, और इसी अर्थ को लेकर मैं कह रही हूँ, कि मेरा विवाह भगवान् अरिष्टनेमि के साथ हो चुका। मैं, भगवान् अरिष्टनेमि को हृदय से पति रूप स्वीकार कर चुकी हूँ, अत अब मैं किसी और पुरुष के साथ विवाह करके, आर्य-कन्या के कर्तव्य को दूषण नहीं लगा सकती।

माता—राजमती, तू विवाह का जो अर्थ लगा रही है, उससे हम इन्कार नहीं करते, लेकिन हृदयगत भावों को संसार के सभी लोग नहीं जान सकते। इसलिए विवाह-सम्बन्धी स्थूल क्रिया का होना आवश्यक है और जब तक वह न हो जावे, कोई पुरुष, या स्त्री, विवाह-बन्धन से बद्ध नहीं मानी जा सकती।

राजमती—कोई दूसरा मुझे विवाह-सम्बन्ध में बद्ध माने या न माने मैं तो अपने को ऐसा मानती हूँ। विवाह सम्बन्धी स्थूल क्रिया देखने की आवश्यकता तो तब है, जब मैं अपने हृदय के भावों को छिपाऊँ। विवाह-सम्बन्धी स्थूल क्रिया भी हृदय के आश्रित है। केवल विवाह ही नहीं समस्त कार्य का मूल हृदय है। जिस बात को हृदय एक बार स्वीकार कर चुका है, केवल सांसारिक विषय-सुख के लिए उससे मुकरना, और विवाह-सम्बन्धी स्थूल क्रिया न होने का बहाना लेना, कम से कम मैं उचित नहीं समझती।

माता—तू चाहे विवाह-क्रिया को न मान, लेकिन संसार तो मानता है न! यदि तू अभी किसी से यह कहे कि मैं अरिष्टनेमि की पत्नी हूँ तो क्या संसार के लोग इस बात को मानेंगे! और तो और क्या स्वयं अरिष्टनेमि ही यह स्वीकार करेंगे कि राजमती मेरी पत्नी है?

राजमती—माता! भगवान् अरिष्टनेमि को मैंने पति माना है इसलिए मैं अपने को विवाह-सम्बन्ध में बँधी हुई और भगवान् अरिष्टनेमि की पत्नी ही मानूँगी। मैं यह नहीं कहती, कि भगवान् अरिष्टनेमि ने भी मुझे पत्नी रूप में स्वीकार किया है, और इसलिए वे विवाह-सम्बन्ध में बँधे हुए हैं। कदाचित् उन्होंने हृदय से मुझे पत्नी माना भी हो तब भी वे, विवाह सम्बन्ध में न बँधा हुआ मान सकते हैं, लेकिन मैं ऐसा क्यों मानूँ! मेरा हृदय जैसा पहले था वैसा ही अब है। जैसा पहले भगवान् अरिष्टनेमि को अपना स्वामी मानती थी, वैसा ही अब मानती हूँ। फिर मैं, स्थूल क्रिया क्यों देखूँ!

माता—देख राजमती, तू उतावली बनकर अपने लिये इस प्रकार का निर्णय मत कर। काम-विकार की प्रचण्ड तरंगों में, बड़े-बड़े बह जाते हैं, तो तू तो अभी लड़की है।

राजमती—माता, आपका यह कथन ठीक है। काम के सामने, बड़ों २ को नतमस्तक होना पड़ता है, यह मैं मानती हूँ। लेकिन यदि मेरे विवाह की स्थूल-क्रिया हो गई होती, और मैं, वह क्रिया होते ही विधवा हो जाती, तो क्या उस दशा में, काम मुझ पर प्रकोप न करता? यदि करता, तो उस काम प्रकोप से बचने के लिए आप मुझे क्या सम्मति देतीं? क्या उस दशा में, आप मुझे दूसरा विवाह करने को कहतीं? उस समय तो आप भी, मुझे धैर्य रखने का ही उपदेश देतीं। जो कार्य में स्थूल क्रिया से विवश होकर करती, वही कार्य हृदय की प्रेरणा से क्यों न करूँ? ससार के लोग बुद्धिमान् हैं, इसीसे वे, स्थूल-क्रिया न होने के कारण दूसरा विवाह करना अनुचित न मानते होंगे, परन्तु मुझमें इस प्रकार का विचार करने की बुद्धि ही नहीं है। मैं तो अपनी बुद्धि भी उन्हीं के समर्पण कर चुकी हूँ, जिन्हें मैंने हृदय से पति माना है।

राजमती का अन्तिम उत्तर सुनकर, उसके माता-पिता, राजमती का विवाह करने की ओर से हताश हो गये। उन्होंने, राजमती से अधिक कुछ कहना सुनना अनावश्यक समझा, और राजमती से यह कह कर वहां से चले गये, कि तू इस विषय पर शान्ति से विचार कर। उन्होंने, राजमती की सखियों से भी कहा, कि तुम लोग, राजमती को सब बातों का ध्यान, दिलाकर समझाओ। इस प्रकार हठ पकड़ने का परिणाम, इसके लिए अच्छा न होगा।

राजमती के माता-पिता के चले जाने के पश्चात् राजमती की सखियाँ राजमती को समझाने लगीं। वे कहने लगीं—सखी, संसार में कोई भी मनुष्य, सुख को दुःख से बदलना नहीं चाहता न कोई भी आदमी अपने को बलात् दुःख में डालता है। यह बात दूसरी है कि विवश होकर दुःख सहना पड़े परन्तु प्रयत्न सुख प्राप्ति का ही करते हैं। फिर आप अपने लिए दुःख क्यों मोल ले रही हैं? जब आपका विवाह अभी हो सकता है, तब इस शुभ-सुयोग को क्यों ठुकरा रही हैं? महाराज और महारानी ने आपसे जो कुछ कहा है उस पर भली प्रकार विचार करो और विवाह का शुभावसर न जाने दो। अन्यथा फिर पश्चाताप करना पड़ेगा।

सखियों की बातें सुनकर राजमती कहने लगी—सखियो! मुझ बुद्धिहीना की समझ में, तुम लोगों की बातें जरा भी नहीं आतीं। मैं विचार करने बैठती हूँ, तब भी मेरे विचार में भगवान् अरिष्टनेमि के सिवा, और किसी का ध्यान तक नहीं आता। सच्ची बात तो यह है कि अब मेरे में या तो बुद्धि ही नहीं रही या वह परतन्त्र बन गई है। बुद्धि पर भी भगवान् अरिष्टनेमि का आधिपत्य हो गया है। मैं तो बिलकुल वह विक्षिप्त हूँ, जिसे केवल भगवान् अरिष्टनेमि की ही धुन है। हृदय कहता है, कि इस जन्म के लिए तो तू भगवान् अरिष्टनेमि को अपना पति बना चुकी है। अब तुझे दूसरा-पति बनाने का अधिकार नहीं है। हाँ मस्तक दूसरा पति बनाने के विषय में विचार कर सकता था परन्तु हृदय ने, उसे भी अपने प्रभाव से प्रभावित कर लिया। ऐसी दशा में तुम्हारी बात मेरी समझ में आवे तो कैसे! सखियो इस प्रकार की बातें करके मुझ दुःखिनी के हृदय को और दुःखित न करो। मेरे लिए पति का विरह ही

असह्य हो रहा है। मेरे लिए एक एक दिन, वर्ष के समान बीतता है, और एक एक रात, युग के समान बीतती है। मेरा हृदय प्राणनाथ के वियोग से जल रहा है। उस जलते हुए हृदय पर तुम इस तरह की बातें करके नमक मत लगाओ। कहा तो मैं सोचती थी कि विवाह होते ही मैं पति के साथ आनन्द पूर्वक सुख-भोग करूँगी, आगामी शरद्काल की स्वच्छ निर्मल रात पति के साथ सुख पूर्वक बिताऊँगी और चकोरी की तरह पति के चन्द्रमुख को देखकर आनन्दित होऊँगी, लेकिन कहां तक विरह वेदना सहनी पड़ रही है! सखियों का कर्त्तव्य ऐसे समय में मुझे विरह-वेदना से मुक्त करने का प्रयत्न करना तथा धैर्य देना है, लेकिन आप लोग तो ऐसी बातें करती हो कि जिससे मेरा दु:ख वृद्धि पाता है। सखियो, इसमें तुम्हारा किंचित् भी अपराध नहीं है। यह तो मेरे पूर्व पापों का ही कारण है। यदि ऐसा न होता तो प्राणनाथ मुझे विरह-ज्वाला में जलने के लिए छोड़ कर ही क्यों चले जाते और आप भी सखियों के योग्य कर्त्तव्य को क्यों भूलतीं? फिर भी मैं तुमसे यह अनुरोध करती हूँ कि इस प्रकार की बातें करके मुझे कष्ट मत पहुँचाओ। भगवान् के सिवा समार के और समस्त पुरुषों को पिता भ्राता के समान मानती हूँ। मेरे पति तो भगवान् ही हैं। मैं उन्हीं के नाम पर अपना जीवन बिताऊँगी।

सखियो, तुम मुझे यह भय दिखाया करती हो कि किसी दूसरे के साथ विवाह न करने पर, जब काम का प्रकोप होगा तब दु:ख पाओगी, लेकिन क्या काम मुझ अबला को ही कष्ट देगा? पति को कष्ट न देगा? पति ने, मुझे त्यागकर किसी दूसरी का पाणिग्रहण तो किया ही नहीं है, जो उसके कारण पति

को काम-पीड़ा न हो और मुझे ही हो। जिस स्थिति में पति है उसी स्थिति में मैं हूँ। जब वे काम से होने वाले कष्ट सहेंगे तो मैं क्या सहूँ। मैं कष्ट कष्टों से भय खा कर अपने विचार से पतित क्यों हो जाऊँ! स्त्री का कर्त्तव्य पति का अनुगमन करना है, अतः जिस प्रकार पति कष्ट सहें, उसी प्रकार मुझे भी कष्ट सहने चाहिए और यदि पति, काम पर विजय प्राप्त करें, तो मुझे भी वैसा ही करना चाहिए। इसलिए तुम लोग मुझे इस प्रकार का भय न दिखाओ किन्तु पति का अनुसरण करने की ही शिक्षा दो।

राजमती की बातों से, सखियाँ चुप हो गईं। उन्होंने फिर भी, राजमती को समझाने और विवाह करना स्वीकार करने के लिए बहुत प्रयत्न किया परन्तु उनका सब प्रयत्न निष्फल हुआ। राजमती भगवान अरिष्टनेमि के प्रेम में ऐसी रंग गई थी कि अब उस पर किसी की बातों से कोई दूसरा रंग चढ़ता ही न था।